

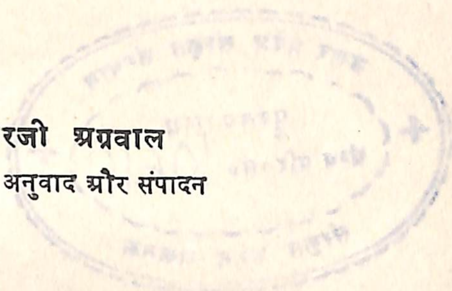
आधुनिक नाटक का अन्वेषण

कुछ पश्चिमी दस्तावेज

• कुंवरजी अग्रवाल

आधुनिक नाटक का अन्वेषण

कुछ पश्चिमी दस्तावेज



कुंवरजी अग्रवाल

संकलन, अनुवाद और संपादन

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना मद्रास

812
कु / आ

© मोतीलाल बनारसीदास

मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
शाखाएँ : चौक, वाराणसी २२१ ००१
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
६ अप्पर स्वामी कोइल स्ट्रीट, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४

प्रथम संस्करण : १९८६

मूल्य : रु० ६०

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५, फेज-१, नारायणा, नई दिल्ली २८ द्वारा मुद्रित।

सुतपा के लिए

अनुक्रम

भूमिका

नाट्य मानव की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की अत्यंत प्राचीन काल से क्रियाशील संस्था है और उसके सांस्कृतिक विकास-परिवर्तनों के साथ वह भी विकसित परिवर्तित होती गई है। विश्व के भूगोल में मानवों के अलग-थलग ऐतिहासिक विकास और फिर इसके विभिन्न स्तरों पर मानव-समुदायों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं ने नाट्य की अनेक बहुविध रूप-संरचनाएँ विकसित कीं। इसीलिए आज हमें विश्वभर में नाट्य की अनेक राष्ट्रीय और सामुदायिक परंपराएं उपलब्ध होती हैं।

इन्हीं परंपराओं में से एक योरोप की नाट्यपरंपरा है जिसका विकास आज से लगभग तीन हजार साल पहले यूनान में शुरु हुआ। तब से आज तक योरोपीय संस्कृति में नाट्य का एक बड़ा ही लम्बा और क्रमिक विकास हुआ और अभी होता जा रहा है। जाहिर है, मध्यकाल तक तो और सब चीजों की तरह नाट्य का भी विकास धीमा ही रहा; लेकिन आधुनिक युग में खास, तौर से १९वीं शताब्दी से, योरोपीय नाट्य की अवधारणा और व्यवहार में परिवर्तन की गति तीव्रतर होती गई। इसी वक्त के आसपास योरोप के अनेक देशों ने दुनिया के दूसरे महाद्वीपों के बहुत सारे देशों को अपना राजनीतिक और व्यापारिक उपनिवेश बनाना शुरु कर दिया। फलस्वरूप ये देश विजित मनोवृत्ति के तहत योरोपीय संस्कृति को अपनाने के लिए कमोबेश मजबूर से हो गए। इसी प्रक्रिया में भारत में भी योरोपीय औपनिवेशिक असर से नाट्य की एक नई शुरुआत हुई। जाहिर है, यह नई शुरुआत बिल्कुल योरोपीय ढाँचे पर ही हुई। हालाँकि भारत के हजारों वर्ष पुराने पारंपरिक नाट्य का असर भी उसपर कमोबेश बराबर ही बना रहा। लेकिन दो महान नाट्यपरंपराओं की इस मुठभेड़ ने ज्यादा दूर तक कोई सर्जनात्मक सार्थक समन्वय का रास्ता नहीं अख्तियार किया। इसके बहुत से कारण खोजे जा सकते हैं; लेकिन मोटे तौर से जो सबसे बड़ी वजह साफ नजर आती है वह भारतीयों की पराजित मनोवृत्ति के तहत अपनी नाट्यपरंपरा को हीन और अविकसित मानकर आयातित योरोपीय नाट्य की सपाट नकल की कोशिश है। इस कोशिश के बावजूद भी अगर भारतीय, पारंपरिक नाट्य के कुछ तत्व उसमें जबरदस्ती घुस गए तो इसलिए कि नाट्य, या फिर कोई भी कला पूरी तरह अजनबी तौर से किसी मानवसमुदाय पर लादी नहीं जा सकती। किसी मानव-समुदाय द्वारा हजारों साल में विकसित सांस्कृतिक आदतों से बिल्कुल कट कर कोई अजनबी कला उस माहौल में एक

लम्हा भी जिंदा नहीं रह सकती। लेकिन समन्वय की गहरी सर्जनात्मक प्रवृत्ति के अभाव में भारत में ये तत्व अक्सर अलग-थलग पैबंद की तरह चिपक कर रह गए। इसके अलावा औपनिवेशिक युग की शुरुआत में योरोपीय नाट्य का जो रूप भारत आया वह योरोप का सबसे अनुर्वर और एक तरह से पतनशील नाट्य था। भारत में तिजारती स्वार्थों से जुड़कर वही रूप यहां की फिजा पर छा गया और लगभग पूरे औपनिवेशिक युग तक टिका बैठा रहा। लेकिन इस बीच योरोपीय नाट्य में वहां की सांस्कृतिक जरूरतों के मुताबिक वैचारिक और सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से बड़े-बड़े और लगातार परिवर्तन होते रहे। इन बदलावों की एक बहुत बड़ी खासियत यह भी है कि योरोप ऐसी बहुत सी नाट्य-अवधारणाओं को अपनाता जा रहा है जो उसकी अपनी ही परंपराओं से दूर और भारत और दूसरे पूर्वी देशों के ज्यादा करीब हैं।

आजादी मिलने के बाद नाट्य से सरोकार रखने वाले लोगों की नजर योरोपीय नाट्य की इस नई समृद्धि की ओर उठी और वहां की आधुनिक नाट्यप्रस्तुतियों और नाटकलेखन की अनेक प्रवृत्तियों के अनुकरण शुरु हुए। लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर ऐसी सारी कोशिशों में भी वही अजनबीपन बरकरार रहा और जल्दी ही लोगों को इस बात का पूरी तरह अहसास हो गया कि भारतीय नाट्य को सार्थक होने के लिए उसे अपनी परंपरा से जोड़ना होगा। अब नाट्य-कर्मियों और कुछ हद तक नाटकलेखकों का भी ध्यान भारत की विशाल भूमि पर फैले पारंपरिक नाट्य के विविध रूपों पर गया और उनकी कुछ शैलीगत विशेषताओं, रूढ़ियों, अभिप्रायों आदि को नाटकलेखन और प्रस्तुतियों के स्तरों पर अपनाया जाने लगा। लेकिन इनमें भी ज्यादातर कोई आंतरिक सर्जनात्मक संगति स्थापित न हो सकी और यह 'इंडियननेस' [भारतीयपन] विदेशी प्रेक्षकों के लिए चाहे जो हो, भारतीय दर्शकों को उतनी ही अजनबी और ओढ़ी हुई लगी।

दरअसल अपनी ही परंपराओं की सही पहचान उतनी आसान नहीं जितना अक्सर समझ लिया जाता है। निकट परिचय की परंपरा दृष्टि को बहुत से अनावश्यक विवरणों-तफसीलों में उलझा लेती है और उसके मूल तत्वों पर नजर जम नहीं पाती। नतीजा यह होता है कि नाट्यप्रयोक्ता या नाटकलेखक पारंपरिक नाट्य की कुछ ऐसी रूढ़ियों या व्यवहारों को, उनकी संपूर्ण अवधारणा से काटकर, इस्तेमाल करना चाहता है जो उसकी बंधी बंधाई अवधारणा के हिसाब से दिलचस्प लगती हैं और उसकी कृति की सजावट के काम आ सकती हैं।

सच पूछिए तो किसी मानवसमुदाय की प्रगति को उसकी परंपराओं से जोड़ने का सवाल बेहद पेचीदा और खतरों से भरा है। परंपरा का स्वतः सहज विकास एक बात है और किन्हीं कारणों से उसकी कड़ी टूट जाने पर, एक अंतराल के बाद उसे खोजकर पुनः स्थापित करने की कोशिश बिल्कुल दूसरी

बात। ऐसी कोशिशों में पुनरुत्थानवाद, विद्वत्तावाद या किसी किस्म की फैशनपरस्ती का दानव कला की समकालीन प्रासंगिकता को निगलने के लिए अक्सर मुंह बाए खड़ा रहता है। किसी कलापरंपरा के जीवित, सार्थक और सार्विक तत्वों की खोज और फिर उनका ऐसा सर्जनात्मक इस्तेमाल कि मानव बेहतर जिंदगी की ओर अग्रसर हो सके, कलाकारों से बड़ी कड़ी मांग करता है।

उतनी ही भ्रामक और भटकाने वाली अवधारणा यह है कि योरोप और अमेरिका के अतिविकसित राष्ट्रों की नवीनतम कलाप्रवृत्तियां मानव के कला-इतिहास के अग्रतम सोपान हैं। कला के संदर्भ में विकास की अवधारणा ठीक उस तरह प्रासंगिक और सार्विक नहीं जिस तरह विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में। कला के विकास को मानवसमुदाय के सिर्फ उस परिक्षेत्र के संदर्भ में मापा जा सकता है जिसके लिए उसका सर्जन किया जा रहा है। कला की तकनीकी की सार्थकता उसके रेखीय क्रमिक विकास में निहित न रहकर संपूर्ण मानवमूल्यों के अधिकतम विस्तार की उसकी क्षमता की अभिवृद्धि में निहित होती है। और इसके लिए देश और काल में दूर दूर तक फैली हुई हजारों हजार कला-परंपराओं में से कहीं से कुछ भी लेना श्रेष्ठ सर्जनात्मक कार्य है।

आम धारणा [विद्वानों के बीच भी] यह है कि नाट्य पिछले पाँच हजार वर्षों में लगातार विकास करता गया है और उसकी हर मंजिल अपनी पिछली मंजिलों से आगे होती गई है। रंगमंच और प्रस्तुति के दूसरे उपकरणों की कलात्मक क्षमता में बराबर निखार आता गया है। इस तरह दिन की रोशनी की तुलना में बिजली के आधुनिकतम उपकरणों की सहायता से किया गया मंचप्रकाश श्रेष्ठतर है; सादे चबूतरे से प्रोसिनियम-रंगमंच उत्तम है, और प्रोसिनियम से बाक्स, बाक्स से त्रिआयायामात्मक; स्थिर रंगमंच से गतिशील-चक्रिल, वैगन आदि रंगमंच आगे बढ़ा है; पारंपरिक दृश्यविधान से यथार्थवादी श्रेष्ठ है और यथार्थ-वादी से प्रतीकात्मक, रूपात्मक, अमूर्त आदि आदि। इस तरह की समस्त अवधारणाएं कला की समृद्धि को तकनीकी की सपाट अकिंचनता से बांध देती हैं और नाट्यकलाकार तकनीशियनों के सामने बौना होता जाता है। अन्य किसी कला की तुलना में नाट्य इस खतरे का सबसे ज्यादा शिकार बना है। यह शुभ लक्षण है कि पिछले दो तीन दशकों से नाट्यकर्मी इस खतरे को बड़ी तेजी से भांप रहे हैं और अधिक मुक्त हो नाट्यप्रयोग कर रहे हैं।

हजारों वर्षों की अपनी लंबी यात्रा में नाट्य मानव के सांस्कृतिक बदलावों के साथ कदम मिलाए रखने की अपनी कोशिशों के दौरान अक्सर अपना संपूर्ण-रूपांतर करता रहा है। ये रूपांतर अपनी अपनी तरह से कमोबेश सारी दुनिया की अधिकांश नाट्यपरंपराओं में घटित हुए हैं। आदिम पाषाणयुग में नृत्यनाट्य न सिर्फ सामुदायिक अनुष्ठान था बल्कि धार्मिक अभिचार और जिंदगी की लड़ाई

की आवश्यक तैयारी भी था। और मनोरंजन तो वह था ही, लेकिन ऐसा जिसमें नाट्यकर्मी और दर्शकों को बांटने वाली किसी रेखा का कोई अस्तित्व नहीं था। बल्कि यों कहना चाहिए कि उस नाट्य का कोई निष्क्रिय दर्शक था ही नहीं। समुदाय के सभी सदस्य उसमें सक्रिय हिस्सा बँटाते थे बशर्ते वे किसी कारण अक्षम न हो गए हों।

कृषिप्रधान अनेक ग्रामीण समाजों में काफी हद तक आदिम नाट्य का सामुदायिक रूप बरकरार रहा; लेकिन उसका केंद्र शिकार और आखेट जीवन और यायावरी जरूरतें न रहकर कृषिजीवन और स्थायी निवास बन गया। अब जमीन की उर्बराशक्ति, फसलों की बुवाई और कटाई, मौसमों का परिवर्तन, जन्म, मृत्यु, विवाह आदि नृत्यनाट्य के प्रमुख अवसर और विषय बन गए। लेकिन ग्रामीण अर्थ-संरचना के हजारों वर्षों के लंबे विकासक्रम में जब धंधों का वर्गविभाजन होने लगा और एक एक समुदाय ने कृषि, शिल्प तथा सामाजिक कार्यों के उत्तरदायित्वों को अलग अलग ग्रहण किया तो उसी क्रम में धीरे धीरे किसी समय नाट्यकर्म करनेवाले लोगों का भी एक समुदाय अलग होने लगा और नाट्यकुशलता के वंशपरंपरागत प्रशिक्षण का अध्याय शुरु हुआ। इसी के साथ नाट्यकर्मी और नाट्यदर्शकों को अलगाने वाली रेखा भी मजबूत होने लगी। धीरे धीरे बड़े बड़े ग्रामसमूहों के बीच से नगरसभ्यता के केन्द्रों का उदय हुआ और यहां पेशेवर नाट्य-कर्मियों का और भी ज्यादा विकास हुआ। इसी बीच कभी धार्मिक पुरोहितवाद पैदा हुआ और उसके साथ भी नाट्य का एक रूप जुड़ा। इसी दौरान नाट्य में भाषा की भूमिका भी क्रमश: बढ़ती गई। अत्यन्त आरंभिक आदिम नृत्य-नाट्य में मानवध्वनियों का लयात्मक और अभिव्यंजनात्मक उपयोग बहुत कुछ पशुध्वनियों के स्तर पर ही होता था जिसकी अपनी संवेदन-संप्रेषणीयता थी। बिल्कुल दूसरे ही कारणों से आदिम नाट्य की इस खासियत को आज के अनेक नाट्यप्रयोक्ता अपनाने की कोशिश कर रहे हैं। धीरे धीरे नाट्य में विकसित भाषा के संवाद, गायन, वर्णन, सूचनाओं के प्रेषण आदि शामिल होते गये। लेकिन अभी तक यह सब सहज स्वाभाविक आशुसर्जना के रूप में नाट्यकर्मियों द्वारा ही संपादित होता था और उसका अधिकांश पारंपरिक रूप से दोहराया जाता था।

नाट्य में एक बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन की स्थिति तब आई जब भाषा अत्यंत विकसित हो गई और उसमें प्रभूत साहित्य रचा जाने लगा। इसी के साथ व्यवस्थित राज्यों और व्यापक शासनतंत्र का विकास हुआ जिसके तहत एक ऐसी आर्थिकव्यवस्था विकसित हुई जिसमें मानवसमुदाय का एक वर्ग सुविधाभोगी बन गया। इस वर्ग के पास भौतिक उपभोग, बौद्धिक क्रियाशीलता और जीवन के नए नए आनंद प्राप्त करने के लिए काफी वक्त था। इन्हें

सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत, अभिजात, कुलीन आदि कहा गया। इस वर्ग ने साहित्य, संगीत, नृत्य, नाट्य आदि कलाओं के विकास में काफी दिलचस्पी ली और उन्हें इस तरह नए रूपों में ढालने की लगातार कोशिशें की जिससे उन्हें उच्चस्तरीय आनंद मिल सके और उसके वर्गहितों की रक्षा की एक अग्रिम पंक्ति भी कायम हो सके। इस प्रक्रिया ने नाट्य के ऊपर दो बड़े जबरदस्त असर डाले। एक ओर तो नाट्यसर्जना के ब्योरों को निश्चित नियमों के रूप में ढालकर उन्हें संहितावद्ध किया गया, दूसरे नाट्य प्रस्तुति के लिए भाषायी अभिलेख तैयार करने की जिम्मेदारी अलग से कवि के ऊपर डाली गई और उसे नाटककार कहा गया। इस तरह नाट्य साहित्यिक और शास्त्रीय (क्लासिकी) बना। अब नाट्य का मतलब अपने कौशल में दक्ष नाटककार (कवि) द्वारा अत्यंत विकसित (साहित्यिक) भाषा में कलात्मकता से रचे गए आलेख (नाटक) की कुशल नाट्यकर्मियों द्वारा विदग्ध रसिकसमाज के बीच प्रस्तुति हो गया।

इस तरह के शास्त्रीय और साहित्यिक नाट्य के विकास की दो महान परंपराएं, कमोबेश समानांतर यूनान और भारत में घटित हुईं। लेकिन दोनों देशों की आर्थिक, सामाजिक संरचनाओं में काफी फर्क होने के कारण दोनों परंपराएं एक दूसरे से स्वतंत्र अलग अलग दिशाओं में विकसित हुईं। गुलामों के स्वामित्व और शिल्पगत वस्तुओं का उत्पादन करने वाली यूनानी समाज-व्यवस्था के अंतर्गत अथीनिया के नगरराज्य में दासस्वामियों के प्रजातंत्र को ऐसे नाटक की जरूरत थी जो गरीब नागरिकों, कारीगरों, किसान-मजदूरों के विशाल समुदाय में इस 'प्रजातंत्र' के प्रति आस्था और निष्ठा उत्पन्न कर सके। इन दास-स्वामियों के जीवनदर्शन को रूपायित करने वाले यूनानी नाटककार छोटे नागरिकों को यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि बड़े नागरिकों की तुलना में छोटे नागरिक बने रहना ज्यादा अच्छा है क्योंकि बड़े नागरिक न सिर्फ प्रजातंत्र के लिए खतरनाक हैं बल्कि वे स्वयं भी ऐसे 'अनैतिक संकट' के शिकार हो सकते हैं जिसका परिणाम पाप और दंड है और उससे उनका जीवन त्रासद हो जाता है। यूनानी प्रजातंत्र के नायकों के बीच शक्ति हथियाने के लिए परस्पर संघर्ष चला करता था जिससे कम से कम दो प्रतिस्पर्धी व्यक्तित्वों के बीच राजनीति, नैतिकता, धर्म या दर्शन आदि को लेकर द्वंद्व छिड़ जाता था। इसी से यूनानी नाटकों में संघर्ष को केंद्रीय महत्व प्राप्त हुआ। इसके अलावा यूनानी नाटक पंद्रह बीस हजार दर्शकों के बीच खुले आसमान के नीचे किया जाता था जिसने इसकी रूप-संरचना को बिल्कुल अलग ढंग से सँवारा।

भारत में क्लासिकी साहित्यिक नाट्य का विकास कलाविलासी संपन्न नागरिकों ने किया जिनमें उच्चशिक्षित राजन्य वर्ग के लोग, पंडित-पुरोहित, श्रेष्ठवर्ग और दूसरे धनाढ्य लोग शामिल थे। इनका नाट्य मुख्यतः अपने ही

समुदाय-समाज को संबोधित था इसलिए बहुत थोड़े से प्रेक्षकों के बीच खेला जाता था। इसमें धर्मसमर्थित काम-सौन्दर्य का अपूर्व लोक रूपायित होता था जिसमें संवेदनाओं और कलाकौशल तथा तकनीक की बारीकियां रहती थीं। इसके लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित नाट्यकर्मियों और नाटककारों को तो कठोर परिश्रम करना ही पड़ता था, नाट्यरसिकों से भी उसी प्रकार नाट्य-ज्ञान की अपेक्षा थी। इस तरह संस्कृत का क्लासिकी साहित्यिक नाट्य अभिजात रुचियों का नाट्य था जिसका विकास लगभग एक हजार वर्षों में भारत के सैकड़ों पारंपरिक सामुदायिक नाट्यों के विश्लेषण-संश्लेषण द्वारा होता रहा और जिसका चरमोत्कर्ष नाट्यशास्त्र और भास, कालिदास के नाटकों से गुजर कर गुप्तयुग में हुआ। इस नाट्य में संगीत नृत्य और काव्य की प्रधानता है और है रस की एक अपूर्व अवधारणा जो नाटकलेखक, नाट्यकर्मी और प्रेक्षक, तीनों को एक ही सर्जनात्मक प्रक्रिया से घनिष्ठतापूर्वक जोड़ देता है। भारत की विशाल नाट्यविविधताओं के बीच से एक केंद्रीय नाट्य के रूप में संस्कृत के जिस क्लासिकी नाट्य का विकास हुआ वह अपने चूड़ान्त पर पहुंचने के बाद फिर धीरे धीरे सैकड़ों भाषाओं, बोलियों, तथा रूढ़ियों के नाट्यों में बिखरने लगा और भारत नए सिरे से तरह तरह के क्षेत्रीय नाटकों से समृद्ध होने लगा। लेकिन इन सब में नाट्यशास्त्रीय सौंदर्यबोध की मूल अवधारणाएं रीढ की तरह मौजूद रहीं। भारत के सम्पूर्ण मध्यकाल में जनजीवन से जुड़ा हुआ यही पारंपरिक नाट्य अपना सर्जनात्मक जीवन जी रहा था जब औपनिवेशिक काल में योरोपीय नाट्य ने उसे ध्वस्त करने में कोई कोर कसर बाकी न रखी।

× × ×

आज भारतीय नाट्य और खास तौर से हिन्दी क्षेत्रों में नाट्य की पुनर्स्थापना की चुनौतियाँ बिल्कुल दूसरी ही हैं। आज की सबसे बड़ी चुनौती फिल्म, टेलीविजन और वीडियो के अतिव्यापक प्रसार और प्रतिद्वंद्विता के मुकाबले नाट्य की ऐसी नई सार्थकताएं ढूंढना है जो उसके अस्तित्व की अनिवार्य प्रासंगिकता सिद्ध कर सकें। नाट्य को यह कड़ी स्पर्धा पूरे विश्व में झेलनी पड़ रही है लेकिन हिन्दी क्षेत्रों में यह अपने शिखर पर है।

पश्चिमी देशों में नाट्य शुरु से, यूनानी जमाने से ही हजारों हजार दर्शकों के बीच अभिनीत होता रहा है और इस तरह अपना सार्वजनिक चरित्र निरतर विकसित करता गया। इसीलिए जब फिल्म आदि ने अति व्यापक स्तर पर जनसंपर्क शुरु किया तब भी उसे ऐसे संरक्षकों की उपलब्धता बनी रही जो अपने मनोरंजन की सांस्कृतिक आदतों में आसानी से परिवर्तन करने के लिए तैयार नहीं थे। इस तरह पश्चिम का नाट्य इन संरक्षकों और कुछ हद तक राज-

कीय सहायता से न सिर्फ अपनी अस्तित्वरक्षा करता रहा बल्कि फिल्म आदि से भिन्न अपने मौलिक क्षेत्रों को तलाशने की लगातार कोशिशें भी करता रहा। उसकी यह कोशिश आज भी पूरे जोर शोर से चल रही है। इस दिशा में उसने भारत और दूसरे पूर्वी देशों और अनेक आदिवासी कबीलों के नाट्यानुभवों से काफी फायदा उठाया। इसीलिए पिछले चार पांच दशकों में पश्चिमी नाट्य में हुए परिवर्तन कुछ दूर तक नाट्य की पुनर्स्थापना की हमारी कोशिशों को भी दिशासंकेत दे सकते हैं लेकिन इसके लिए भी हमें बेहद सावधानी और सूक्ष्मता के साथ अपनी परिस्थितियों और परिवेश का फर्क समझना होगा।

पश्चिम की तरह भारत में सार्वजनिक नाट्य की कोई मुकम्मल परंपरा नहीं थी। यह औपनिवेशिक काल में आयातित हुई और अपने सारे ग्लैमर के बावजूद महज बंगाल और महाराष्ट्र में फिल्मी आँधी को झेलकर भी अपनी कुछ जड़ जमाए रख सकी। हिन्दी क्षेत्रों में फिल्मों के आगमन के साथ इस नए सार्वजनिक नाटक का तो बिल्कुल सफाया ही हो गया। इसके विपरीत पारंपरिक नाट्य, बदलते हुए परिवेश में भी, बिल्कुल प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद, अधमरी हालत में ही सही, किसी कदर अपने को जिन्दा बनाए रख सके। आज सरकारी तंत्र और थोड़े से नाट्यकर्मी और नाट्यविद इस धरोहर को बचाए रखने की थोड़ी बहुत बिखरी बिखरी कोशिशें कर रहे हैं। लेकिन अगर इस तरह की कोशिशें सफल हो भी गईं तो क्या जिन्दा अजायबघर से कुछ ज्यादा सार्थकता ये नाट्य हासिल कर सकेंगे ?

हिन्दी क्षेत्रों में किसी सुदृढ़ जीवित नाट्यपरंपरा का अभाव एक तरह से अनुकूल परिस्थिति है जिसमें बिल्कुल सार्थक और प्रासंगिक समकालीन मौलिक नाट्य को उगाया, पनपाया जा सकता है। बेशक इसकी जमीन पारंपरिक नाट्य है। लेकिन खाद पानी अपने वर्तमान परिवेश की बेहद उलझी हुई जटिलताओं के बीच नाट्य की सही जरूरत को पहचानने और फिर उसके अनुसार बिल्कुल नए सिरे से रच सकने की सर्जनात्मक क्षमता पैदा करने से ही मिल सकती है।

नाट्य की रूप-संरचनाओं और उसके गहरे असर के मुख्य क्षेत्रों को ढूंढने तथा समकालीन जरूरतों को नाट्य के संदर्भ में पहचानने के बीहड़ रास्तों पर चलने वालों के लिए इस पुस्तक में संग्रहीत सामग्री कुछ दूर तक उपादेय हो सकती है। कम से कम यह उनकी बुद्धि और विचार को इतना जरूर कुरेद सकती है कि वे अपनी खोज के आयामों को खुद पहचानने की और पुरजोर कोशिशें कर सकें। इसे प्रकाशित करने में वस्तुतः यही मेरा इष्ट भी है।

इस पुस्तक की अधिकांश सामग्री सातवें दशक में उस वक्त तैयार हुई जब नाट्य को समझने की अपनी अदम्य उत्सुकता के तहत मैं काफीकुछ पढ़ रहा था। ये अनुवाद किसी योजना को लेकर नहीं किए गए। अध्ययन के दौरान कभी

कभी ऐसी स्थितियाँ आती रहीं कि मैं अनुवाद करने बैठ जाया करता। इसीलिए ये लेख काफी कुछ आकस्मिक ही हैं। इनमें ऐतिहासिक या किसी दूसरी तरह का प्रतिनिधित्व ढूंढना बेकार है। हाँ संकलन संपादन के समय बीच बीच में कुछ सामग्री जोड़कर एक तरह का सिलसिला बांधने की कोशिश जरूर की गई है जो लेखों का क्रम निर्धारित करने में भी है। हालांकि सभी लेख स्वतंत्र हैं और उन्हें किसी भी क्रम में पढ़ा जा सकता है।

जहां तक अनुवाद का प्रश्न है मैंने प्रामाणिकता रखने की पूरी कोशिश की है लेकिन इसे मैं अक्षरशः अनुवाद नहीं कह सकता। अनुवाद के समय हिंदी पाठकों की पृष्ठभूमि और जरूरतें मेरे जेहन में बराबर बनी रहीं और कहीं कुछ छूट गया तो कहीं कुछ व्याख्या हो गई। फिर भाषा का फर्क तो विचारों में खुद ब खुद एक फर्क पैदा कर देता है और भाषा काफी कुछ वैक्तिक सीमाओं से बंधकर अपना एक निजीपन पैदा करती है। इसीलिए विश्व के अनेक महान लेखकों के निजी तेवर मेरी समझ और भाषा की सीमाओं से बंधकर एकरस हो गए। अतः इस पुस्तक में प्रस्तुत विचारों का कुछ हद तक मैं उत्तरदायी होना कबूल करता हूं।

कुंवरजी अग्रवाल
वसंतपंचमी
२०४२ वि०

भारतीय नाट्य प्रयोगशाला
डी ५२/६ ए लक्ष्मीकुंड
वाराणसी २२१०१०

आधुनिक नाटक का अन्वेषण : कुछ पश्चिमी दस्तावेज

शुरुआत

हम लोग आधुनिक जीवन के लिए रंगमंच की शुरुआत कर रहे हैं।

हमारे प्रयासों का लक्ष्य कला है—ऐसी नई कला, जो अपना ध्यान यथार्थ और समकालीन-जीवन अस्तित्व पर केन्द्रित करती है।

पहले कभी ऐसी कला भी थी, जो दिन की रोशनी से भागती थी, जो अतीत की गोधूलि में ही कविता खोजती थी, जो यथार्थ से लजाकर पलायन कर जाती थी और उन आदर्श गहरी दूरियों में जाने की कोशिश करती थी, जहां शाश्वत यौवन खिलता है, लेकिन यह तो महज सपना था। आज की कला लिपटने वाली लता की तरह समाज और प्रकृति के जीवित रूपों का आलिंगन करती है। इसलिए आधुनिक कला और आधुनिक जीवन के बीच की घनिष्ठ और प्रगाढ़तम अंत:क्रियाओं में संगति लाई जाती है और जो कोई आधुनिक कला को समझना चाहता है, उसे आधुनिक जीवन की हजारों हजार उठती-गिरती लहरों, उसके अन्तर्गुम्फनों और संघर्षशील स्पन्दनों को समझने की कोशिश करनी चाहिए।

नई कला की अगुआई करने वाली मूल प्रेरणाओं ने उसके झण्डे पर स्वर्णाक्षरों में जो नारा लिखा है, वह बस एक शब्द में है : सच्चाई। हां, यह सच्चाई ही है, जीवन के हर रास्ते पर सच्चाई—जिसकी हम मांग करते हैं और जिसके लिए जी-तोड़ कोशिशें कर रहे हैं। लेकिन वस्तुगत सच्चाई नहीं जो लड़ाई में लगे लोगों की पकड़ से निकल जाती है, बल्कि व्यक्तिगत सच्चाई जो निहायत निजी संवेदनाओं और विश्वासों से उपजती है और स्वतन्त्रता से अभिव्यक्त होती है। आत्मनिर्भर आत्मा की सच्चाई, जिसमें माधुरी घोलने या छिपाने को कुछ नहीं है और इसीलिए उसका सिर्फ एक दुश्मन है, बगलगीर दुश्मन और घातक प्रतिद्वन्द्वी : झूठ—अनेक प्रकार और आकृतियों वाला झूठ।

इस सच्चाई के सिवा हम लोगों का और कोई कार्यक्रम नहीं है। हम हर तरह के फार्मूले को अस्वीकार करते हैं और निरन्तर गतिशील कला तथा जीवन को नियमों के कठोर बन्धन से जकड़ना नहीं चाहते। हम अपनी कोशिशों को जो कुछ हो रहा है उसपर केन्द्रित करते हैं; हम अपनी निगाहें उसपर ज्यादा सावधानी से जमाते हैं जो आने वाला है, न कि उस शाश्वत बीते हुए कल पर, जो मानवजाति की असीम सम्भावनाओं को रूढ़ियों और अनुशासन सूत्रों में बांधने की कोशिश में खुद ही बिखर जाता है। हम हर एक उस महान् चीज के सामने विनय से सिर झुकाते हैं, जिसे पिछले युगों ने हमें सौंपा है। लेकिन अपने अस्तित्व के लिए प्रतिमान और माडल

हम उनमें नहीं ढूँढते; क्योंकि अपने युग की जीवन्त बौद्धिक शक्तियों के स्पन्दन से वह आन्दोलित नहीं हो सकता जो अतीत की दृष्टियों को अपने में उतार लेता है। इसे तो वही पकड़ सकता है, जो स्वतन्त्रता के साथ अपने में वर्तमान क्षण की मांगों का एहसास करता है। सिर्फ वही आधुनिक आदमी हो सकता है।

तनाव भरे वक्त में जो भी अपने कान धरती से सटाता है, आने वाले अदृश्य की आहट सुन पाता है और इस तरह अपनी सारी संवेदनाओं को जाग्रत करके, सर्जन के तनावों और कुछ कर गुजरने की प्यास से भरे युग में हम भी आगन्तुक की लय-छन्द को, तूफानी नये के उत्तेजन-आलोड़न भरे नियमोल्लंघनों को पकड़ना चाहते हैं। न तो सिद्धान्तों की कोई बाड़, नहीं अतीत के उदाहरणों की पवित्रता विकास की उस असीमता को जकड़ सकती है, जो मानवजाति का सारतत्त्व है।

जहाँ कहीं भी आधुनिक कला ने अपनी सजीवतम शक्तियों का उपयोग किया है, उसने अपनी जड़ें प्रकृतिवाद [नेचुरलिज्म] में जमायी हैं। अपने युग की तात्कालिक मांगों का अनुभव कर इसने अपने को प्राकृतिक शक्तियों की स्वीकृति पर स्थापित किया है और ईमानदारी के प्रति निर्मम आग्रह के साथ यह दुनिया की ठीक वैसी ही तस्वीर पेश करना चाहती है, जैसी वह है। हम लोग प्रकृतिवाद के मित्र हैं और खासी दूरी तक उसके साथ चलना चाहते हैं, लेकिन अपनी यात्रा के दौरान तब हमें चौंकना नहीं चाहिये जब किसी मंजिल पर, जिसे हम अभी निर्धारित नहीं कर सकते, रास्ता यकायक मुड़ जाए और जीवन तथा कला का एक सर्वथा नवीन और विस्मयजनक परिदृश्य सामने आ उपस्थित हो। क्योंकि मानवसंस्कृति किसी फार्मूले से बंधी नहीं है—भले ही वह बिल्कुल ताजा क्यों न हो।

और इसमें विश्वास करते हुए लगातार बनते जाने की प्रक्रिया में आस्था के साथ हमने आधुनिक जीवन के लिए स्वतंत्र रंगमंच का अवतरण कर दिया है.........

ओट्टो ब्राह्म

शान्ति के लिए संघर्ष में थियेटर

जब मैं यूरोप के मुख्य-मुख्य केन्द्रों की यात्रा कर रहा था तो एक बात मैंने हर जगह लक्ष्य की : सिनेमा और दूसरी तरह के मनोरंजन से भरपूर, चकाचौंध करने वाले तमाशे थियेटर तथा उसकी सच्ची कला से रोशनी चुरा रहे हैं। अभिनेता की कला की यह शताब्दियों पुरानी परंपरा का मूलोच्छेद ऐसे वक्त में किया जा रहा है, जब महानतम उद्देश्यों के लिए मानवजाति को थियेटर की जरूरत बेहद गहरा गयी है। एक ऐसे वक्त में जब कि विशाल भव्य पियानो के असंख्य तारों को पूरी शक्ति से झंकृत कर देने की जरूरत है, इस वाद्ययन्त्र के ढक्कन को खोलकर उसमें लपसी उड़ेली जा रही है।

"कहे देता हूँ, मैं थियेटर से घृणा करता हूँ।" उसने कहा। "कौन से थियेटर से? थियेटर तो किसिम-किसिम के होते हैं?" मैंने जबाब दिया, "रंग-मंच से दर्शकों को अलग करने के लिए बीच में एक पर्दा पड़ा हो, किसी क्रिया को थियेटर कहलाने के लिए बस इतना ही काफी है। अगर पर्दे के पीछे से किसी बोलने वाले बालरस का प्रदर्शन किया जाता है तो यह थियेटर है। उसी मंच पर रहस्य नाटकों का अभिनय होता है या ड्यूज [महान् अभिनेत्री] किसी भूमिका में उतरती है तो यह भी थियेटर है और अगर हजारों दर्शकों की भारी भीड़ इसलिए जुटती है कि वह मनोरंजक कथानक, विवस्त्र युवती, किसी प्रस्तुतकर्ता की स्टण्टबाजी या किसी बड़े स्टार अभिनेता की व्यर्थ की बकवास में मजा ले तो इसे भी थियेटर ही कहा जाता है। इस तरह के थियेटर से घृणा मैं तुमसे कहीं ज्यादा करता हूँ।

"लेकिन एक दूसरे तरह का भी तो थियेटर हो सकता है, जो अभी तक अस्तित्व में नहीं आया है"......। शायद अत्यन्त प्राचीन काल से कभी नहीं। एक ऐसा थियेटर, जो रंगमंच पर मानवीय भावना का जीवन्त सर्जन करता है, जो कि पूरे समुदाय के जीवन को उघाड़ कर सामने रख देता है। और कला के प्रतिनिधि होने के नाते, खास तौर से तुम्हें इस बात का कोई हक नहीं कि तुम ऐसे थियेटर को प्यार न करो। इसके विपरीत तुम्हारा यह कर्तव्य है कि ऐसे थियेटर को जन्माने और पोसने के लिए कुछ भी उठा न रखो।"

ऐसे थियेटर में एक विचार के प्रति समर्पित लोग होंगे। ऐसे लोग, जो अपने महान् उद्देश्यों को समझते हैं और उनको पूरा करने को महज इसलिए अग्रसर नहीं होते कि थोड़ी और वाहवाही लूट सकें, प्रशंसा के जयमाल पा सकें या तुच्छ क्षणभंगुर

दर्प की तुष्टि कर सकें। वे तो सामुदायिक और देशभक्तिपूर्ण ऐसी भावना के वशीभूत होकर काम करेंगे, जो सम्पूर्ण मानवता के लिए कल्याणकारी हो।

यही वह थियेटर हो सकता है, जो युद्ध के खिलाफ संघर्ष का मुख्य अस्त्र बने और पृथ्वी पर शान्ति स्थापना का अन्तर्राष्ट्रीय साधन बने। थियेटर समुदायों के बीच सम्पर्क का सर्वोत्तम साधन है, उनके अन्तर्तम की भावनाओं को व्यक्त करने और समझने का साधन। यदि इन भावनाओं का बार-बार साक्षात्कार हो और विभिन्न समुदायों के लोग इस सच को ढूंढ निकालें कि ऐसी स्थितियों में जहाँ अहंकारपूर्ण उद्देश्यों से बनावटी तौर पर भावनाएँ भड़काई जाती हैं, अधिकतर हिंसा या घृणा-द्वेष की कोई जरूरत नहीं, तो वे काल्पनिक शत्रुओं के प्रति सैन्यप्रशिक्षण या आक्रमण के बजाय अभिवादन में अपनी टोपियाँ उचकायें और हाथ मिलाएँ।

क्या ऐसा कोई थियेटर अभी है? मुझे नहीं मालूम। लेकिन पारस्परिक घृणा, वंचना और ओछे वर्गदम्भ को उभाड़ने में लिप्त बहुत सारे थियेटर मैं जानता हूँ।

—कोंस्तान्तिन स्तानिस्लावस्की

सिनेमा और रंगमंच : भविष्य की एक झाँकी

निकोलाई एकिमोव

यहाँ से सिनेमा और रंगमंच अब किधर जायेंगे? क्या वे एक दूसरे में विलीन हो जायेंगे? क्या सिनेमा का पर्दा रंगमंच को ढँक लेगा? इधर कुछ दिनों से बहुत से लोग ये और ऐसे ही दूसरे प्रश्न अपने आप से पूछने लग गये हैं। यह तो बिल्कुल स्वाभाविक ही है, क्योंकि आगे की ओर निगाह डाले बिना सचमुच में फलप्रद काम कोई नहीं कर सकता। भले ही बहुत मोटे रूप में क्यों न हो, कल का सिनेमा और रंगमंच कैसा होगा, इसकी तसबीर आज ही बनाने की कोशिश करनी चाहिए।

कला, अत्यन्त प्राचीन कला भी, शाश्वतरूप से युवती है। प्रत्येक पीढ़ी कला में विश्व के प्रति अपनी दृष्टि, यथार्थ के प्रति अपना रुख ढालती आई है। सच्ची कला कभी नहीं रीतती।

मेरे विचार से इस तर्क में कोई दम नहीं है कि रंगशाला में गुजारी गई रात को आधुनिक मानव बर्बादी समझता है, क्योंकि ९० मिनट की ही फिल्म देखकर वह अपना मनोरंजन पा सकता है।

यह कहना सच के अधिक करीब होगा कि आधुनिक मानव छिछले मनोरंजन, ऐसे मनोरंजन में जो उसके हृदय और मस्तिष्क को अप्रभावित छोड़ देता है, अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहता।

सामान्यतया, मेरा विश्वास है, आधुनिक युग में अवकाश का उपयोग एक ऐसी समस्या है जो अपना बौद्धिक हल ढूँढ़ती है।

मैं सोचता हूँ अभी न तो रंगमंच और न सिनेमा ही आधुनिक मानव की मनोरंजन-आवश्यकताओं की अच्छी संतुष्टि कर पाता है। पुरानी पड़ गई धारणाएँ तथा परंपराएँ उनके विकास को पीछे घसीट रही हैं।

अपने इस विचार का मैं सविस्तर स्पष्टीकरण करना चाहता हूँ।

अन्य कलाओं की अपेक्षा रंगमंच का विशेष लाभ यह है कि सर्जनात्मक प्रक्रिया में दर्शक भी उपस्थित रहते हैं और एक प्रकार से उसके सहभागी भी होते हैं। किसी नाटक की अभिनय-प्रक्रिया की परिणति को केवल अभिनेता ही नहीं, दर्शक भी निर्धारित करते हैं। किसी नाटक के मंचन की सफलता असफलता बहुत हद तक इस बात पर भी निर्भर है कि अभिनय, अभिनेताओं द्वारा कहे गये वाक्यों और उनके द्वारा संप्रेषित विचारों के प्रति दर्शकों की प्रतिक्रियायें कैसी हैं। रंगशाला में बैठा हुआ व्यक्ति अनुभव करता है कि उसके भी मत का सचमुच कोई महत्व है। प्रशंसा करके या किसी दूसरी तरह की प्रतिक्रिया देकर वह रंग-क्रिया में हस्तक्षेप कर सकता है।

अंकों के बीच के अवकाश में रंगमंच के दर्शकों को इस बात का अवसर मिलता है कि वे आपस में मिलजुल जो कुछ वे देख रहे हैं उस पर बहस कर सकें। विचारों के इस आदान-प्रदान से अनुभूति-उपलब्धि समृद्ध होती है।

किंतु चाहे जितनी भी महत्वपूर्ण फिल्म क्यों न हो, उसके प्रदर्शन के समय दर्शकों को निष्क्रिय भूमिका ही निबाहनी पड़ती है। दर्शकों की किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया प्रदर्शित हो रही फिल्म के कलासर्जन को प्रभावित नहीं कर सकती। रंगमंच और सिनेमा तथा सर्जनशीलता के अन्य अंकित रूपों के बीच यह आधारभूत और अनिवार्य अंतर है।

रंगमंच और सिनेमा के बीच पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया भी उसी प्रकार अनिवार्य है। और बड़ी बात तो यह कि इसका परिणाम बहुत ही फलप्रद हो सकता है क्योंकि दोनों के दर्शक तो एक ही होते हैं और उनकी स्मृति दोनों के प्रभावों को संचित रखती है।

पिछली शताब्दियों की अपेक्षा आज के रंगदर्शक की विशिष्टता यह है कि वह साथ-साथ फिल्म भी देखने का आदी है और रंगमंच की सीमित तकनीकी संभावनाओं के प्रति अपनी निराशा को दबा नहीं सकता।

मूलरूप से रंगमंच आज भी उसी प्रकार निर्मित और सज्जित किये जाते हैं जिस प्रकार अठारहवीं शताब्दी में। इस प्रकार ठीक दिशाओं में विकास की संभावनाओं से वंचित हुए रंगकलाकारों को अक्सर विभिन्न रूढ़ियों के द्वारा ही रंगकला के आधुनिकीकरण का प्रयत्न करना पड़ता है।

दूसरी ओर फिल्म का दर्शक पर्दे पर दिखलाई जाने वाली घटनाओं के क्रम को प्रभावित कर सकने की अपनी असमर्थता और फलस्वरूप सर्जन-प्रक्रिया में भाग लेने से अपने को वंचित किया अनुभव करता है। इस प्रकार घेरे से बाहर वह केवल दृष्टिपात मात्र कर सकता है।

मेरा इसमें विश्वास नहीं है कि फिल्मप्रदर्शन पूर्णरूप से अबाध लगातार चलता रहे या एक के बाद एक अतिशीघ्रता से हो कि दर्शक आवश्यक रूप से अपने ओवरकोटों में चुपचाप बैठे ही रहें, या कि वे मध्यान्तर जिनमें लोग अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, समाप्त कर दिये जाएँ।

वे व्यापारी लोग जिनकी आवाज कला के मामलों में अक्सर निर्णायक होती है यह बिलकुल नहीं समझ पाते कि मध्यान्तर मनोरंजन प्रक्रिया के महत्वपूर्ण अंग हैं। कई अंकों के अच्छे नाटकों में कभी-कभी दर्शक मध्यान्तरों में उसी प्रकार कई प्रभाव और नए विचार उपलब्ध कर लेते हैं जिस प्रकार स्वयं नाटक के आदर्शनकाल में।

किसी अच्छे नाटक के मध्यान्तर में, विशेष रूप से नए नाट्यप्रदर्शन के प्रारंभिक दिनों में, आप को ऐसे लोगों के समूह मिल जायेंगे, जो तीसरी घंटी के बाद भी बहस में मशगूल हैं और फिर अपनी कुर्सियों की ओर हड़बड़ा कर भागते हैं।

संक्षेप में; समग्र कलाआदर्शन की प्रक्रिया में विचारों का आदान-प्रदान कला के सीधे प्रत्यक्षीकरण से कम महत्व नहीं रखता।

यही बात चित्रकला की प्रदर्शनियों के संबंध में भी लागू होती है। मुझे याद है, मास्को में ड्रेसडेन आर्टगैलरी के चित्रों की एक प्रदर्शनी में जब मैं पहली बार गया तो अधिक भीड़ के कारण मुझे कितनी निराशा हुई थी। अक्सर मैं पाता था कि रैफेल या होल्बीन की बजाय मैं लोगों की पीठ देख रहा हूँ। लेकिन कुछ दिनों बाद प्रदर्शनी खुलने के समय से पहले ही काफी सबेरे मुझे आमंत्रित किया गया। जब मैं निर्जन कक्षों में घूम रहा था तो मुझे अनुभव हुआ, मैंने भीड़ को खो दिया है, कि सामूहिक आदर्शन की अनुभूति से वंचित हो गया हूँ, और यह भी कि मैं लोगों के चेहरे पर अंकित प्रभावों को भी नहीं पढ़ सकता।

इसी प्रकार किसी सामान्य व्यापारिक सिनेमाहाल में आप अँधेरे में डेढ़-दो घंटे सिमटे बैठे रहते हैं और अपने अगल-बगल बैठे हुए लोगों से बातें करना तो दूर उन्हें देख भी नहीं पाते। यहाँ कलाकृति का महत्व और प्रभाव काफी कम हो जाता है।

रेस्त्रां और स्वचालित कफे में आधारभूत अंतर है।

जब कभी किसी कालजयी (कलात्मक) साहित्यिक कृति को फिल्म में रूपान्तरित करना होता है तो निर्देशक की प्रमुख समस्या, जो कभी-कभी उसकी ट्रेजेडी बन जाती है, यह होती है कि एक या दो खंडों वाली फिल्म में वह सब कुछ कैसे कह डाला जाय, जिसे, उदाहरण के लिए, तालस्ताय या दोस्तोएव्स्की ने अपने उपन्यास में विस्तार से कहा है।

कालजयी साहित्यिक कृतियों के फिलमीकृत रूप अक्सर उन दुर्बल छोटी-छोटी पुस्तिकाओं जैसे लगते हैं, जो तालस्ताय या दोस्तोएव्स्की को ट्रेन या बस में जाते हुए जल्दीबाजी में पढ़ने के लिए कुछ प्रकाशक तैयार कर देते हैं, लेकिन इस नियति से बचने के लिए कई खंडों वाली फिलम हमेशा उपयुक्त नहीं होती। दर्शक समूह के दूसरे सदस्यों से सम्पर्क के बिना एक स्थान पर कई घंटे तक बैठे रहना बहुत श्रम का कारण बन जाता है।

मेरा गहरा विश्वास है कि भविष्य का सिनेमा ऐसे नवीन रूपों का विकास करेगा, जिनमें दर्शकों को आपस में मिल-जुल सकने का मौका मिल सकेगा। सम्भवतः सिनेमा के ऐसे मन्दिर बनेंगे, जिनमें वे सारी सुविधाएँ और आराम होंगे, जिन्हें

इंजीनियरी-कौशल प्रदान कर सकेगा और जिनमें मध्यान्तरों की अनिवार्य रूप से स्थिति होगी। आदमी वहाँ अपनी पूरी शाम गुजार सकेगा और वहाँ न केवल उसे मनोरंजन मिलेगा, बल्कि उसके मानसिक क्षितिजों का भी विस्तार हो सकेगा।

सुंदर ढंग से चयन किये गये कार्यक्रमों द्वारा प्रदर्शनमाला बनायी जा सकती है। मुझे अपने बचपन की याद आ रही है, जब प्रत्येक सिनेमा कार्यक्रम में एक यात्रावृत्त रहता था, जो भूख बढ़ाने वाली शराब की घूँट जैसा था, तब एक नाटक रहता था और सबके अंत में एक प्रहसन रहता था। आज आपको इसपर हँसी आ सकती है, लेकिन उन दिनों नायिका के साथ-साथ दर्शक भी आँसू बहाते थे। अंतिम कार्यक्रम से हँसी द्वारा तनाव से मुक्ति मिलती थी, जिसकी आज का फिल्मदर्शक निरन्तर कामना किया करता है, लेकिन पाता शायद ही कभी है। उस समय के प्रहसन हँसने की उस कला को रिक्त छोड़ गये हैं, जो मैक्स लिंडर, हैराल्ड लायड और आरम्भिक चैपलिन जैसे कलाधिकारियों द्वारा व्यक्त हुई थी और आज जिसे हम भूल चले हैं।

लोग कहते हैं कि मानवजाति आज अधिक गम्भीर हो गयी है, वह चिंताओं के बोझ से दब गयी है। इससे तो हँसने-हँसाने की समस्या और भी महत्त्वपूर्ण हो उठती है। जो आदमी मजाक कर सकने की अपनी शक्ति खो देता है, वह गम्भीर समस्याओं के निर्णय की अपनी शक्ति भी कुछ हद तक खो देता है।

साथ ही साथ शाम को एक लंबे समय तक फिलमदर्शकों के ध्यान को खींचे रह सकने की सम्भावना फिलमकला को कालजयी साहित्यिक कृतियों की और भी अच्छी व्याख्या का अवसर देगी। उदाहरण के लिए हैमलेट की फिल्म बनाते समय यदि ग्रिगरी कोजिन्त्सोव के सामने ऐसी सम्भावना रहती तो इसमें जरा भी संदेह नहीं कि और भी अधिक महत्त्व की वे एक ऐसी कलाकृति प्रदान करते, जिसमें शेक्सपियर की यह उत्कृष्ट रचना अपने समस्त रंगों में चमक उठती।

यह बिलकुल संभव है कि इस तरह के नये रूप पाने पर सिनेकला जिसके पास अभी भी अनेक प्रकार के कौशल हैं, नये गुण भी पा सकेगी।

मेरी तस्वीर के अनुसार भविष्य का रंगमंच भी एक दूसरे किस्म का होगा। यह सामुदायिक जीवन का केन्द्र होगा, जैसे प्राचीन यूनान में होता था, लेकिन आज शायद कुछ नये तरह का। रंगमंच का आधारभूत सिद्धान्त कि अभिनेता-दर्शक के बीच सर्जनात्मक सम्पर्क होना चाहिये और भी अधिक पूर्णता से क्रियान्वित होगा। नाटकों द्वारा उठायी गयी सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं पर स्वयं दर्शक बहसें और वाद-विवाद करेंगे। रंगमंच और रंगशाला के अन्य हिस्सों को इसके लिए अनुकूलित करना होगा।

जैसा मैं पहले कह चुका हूँ कि अवकाश का उपयोग ऐसी समस्या है, जो अपने समाधान की अब भी प्रतीक्षा कर रही है। यहाँ भी हम परंपरित मार्ग पर ही चल रहे हैं और वह भी उसके सर्वोत्तम पर नहीं।

अगर मैं अपनी कोई खाली शाम मनोरंजन में गुजारना चाहता हूँ तो दुनिया का कोई ऐसा कारण नहीं है कि मैं उसे जल्दबाजी में महज डेढ़-दो घंटे की सीमा में ही गुजार दूँ। यह सच है कि कभी-कभी जब नाटक में दो ही अंक होते हैं या फिल्म डेढ़ घंटे में ही समाप्त हो जाती है तो मुझे प्रसन्नता होती है, लेकिन ऐसा इसलिए होता है कि मैं वह नाटक या फिल्म पसन्द नहीं कर पा रहा था। यह कोई सिद्धांत की नहीं, ब्योरों की बात है। तब भी यह गहरे जड़ों वाली गलत धारणा बनी हुई है कि कई खंडों वाली लंबी फिलम या लम्बे नाटक में देर तक बैठे रहना कठिन है। ऐसे प्रस्तुतिकरण, जो न केवल लम्बे हों, बल्कि प्रतिभापूर्ण उत्कृष्ट कलाकृतियाँ भी हों, ऐसे प्रस्तुतिकरण जो दर्शकों को आध्यात्मिक वैभव प्रदान कर सकें, जो उसे कुछ पूर्व अजाना बता सकें, जो जीवन को और भी अर्थपूर्ण बना सकें, ऐसे श्रम को दूर कर सकते हैं।

जब आप भविष्य के मनोरंजन कार्यक्रम पर विचार करते हैं तो एक और महत्वपूर्ण बिन्दु सामने आता है। यह 'मानव समूहों के लिए कला' और 'सापेक्ष रूप से कुछ विशिष्ट जनों के लिए कला' का प्रश्न है। मैं अनुभव करता हूँ कि ३०–४० वर्ष पहले जब जन-संस्कृति का स्तर बिलकुल दूसरे किस्म का था, जो मत व्यक्त किये गये थे, आज भी जबर्दस्त रूप से प्रभावशाली हैं। इस देश में और दूसरी जगहों में भी बुद्धिशीलों का वर्ग अबाध गति से बढ़ रहा है और तकनीकी विकास के साथ कदम मिलाते हुए निरन्तर आगे बढ़ता जायेगा। जल्दी या देर में यह विकास इस धारणा को कि समाज में बुद्धिशीलों का कोई विशिष्ट वर्ग है, समाप्त कर देगा। इसमें संदेह नहीं कि समाज में कुछ लोग अपेक्षाकृत अधिक चतुर और साहसी रहेंगे ही। फिर भी जैसे-जैसे समय गुजरता जायेगा, बुद्धिशील लोगों के वर्ग में न रखे जा सकने वाले लोगों की संख्या निरन्तर घटती जायेगी।

अपने देश के उदाहरण द्वारा हम यह जानते हैं कि तकनीकी विकास का स्तर जितना ही ऊँचा होगा, उतनी उत्सुकता के साथ लोग विश्व के सांस्कृतिक वैभव में रुचि लेंगे। इससे स्वाभाविक रूप से समकालीन कला और साहित्य के विकास को प्रेरणा मिलती है। इस प्रक्रिया में विचारों के आदान-प्रदान के लिए ऐसे सार्वजनिक स्थलों का विशेष रूप से महत्त्व है, जहाँ लोग एकत्र हो सकें। मेरे विचार से अब वह समय आ गया है, जब दर्शकों के पारस्परिक सम्पर्क पर हमें पुनर्विचार करना और उनके रूपों का विकास करना चाहिये। बिना किसी आधारभूत संशोधन या

विकास के पुराने ढंग के रंगमण्डपों और सिनेमा भवनों के निर्माण पर धन और शक्ति की बड़ी राशियाँ व्यय की जा रही हैं। उदाहरण के लिए पिछली दशाब्दी में सोवियत संघ में ऐसे रंगमंच बड़ी संख्या में निर्मित हुए, जो पिछली शताब्दी के सर्वोत्तम और उस युग की सौंदर्यशास्त्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले रंगभवनों के अनुकरण पर ही बनाये गये।

उद्योग के क्षेत्र में किसी नए कारखाने की इमारतें कारखाने की आवश्यकताओं, प्राविधिक कार्यक्रमों और भविष्य में प्रसार की संभावनाओं पर विचार रखते हुए बनाई जाती हैं। किन्तु मनोरंजनात्मक कलाओं के लिए जब स्थपति भवनों की परिकल्पना करते हैं तब भविष्य की संभावनाओं पर दृष्टि नहीं डालते।

मास्को का मायकोवस्की रङ्गभवन निकोलाई ओख्लोपकोब के नाटय-निर्देशन की नवीन धारणाओं और १९ वीं शताब्दी की रंगशाला की ठोस दीवारों के बीच संघर्ष का सजीव उदाहरण लंबे समय से बना हुआ है। दुनियाँ में और दूसरी जगहों पर भी यही स्थिति काफी व्यापक है। यहाँ तक कि रंगशाला की बिल्कुल नई इमारतें भी जो नवीनतम तकनीकी सुविधाओं का उपयोग कर बनाई गई हैं इस तथ्य का नतीजा भुगत रही हैं कि उनका परिकल्पन पुराने रंगमंच पर विकसित निर्देशन-धारणाओं को लेकर किया गया है।

रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुकूल नवीन तकनीकी सुविधाओं का समन्वय कितना कठिन हो सकता है, इसका बड़ा स्पष्ट चित्रण प्राग की लेटनामेजिका रंगशाला के रोचक नवीनीकरण द्वारा सामने आया है। आठ वर्ष पूर्व जो पहला कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया था, उसमें सजीव अभिनय के साथ रंगीन फिल्म के प्रक्षेपण का समन्वय था। उस समय अनेक लोगों ने सोचा था, इस नवीन रंगमंच में बड़ी संभावनाएँ हैं। किन्तु तब उत्तरोत्तर प्रत्येक कार्यक्रम द्वारा यह स्पष्ट होता गया कि यह रोचक किन्तु तकनीकी नवीनता से अधिक और कुछ नहीं है और इसने रंगमंच को समृद्ध बनाने में कुछ नहीं किया। संभवतः इस मामले में दोष की जड़ें उन मिथ्याधारणाओं में हैं जो अनेक अन्य मामलों की तरह इसमें भी परम्पराओं के पालन से उत्पन्न होती हैं। तब भी सिनेमा और रंगमंच के भविष्य का नक्शा बनाने के लिए नवीनीकरण का पूर्ण अध्ययन और विश्लेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

अपना लेख समाप्त करते हुए इस विवाद पर भी कुछ कहना चाहूँगा कि अभिनेताओं और निर्देशकों के व्यक्तित्व निर्माण में तथा उनकी कार्यपद्धतियों के निर्धारण में सिनेमा और रंगमंच में से कौन अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निबाहता है।

दुर्भाग्यवश इस क्षेत्र में कोई सांख्यिक अभिलेख नहीं रखा जाता और निष्कर्ष मूलतः व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर ही निकालना पड़ता है। ऐसा विश्वास

किया जाता था कि फिल्म के अभिनेता और निर्देशक के प्रशिक्षण की अपनी विशिष्टताएँ हैं और इसके लिए विशिष्ट विद्यालय स्थापित किये गये थे। तब भी रंगमंचीय अभिनेता फिल्मों में अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। इसका कारण संभवतः यह है कि मंच-अभिनेता दर्शकों के संपर्क के अपने अनुभव लेकर फिल्मों में आते हैं जिससे उन्हें अपना कौशल विकसित करने में सहायता मिलती है। यद्यपि जब वह कैमरे के सामने खड़ा होता है तब वह इस सम्पर्क से वंचित रहता है किन्तु अनायास ही वह उसके प्रति सजग बना रहता है।

जहाँ तक निर्देशकों का प्रश्न है, बात कुछ ज्यादा जटिल है। रंगमंच निर्देशन के क्षेत्र में एक रोचक विरोधाभास सामने आता है। हमारे महान निर्देशकों स्तानिस्लाव्स्की, नेमिरोविच दानशेंको, मायरहोल्ड, वख्तानगाव, तैरोव में से किसी ने भी निर्देशक का विशेष प्रशिक्षण प्राप्त नहीं किया था। चाहे कितना आश्चर्यजनक क्यों न प्रतीत हो, ये सब स्वयं-प्रशिक्षित निर्देशक थे जिन्होंने पहले रंगशाला में ही गहरी शिक्षा पाई थी। रंगमंच पर ही उन्होंने दर्शकों के साथ सहभाव स्थापित करने की कला सीखी।

हालांकि हमारे विद्यालय प्रतिवर्ष ऐसे निर्देशकों को जन्म देते हैं जो पाँच वर्षों के प्रशिक्षण कार्यक्रम से गुजर चुके हैं, हम अक्सर निर्देशक-संकट की शिकायत करते हैं कि ऐसे निर्देशक बहुत कम हैं जो सामान्य से ऊपर स्तर के रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण दे सकें। यही बात सम्भवतः फिल्मों के विषय में भी कही जा सकती है। प्रायः नियमित रूप से फिल्म का प्रमुख निर्देशक ऐसा व्यक्ति होता है जो फिल्म बनाने से पहले कलाकार, अभिनेता या पत्रकार था। इसका अर्थ यह है कि पहले वह जीवन और ऐसे लोगों के घनिष्ठ सम्पर्क में था जो उसके भावी दर्शक थे।

विषयान्तर तो होगा लेकिन मैं कहना चाहूँगा कि आज की रंगमंचीय कला की शिक्षा के संबंध में मुझे कुछ संदेह है। लोगों को निर्देशक और नाट्य-लेखक बनाने के लिए उन्हें किस चीज की और कैसी शिक्षा देनी चाहिए? प्रतिभा हीरे की तरह होती है। इसे तराशने और चमकाने की आवश्यकता है। क्या यह सही नहीं है कि स्वयं जीवन इसे अच्छी तरह कर लेता है। किंतु संगीतज्ञों और चित्रकारों को प्रशिक्षण देने वाले कला-विद्यालयों के अस्तित्व की अपनी सार्थकता रही है। तब भी एक बात निश्चित है, भविष्य की कला के हित में इस विषय का गंभीरतापूर्वक पूर्ण अध्ययन किया जाना चाहिए।

सिनेमा और रंगमंच के सम्बन्धों के अपने विषय पर लौटते हुए मैं यह बात और जोड़ना चाहता हूँ कि दोनों के बीच कड़ी केवल इस बात पर आधारित नहीं है

कि रंगमंचीय अभिनेता फिल्मों में आमंत्रित होते हैं बल्कि शिक्षा और विकास मार्ग की यात्राओं जैसे आरम्भिक पहलुओं पर भी है।

एक और समस्या, जिसे आज शायद ही कभी कोई सामने लाता है, अवश्य ही हल की जानी चाहिये—यदि हम नाटचकला के विकास के बारे में पूर्ण रूप से आश्वस्त होना चाहते हैं। यह प्रतिभाशील लोगों को संघटनात्मक मामलों से मुक्त करने की समस्या है। बीते युगों में निश्चित रूप से मानवजाति ने अपने कलाकारों की शक्तियों का मूल्य अच्छी तरह समझा नहीं, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने विश्व को उससे कहीं बहुत कम दिया, जितना वे दे सकते थे। केवल अत्यन्त दुर्लभ स्थितियों में ही शुद्ध रूप से सर्जनात्मक और संघटनात्मक कार्यों का समन्वय फलप्रद हो पाया है।

यदि आज हमें १८ वीं शती के आदर्श संगीत विद्यालय की स्थापना करनी हो तो सबसे अधिक तर्कसम्मत चुनाव करने के लिए कला-निर्देशक के रूप में हमें असंदिग्ध रूप से मोजार्ट को तथा संघटनात्मक एवं क्रियात्मक मामलों के लिए सैलियरी को अधिकारी चुनना चाहिये, बशर्ते वह मोजार्ट की कला-हत्या करने पर न तुल जाय। यही सिद्धान्त रंगमंच और सिनेमा पर भी लागू होता है। संघटनात्मक प्रतिभा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी सर्जनात्मक प्रतिभा। किन्तु एक का स्थानापन्न दूसरे को बनाकर कोई अच्छी चीज नहीं हासिल की जा सकती। दोनों का क्षमताशील समन्वय कला के क्षेत्र में सफलता की ओर काफी आगे ले जा सकता है। संघटनकर्ता एक ऐसा व्यक्ति है, जिसका महत्व कलाकार की सर्जनात्मक देनों को पुष्पित होने के लिए मार्ग तैयार करने में है।

रंगमंच और सिनेमा दोनों की नींव का समान आधार है—अभिनेता के माध्यम से सर्जनात्मक विचारों की अभिव्यक्ति। यह विशिष्टता चित्र, साहित्य या और किसी भी कला को प्राप्त नहीं है। सिनेमा और रंगमंच की समानता का दूसरा बिन्दु दार्शनिक, सौन्दर्यशास्त्रीय और राजनीतिक समस्याओं को छूने के उनके ढंगों में हैं।

तब भी दर्शकों के सम्पर्क को लेकर सिनेमा और रंगमंच अलग-अलग भी हैं। नाटचकला के ये दो अलग-अलग रूप हैं।

मेरा विश्वास है, एक दूसरे को सहायता देते हुए और नवीन तथा सुन्दरतर रूपों में विकसित होते हुए सिनेमा और रंगमंच समानान्तर रेखाओं पर आगे बढ़ना जारी रखेंगे।

सच्ची कला कभी मरती नहीं।

●

साहित्यिक रंगमंच

एडवर्ड गार्डन क्रेग



वे सारे लोग जो हमेशा ही 'साहित्यिक रंगमंच' की सृष्टि करने में लगे रहते हैं। अच्छा हो, उन खतरों को भी ध्यान में रखें, जो ऐसे अस्वाभाविक प्रयासों में निहित हैं। ऐसे सभी प्रयासों का अन्त दुर्भाग्यपूर्ण रहा है।

प्रायः तीस वर्षों तक शिलर के सहयोग से गेटे ने जर्मनी वालों के लिए एक 'नवीन रंगमंच' सर्जित करने के लिए संघर्ष किया। हालांकि गेटे कवि से अधिक कुछ था, फिर भी सबसे पहले वह कवि था और उसके अन्दर की हर चीज उन शब्दों की लय से बँधी रहती थी, जिन्हें वह गाया करता था। उसनें साहित्यिक रंगमंच बनाने का बीड़ा उठाया। वह यह नहीं चाहता था कि रंगमंच 'मनोरंजक दर्पण में सहज जीवन का प्रतिबिम्ब' हो। यह रंगमंच को उसी के द्वारा दी गई दुर्बल परिभाषा है; और इसलिए उसने शब्दों की अपनी सेना बढ़ा दी—रंगमंच पर आक्रमण करने के लिए—बीच में वह खड़ा रहा और देखता रहा अपने तीसवर्षीय सच्चे युद्ध को, दृश्यों के विरुद्ध शब्दों की अपनी लड़ाई को, रंगमंच को उजाड़ डाला, उसे धूल में मिला दिया और फिर क्षितिज का सर्वेक्षण करते हुए यह देखकर आश्चर्य में डूब गया कि रंगमंच तो कहीं दिखाई ही नहीं पड़ता। वास्तव में उसके जैसा आदमी भी, जो अपने युग का सबसे बड़ा आदमी था, यह समझने में असमर्थ रहा कि रंगमंच की कला क्या है?

और अब दूसरे लोग आये हैं, ये हालाँकि अपने युग के महानतम व्यक्ति नहीं हैं, फिर भी काफी प्रतिभाशील हैं, ये भी उसी खयाली और असम्भव कार्य को करने की कोशिश कर असफलता को गले लगा रहे हैं।

मैं सोचता रहा हूँ कि कलाकार उस मोहक अलगाव को समझेंगे, जो विभिन्न कलाओं के बीच अपना अस्तित्व रखता ही है। मुझे रंगमंच के लिए कोई भय नहीं है। मैं इस बात में विश्वास नहीं करता कि गेटे जैसा आक्रमण भी रंगमंच को नुकसान पहुँचा सकता है। किंतु रंगमंच की कला क्या है और क्या नहीं है, इसे लेकर लोगों के मन में कम गड़बड़ी देखने की अपनी कामना के कारण इस अनावश्यक धोखे का विरोध मुझे करते ही रहना होगा। मेरे लिए यह अत्यंत महत्वपूर्ण बात है। जब साहित्य जगत के लोग इतने संतुष्ट और धैर्यवान हो चुकेंगे कि रंगमंचीय कला को साहित्यिक कला से पृथक् मानकर उसका अध्ययन कर सकें, तब रंगशाला में उनका स्वागत करने से रोकने के लिए कोई कारण हमारे पास नहीं रहेगा।

●

रंगमंच का प्राकृतिक नियम

हार्ले ग्रैनविले बार्कर

सहज प्रवेश का मार्ग

दूसरी ओर, कैसे कोई 'स्वाभाविक' रूप से नाटककार बनता है ? अनुकरण द्वारा, कोशिश करके और गलती करके। कागज और कलमों की जरूरत पड़ती है, रद्दी की एक बड़ी सी टोकरी भी चाहिए। यदि वह नवयुवक है और उसमें आसमान से टपकी हुई प्रतिभा नहीं है तो उसे पहले अपने कार्य की कला की अपेक्षा कारीगरी में ज्यादा दिलचस्पी होगी। उसने अपने मॉडलों की प्रशंसा की होगी, लेकिन शीघ्र ही उसे उनके टुकड़े-टुकड़े करके देखना होगा कि वह उन्हें जोड़कर श्रेष्ठतर कृति बना सकता है या नहीं। वह लिखेगा और फाड़ डालेगा, फिर फिर लिखेगा और फिर फिर फाड़ेगा, लेकिन सबसे बड़ी बात, वह रंगमंच से घनिष्ठ आत्मीय संपर्क रखना चाहेगा, चाहे पर्दे के पीछे या पर्दे के आगे। और इस संपर्क को तबतक विकसित करते जाना होगा, जबतक कलाश्रम जन्य आनन्द की जगह दृश्य की प्रक्रियाओं में आलोचनात्मक दृष्टि से उत्पन्न होनेवाला आनन्द न लेने लगे; जबतक वह रंगशाला में बैठा हुआ इस बात की पूर्व कल्पना न करने लगे कि नाटककार और अभिनेतागण आगे क्या करने जा रहे हैं; और यह स्वतः होने लगेगा, उसके स्वभाव में सम्मिलित हो जायगा।

मेरी समझ से यही नाटक की कला को आत्मसात करने और इसके माध्यम से रंगमंच के नियमों को सीखने का 'स्वाभाविक' तरीका है। क्या हैं ये नियम ? कितनी दूरतक ये उन भौतिक परिवर्तनों के बीच स्थिर रह सके हैं, जिनसे होकर एस्काइलस से लेकर इब्सन युग तक का रंगमंच गुजरा है और कितनी दूरतक उन्हें उन परिवर्तनों के साथ-साथ बदलते भी जाना पड़ा है। और दूसरे बहुत से नियमों की तरह इन नियमों का भी पालन करना आसान है, उनकी व्याख्या करना नहीं। ये उसी प्रकार सीधे-सादे हैं, जिस प्रकार चलना और बातचीत करना; बच्चे सीख लेते हैं, लेकिन यह कैसे होता है, यह समझाने के लिए ब्लैकबोर्ड और उच्च गणित-शास्त्र की आवश्यकता पड़ेगी।

यह तुलना अनुपयुक्त नहीं है, क्योंकि अपने उद्‌गम में एक ओर तो ये संवेगात्मक अभिव्यक्ति और दूसरी ओर सह-अनुभूति मूलक अवधान की मानवीय क्षमता को प्रतिबिम्बित करते हैं और माध्यम के इस मानवीय अंग (अभिनेता) और दर्शकों के इससे संबंध अत्यधिक महत्व के रहे हैं। किंतु अपने विकास में ये सभी प्रकार की परिस्थितियों से प्रभावित रहे हैं। उदाहरण के लिए एथेंस के दायोनिसस के रंगमंच पर; शेक्सपीयर की ग्लोब रंगशाला में; और उस रंगमंच पर जिसके लिए रोजमरशाम

लिखा गया था, आप जो कुछ प्रभावपूर्ण तरीके से कर सकेंगे उसमें यदि प्रकार का नहीं तो कम से कम मात्रा का बहुत अंतर होगा। उनमें से प्रायः अधिकांश का नाटककारों या अभिनेताओं द्वारा (जो इस संबंध में सर्वाधिक जानते हैं, नियमीकरण नहीं हुआ, क्योंकि जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, यह उनपर अधिकार करने का स्वाभाविक तरीका नहीं है और एक बार उनपर अधिकार कर लिये जाने पर इसे अपनी जीविका बनाने वाले इसके प्रति जितना अचेत हो जायँ, उतना अच्छा।

सभी कलाएँ रहस्य हैं, उनतक पहुँचने का मार्ग अनुकरण है, सीखना नहीं और कलाविद् अपने भेदों को छाती से लगाये रहते हैं। फिर भी उन्हें आलोचना के उस संस्कार की आवश्यकता है, जो प्रशिक्षण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसकी अन्य किसी कला को उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी रंगमंचीय कला को।

नृत्य, गीत और अभिनटन का आदिम युगीन नाटक अराजकता मात्र था। यूनानियों ने इसे कर्मकांडीय रूप प्रदान किया, किन्तु जब हम इसे स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं तो पाते हैं कि सिवाय उसके कंकाल के और कुछ नहीं बचा। जब तक संवाद केवल एक ही अभिनेता, सम्भवतः स्वयं कवि का ही कार्य बना रहा, कोरस का नृत्य और संगीत कैसा था इसका हमें कोई ज्ञान नहीं। सम्भवतः आरम्भ में जिस प्रकार होमर की कविताएँ श्रुतिपरम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपी जाती थी उसी प्रकार ये संवाद भी। यह तो जब अभिनेताओं और चरित्रों की संख्या बढ़ गई और क्रिया का संवर्धन हो गया तभी नाटक अभिलिखित हुए और साहित्य के रूप में अभिहित हुए। किन्तु तब भी केवल संवाद ही अभिलिखित हुए और वह भी सरलीकृत रूप में, क्रिया के संबंध में मान लिया गया कि वह इससे भलीभाँति व्यंजित हो जायगी और भिन्न-भिन्न समयों में यह क्रिया किस प्रकार की थी यह भी आज उसी प्रकार खोया हुआ ज्ञान है जिस प्रकार कोरस का नृत्य और संगीत।

साहित्यिक अभिलेख

नाटक की कला के ऊपर समसामयिक आलोचना के अतिरिक्त और किसी प्रकार की आलोचना लागू करने में यहाँ पहली कठिनाई का साक्षात्कार होता है; साहित्यिक अभिलेख कभी पूर्ण नहीं होते। यूनानियों की नाट्यकला, एलिजाबेथ युगीन नाट्यकला; या आधुनिक नाट्यकला किसी को साहित्यिक अभिलेख पूर्णता से प्रतिरूपित नहीं कर सके; ये कभी कर भी नहीं सकते। स्वयं सवाद मात्र भी सदा पूर्णता से नहीं लिखे जाते। तथाकथित Coventry नाटकों में से एक में हम पाते हैं 'हेरोद झांकी में और सड़कों पर गुस्से में भर जाता है और दूसरे मंचनिर्देशों से (चूँकि ये नाटक शौकिया लोगों द्वारा किये जाते थे, उन व्यावसायिक लोगों

द्वारा नहीं जो यह जान लेते हैं कि क्या करना है, ये मंचनिर्देशों से भरे हुए हैं) यह स्पष्ट होता है कि उससे अपने लिये निर्धारित संवादों के अतिरिक्त यदि कुछ और बोलने की नहीं तो कम से कम गर्जन-ध्वनि उत्पन्न करने की अपेक्षा तो की ही जाती थी—वैसे ही जैसे शेक्सपीयर के अत्यन्त व्यावसायिक विदूषकों से अपने मन से बोलने की अपेक्षा की जाती थी अन्यथा वे रंगशाला से मिलने वाली अपनी तनख्वाह के योग्य नहीं माने जाते। उन्होंने अवश्य अनुभव किया होगा कि यह प्रचलित दबाव तनिक अनुचित है। स्वयं शेक्सपीयर के नाटक आशु सर्जित मजाकों के बिना भहरा पड़ते, लेकिन कुछ और दूसरे भी कहाँ रहे होते? कमेदिया देल आर्ते में क्रियाओं मात्र की रूपरेखा बना दी जाती थी और अधिकांश संवाद अभिनेताओं की मर्जी पर छोड़ दिए जाते थे। और आज बूथों में खेले जाने वाले मेलोड्रामा में बढ़ई दृश्य' कहलाने वाली विशेष प्रकार की स्थितियाँ पाई जाती हैं जिनमें किसी ऐसे पर्दे के सामने, जिसपर सड़क, गाँव की गली या ऐसा ही दूसरा कोई चित्र बना होता है, खलनायक या हास्य अभिनेता को पाँच मिनट तक आशुसर्जित संवादों द्वारा दर्शकों को उलझाये रखना होता है जिस बीच बढ़ई पीछे के दृश्य को दुष्ट चाचा के सामंती बड़े कमरे से बदलकर साधारण नायिका की कुटिया का रूप दे सके।

नाटक का जीवन सदा से तात्विक चीजों में निहित रहा है, आवेगमय मानवता में निहित रहा है जो अपने को क्रिया और संभाषण, नृत्य और गीत में ढालती आई है और अच्छा हो कि हम इनका बहुत दूर तक सभ्यीकरण न करें। किंतु इसे किसी न किसी अनुशासक की सदा आवश्यकता होगी, अन्यथा यह अराजकता में विलीन हो जाएगा; और शायद ही कोई साधारण आदमी इस बात का अनुभव कर पाता हो कि सामान्य रूप से यह कितना अधिक अनुशासित होता है। अधिकतर यह स्वयं आरोपित अनुशासन होता है। किसी नाटक के आरंगण का अर्थ है संवेगात्मक अभिव्यक्ति और गतिविधान की सहकारिता की विवरणयुक्त योजना तैयार करना। यदि इसे सब का सब लिखा जा सकना संभव हो सके तो आधुनिक ऑपेरा की पूरी प्रतीक लिपि भी इसकी तुलना में बिल्कुल सरल लगेगी। प्रतिध्वनि यंत्र के रूप में प्रेक्षक-समुदाय की उपस्थिति में अभिनय के समय प्रत्येक अभिनेता जानता है कि यदि वह अपनी भूमिका के साथ जरा भी विश्वासघात करता है तो सारा खेल किसी भी क्षण भयानक रूप से उसके नियंत्रण के बाहर हो जाएगा। बर्लेस्क की लापरवाह खुशमिजाजी भी नियंत्रण की निर्दयता से संतुलित की जानी चाहिए। मंच पर उछलने कूदनेवाले वे अभिनेता भी, जो बूढ़ों की स्नायुओं को भी उत्तेजित कर देते हैं, उस अनुशासन-अभ्यास की देन होते हैं जो किसी सर्जेंट मेजर को भी चकित कर देने वाला हो सतका है।

किंतु जिस अनुशासन से अभी यहाँ हमारा संबंध है वह नाटक का साहित्यिक स्थिति में रूपांतरण है, इसे स्थायी रूप से अभिलिखित करना है, इसे उल्लेख्य समीक्षा की पकड़ में लाना है; और कठिनाई अभिलेखन की अनिवार्य प्रकृति में निहित है। नाटक साहित्य बन जाता है, किंतु चूंकि वह कुछ दूसरी चीज भी रहा है अतः अब यह साहित्य से कुछ अधिक वस्तु भी बन जाता है। उन बहुत सी चीजों को छोड़कर जो अभिलिखित नहीं की जा सकतीं, संवाद और मंचनिर्देश बहुत कुछ को किसी न किसी प्रकार संकेतित कर ही देते हैं; और इससे यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है कि उनमें जितना अधिक विस्तार इस नाटक का निहित होगा उतनी ही कम पूर्णता अभिलेख में होगी।

साहित्यिक उपयोग और अभिनेताओं के प्रशिक्षण, दोनों ही के लिये अभिलेख का विस्तार क्यों न किया जाय, उस कमरे के—जिसमें नाटक का दृश्य अभिनीत होने वाला है—ही वर्णन तक सीमित न रहकर कमरे के धारक अदृश्य भवन और उस नगर का भी वर्णन क्यों न किया जाय? अवश्य ही यह सब महत्वपूर्ण होगा। चरित्र जो कुछ कहते और करते हैं, उनके साथ ही वह सब भी क्यों नहीं लिखते, जो वे सोचते और अनुभव करते हैं किंतु अनकहा छोड़ देते हैं। इससे पाठकों का काम आसान हो जायेगा और अभिनेता को अपनी भूमिका गलत ढंग से समझने से बचाएगा। ठीक है, लेकिन हम लोग शेक्सपीयर के सम्पादकों द्वारा किये गये दृश्यीकरण के अभ्यस्त हैं—और उन नाटकों के मंचविधान को विकृत और प्रभावहीन करने का कार्य इनसे अधिक और किसी चीज ने नहीं किया। किसी भी तरह यह अपराध शेक्सपीयर के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। अधिक विस्तृत विवरणों के पक्ष में प्रेरक बहस का आरंभ बर्नार्ड शा के नाटकों के प्रथम संग्रह की भूमिका से हुआ, किंतु हम देखते हैं कि शॉ ने अपनी ही राय का स्वयं बहुत दूर तक पालन नहीं किया है। प्रभावस्वरूप इस तरह की चीज का बहुत थोड़ा हिस्सा ही अधिक दूर तक खींचा जा सका है और इससे अधिक के विरुद्ध दिये गये तर्क उसी किस्म के हैं, जो किसी स्थपति के अपने भवन की सतह पर परिप्रेक्ष्ययुक्त चित्र बनाने के विरुद्ध उठाये जा सकते हैं। दोनों ही स्थितियों में दोगली किस्म की कला विकसित होगी, जिससे स्थपति और नाटककार सतही प्रभाव के हित में मूल तत्वों की उपेक्षा करने को विवश होगा। किसी महान नाटक का मात्र साहित्यिक अभिलेख अधूरा होता है, यह बात उतनी महत्वपूर्ण नहीं, जितनी उसकी जटिलता और यदि इसके मूल प्रस्तुतीकरण के पर्याप्त संकेतों के अभाव का हमें अनुभव होता है तो इसका कारण एक सीमा तक इसका गुप्त होना भी है। अभिलेख गहन-गुंफित होगा, यह एक और बात है। नाटककार स्थान की कठोर सीमाओं में कार्य करता है और एक भी तूलिकास्पर्श गँवा नहीं सकता। यहाँ तक कि जब

हम वास्तव में उल्लेखनीय नाटकों पर विचार करने लगते हैं, उपलब्ध स्थान इतना अधिक छोटा प्रमाणित होता है कि उनकी सारी सामग्री की सीधी-सादी परेड भी मुश्किल लगने लगती है। कुछ चीजों को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट रखना पड़ता है—कहानी और चरित्र के संघर्ष की मुख्य योजना को। गौण बातों की भीड़ में मुख्य बातों को धकियाया भी नहीं जा सकता; क्रम और स्पष्टता का अंतिम प्रभाव पड़ना ही चाहिए। किंतु हम देखते हैं कि जो कुछ वह कहना चाहता है, उस सबको कहने के लिए नाटककार दो या तीन युक्तियों को साथ-साथ प्रयुक्त करता रहा है, कहना चाहें तो एक दूसरे पर लादते हुए; और उसके माध्यम की बहुविध और जटिल प्रकृति उसे ऐसा करने की अनुमति भी देती है। दृश्य होता है, दृश्य का वातावरण होता है और दृश्य के अंदर क्रियाएँ होती हैं। अपने दुहरे उपयोगों के साथ सम्भाषण होता है—सीधे तथ्यों को बतलाने के लिए और शुद्ध ध्वनि द्वारा हमारी भावनाओं को उद्‌बोधित करने के लिए। और यथार्थता का भार भी होता है, जिसे अभिनेताओं की उपस्थिति मात्र उससे संयुक्त कर देती है। यह अंतिम तत्व इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि उसकी सटीक माप नहीं की जा सकती। इसकी प्रकृति दर्शकों तक पहुँचने के उन साधनों के साथ बदल ही जाती है, जिन्हें विशिष्ट प्रकार के रंगमंच उपलब्ध कराते हैं, यूनानी नाटकों में औपचारिक, एलिजाबेथीय युग के समान आत्मीय और हमारे अपने युग के समान भ्रमोत्पादक। किंतु साधनों की इस विविधता के बीच में कोई नाटककार अत्यंत सघन और समृद्ध संहति की बुनावट तैयार कर सकता है यह स्पष्ट है।

यूनानी रंगमंच के भौतिक नियम

किसी नाटक के साहित्यिक अभिलेख में उसके समग्र प्रभाव का कितना अंश प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त हुआ है, यह बहुत दूर तक उस रंगमंच की क़िस्म पर निर्भर है जिसके लिए उस नाटक की रचना हुई है। मैं ऐसे केवल एक ही रंगमंच से परिचित हूँ जिसके लिए अभिलेख का बिल्कुल विवरण युक्त होना आवश्यक है, वह माइक्रोफोन का रंगमंच है। प्रसारित नाटक का भविष्य चाहे जैसा हो, इसके अभिलेख की यह विशिष्टता सुरक्षित रहेगी, जबतक टेलीविजन स्थिति को जटिल न बना दे।

किंतु रंगमंच चाहे जैसा हो, किसी भी श्रेणी के नाटक के अभिलेख की सादी सतह पर उसके कम ही तत्वों के रहने की प्रवृत्ति होगी, अधिकांश सतह के नीचे रहेंगे। यह तैरते हुए हिमपर्वत की भाँति होगा, जिसका नवाँ भाग ही जल की सतह के ऊपर होता है, शेष आठ भाग सतह के नीचे डूबा रहता है। आदर्शतः, इस अर्थ में अभिलेख में सारी चीजें अन्तर्निहित रहनी चाहिए : नाटक को गतिशील कर

दीजिए, इसकी सभी छिपी चीजें जीवंत होकर प्रकाश में आ जायेंगी। तथापि हमें इसका पूरा विश्वास होना चाहिये कि प्रेक्षकों के पूर्ण रूप से सहानुभूतिशील रुख के बावजूद अभिनय और मंचन की स्थितियाँ बिल्कुल वे ही हैं, जिनका प्राविधान नाटककार ने अपने नाटक में किया है। यहाँ हमारे और यूनानियों, बल्कि हमारे युग और शेक्सपीयर के युग के बीच न पाटी जा सकने वाली खाई खुलती है। हम अगमेम्नन को उसी रंगविधान के अनुसार अभिनीत कर सकते हैं, जिसके लिए ऐस्काइलस ने उसे लिखा था, किंतु हमारे लिए इससे उन्हीं अर्थों का सम्प्रेषण न होगा, जो तत्कालीन यूनानियों के लिए होता था। हम शेक्सपीयर की ग्लोब रंगशाला का पुनर्निर्माण कर सकते हैं, किंतु क्या हम इसकी रूढ़ियों को उसी प्रकार अनायास स्वाभाविक रूप से स्वीकार कर सकते हैं, जिस प्रकार एलिजाबेथयुगीन दर्शक करते थे ?

बिल्कुल तो नहीं, लेकिन हम लोग इस दिशा में कुछ दूर तक जा सकते हैं, कम से कम एथेंस से अपनी दूरी नाप सकते हैं और बैंकसाइड की स्वागत सीमा में आ सकते हैं। जिस रंगमंच से नाटक जुड़ा हुआ है, उसके रास्तों को एक बार जान लेने पर अभिलेख के उस पहलू को, जो नाटक की मंचीयता को प्रतिबिंबित करता है, पढ़ना काफी आसान हो जाता है और फिर इन्हें हम स्वयं रंगमंच की भौतिक बनावट से भी आंशिक रूप से अनुमित कर सकते हैं। उस रंगमंच को लीजिये, जिसके लिए अगमेम्नन लिखा गया था, खुले आकाश के नीचे सात हजार दर्शकों के बैठने योग्य स्थान, विशाल गोल आर्केस्ट्रा (संगीतज्ञों के बैठने की जगह) से युक्त, जिसमें एक लंबा छिछला मंच था, जिसके पीछे ध्वनिरक्षक के रूप में दीवाल होती थी— ध्वनिरक्षक प्रभावशाली हो सके, इसलिए मंच छिछला ही रखना पड़ता था। ऐसे रंगमंच पर और दूरवर्ती दर्शकों द्वारा देखे जाने की स्थिति में त्वरित और जटिल गतियाँ बिल्कुल प्रभावहीन होतीं। केवल औपचारिक संभाषण और मुद्रा-भंगिमाएँ ही अर्थपूर्ण हो सकती थीं और सभी क्रियाएँ उसी तरह चिपटी दिखाई पड़तीं, जिस प्रकार दीवाल पर उकेरी गई मूर्तियाँ। किंतु कोरस के कारण वादकवृन्द को गतिशील होना पड़ता है। पृष्ठभूमि से अलगाई गई मूर्तियाँ, उनकी समूह-गतियाँ विशिष्ट संपुजनों में उस सीमातक विस्तारयुक्त हो सकती हैं, जिसके बाद यह गीतों और उनके संगीत के प्रभाव को विकृत करने लगे। तब यहाँ रंगमंच की क्रियाओं और आर्केस्ट्रा की क्रियाओं के बीच मुख्य दृश्य-विरोध सामने आता है और हम उसका विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म उपयोगों में समायोजन देखते हैं।

बोली गई क्रियाएं

लुइगी पिरान्देल्लो



मैं समझता हूँ अपने पाठकों के ध्यान में नाटकीय संवाद की सटीक परिभाषा 'बोली गई क्रियाएँ' लाने का यह उचित अवसर है। आजकल अधिकांश नाटक-रचनाएँ मूलतः कथावर्णन जैसी हैं जो अपनी विषय-वस्तु उपन्यासों और कहानियों से ग्रहण करती हैं। यह एक गलती है। सबसे पहले तो इसलिए कि समग्रतः कथा वर्णन को नाट्य की जरूरतों के अनुपात में अनुकूलित या छोटा आसानी से नहीं किया जा सकता; दूसरे इसलिए भी कि आधुनिक तकनीकों के अत्यधिक और गलत प्रयोगों से यह अनुपात और भी सँकरा हो जाता है। बेशक, शेक्सपीयर ने अपने कुछ नाटकों के कथानक इतालवी उपन्यासिकाओं से लिये हैं; लेकिन उसके सिवा और किस दूसरे नाटककार ने कथानक को क्रियाओं में इतनी संगतिपूर्णता के साथ रूपांतरित किया है और वह भी उन मूर्खतापूर्ण तकनीकी जरूरतों के लिये कुछ भी बलिदान किए बिना ही जो किसी कृति के बस ऊपरी सतह भर का नियंत्रण करती हैं। सभी तरह की कथात्मक और वर्णनात्मक नाट्यसामग्री रंगमंच से निकाल फेंकनी चाहिए।

कलात्मक चमत्कार केवल तभी घटित होता है जब नाटककार ऐसे शब्दों को पा लेता है जो बोली गई क्रियाएँ हों, ऐसे सजीव शब्द जो गतिशील हों, ऐसी तात्कालिक अभिव्यक्तियाँ जो क्रियाओं से अविभाज्य हों, ऐसी विशिष्ट पदावली और मुहावरे जिन्हें बदला न जा सके और जो किसी निश्चित स्थिति में निश्चित चरित्र के साथ जुड़े हों : संक्षेप में, ऐसे शब्द, अभिव्यक्तियाँ, वाक्यखंड; जिन्हें गढ़ना तो असंभव है लेकिन तब अपने आप पैदा हो जाते हैं जब लेखक का अपने सर्जित चरित्रों के साथ इस हद तक तादात्म्य हो जाता है कि वह उन्हें ठीक वैसे ही देखने लगता है जैसे वे अपने को देखते हैं।

नाटकीय संवाद के बारे में बात करते वक्त मैं अपने नाटककारों के सतही फार्मूलों की आलोचना नहीं करना चाहता—ये दोषपूर्ण होते हैं क्योंकि उनके पूरे दृष्टिकोण में मूलभूत गलती होती है। आज का नाटककार यदि कुछ देखता भी है तो बस तथ्य या स्थिति भर देखता है। उसे लगता है कि उसने किसी घटना या भावानुभूति का मौलिक निरीक्षण किया है और फिर उसके आधार पर नाटक बना लेने का उसे यकीन हो जाता है। उसकी समझ के अनुसार वैचारिक प्रक्रिया की तार्किक शृंखला से ही नाटक का निर्माण होता है जिसमें चतुराईपूर्ण कुशलता से चुने गए कुछ थोड़े से अलंकरण सजा दिये गये हों। नाट्य-स्थितियों को स्थापित कर लेने के बाद ही वह चरित्र-चित्रण की ओर मुड़ता है और ऐसे चरित्रों की खोज करता है जो इन स्थितियों को अच्छी से अच्छी तरह समझा कर चित्रित कर सकें।

कितने चरित्रों की जरूरत होगी—तीन, पाँच, या दस ? इसके बाद किन रूढ़वर्ग चरित्रों को लिया जाए ? आवश्यक संवादों का उनके बीच वितरण कैसे किया जाय ? कौन-कौन अभिनेता उपलब्ध हैं ? उनकी विशिष्ट प्रतिभाओं के अनुसार क्या भूमिकाओं में कुछ काट-छांट की जा सकती है ?

नाटककार बस यही सारे सवाल सोचता है। लेकिन वह यह सोचना नहीं शुरू करता कि वह इसका ठीक उल्टा करे; कि कला जीवन है न कि विचारों का एक सिलसिला। कला तब मर जाती है जब उसकी बुनियाद किसी अमूर्त विचार या तथ्य पर खड़ी की जाती है; जब कोई लेखक सोच विचार कर सायास ऐसे बिंबों को चुनता है जो कमोबेश दार्शनिक निष्कर्षों के प्रतीक का काम करते हैं। नाटक व्यक्ति-चरित्रों की सृष्टि नहीं करता; व्यक्ति-चरित्र नाटक की सृष्टि करते हैं। इसलिये सबसे पहले नाटककार के सामने लोग हों—स्वतंत्र, जीवंत और सक्रिय लोग। उनको लेकर और उनमें से गुजर कर ही नाटक की अवधारणा जन्म लेगी। नाटक की आकृति और नियति इसी प्रथम बीज में बंद होगी। प्रत्येक बीज में एक जीवन शुरू से ही कसमसाता रहता है, विशाल वट-वृक्ष अपनी डालों-टहनियों के साथ उसके नन्हें बीज में पहले से ही मौजूद रहता है।

जब हम नाटकीय शैली की बात करते हैं तो सामान्यतया, हमारा मतलब एक ऐसी शैली से होता है जो त्वरित, जीवंत, तीखी और आवेगपूर्ण हो; लेकिन खास तौर से नाट्यकला के संदर्भ में हमें शैली शब्द के अर्थ को काफी व्यापक बनाना होगा या शायद उसके विषय में बिल्कुल दूसरे ही तरीके से सोचना होगा। क्यों ? क्योंकि नाटकलेखक का व्यक्तित्व, उसकी विशिष्ट शैली; संवादों [चरित्रों की भाषा] में न आकर कथानक की आत्मा, नाटक के स्थापत्य और उसके विकास के लिए अपनाई गई पद्धतियों में व्यक्त होना चाहिए। यदि उसने सचमुच चरित्रों की सृष्टि की है और रंगमंच पर आदमी खड़े किए हैं, आदमकद पुतले नहीं, तो उनमें से हर एक को अपने को अभिव्यक्त करने का अपना निजी तरीका होगा। ऐसी स्थिति में नाटक पढ़े जाने पर ऐसा लगेगा मानो उसे कई लेखकों ने लिखा है क्योंकि उसके संवाद नाटककार द्वारा नहीं गढ़े गए हैं बल्कि अलग-अलग चरित्रों की क्रियाशीलता से उपजे हैं।

नाट्यव्यवसायी थियेटर को कला नहीं व्यापार समझते हैं। उनकी निगाह में नाटक साहित्य की चीज नहीं है। अपने संवादों की थिगलियाँ आपस में जोड़ने के लिये वे जिस मूल-भूत धागे का इस्तेमाल करते हैं वह फ्रांसीसी बुलेवार रंगमंच की लापरवाही भरी बातचीत की शैली है; चमकदमक चिपकाने के लिये वे सड़कों पर या पार्टियों में सुने गए मजाकों को सिलते हैं और कचहरी के बहस के मुड़े-तुड़े

गोटे टाँकते हैं। उनके नाटकों में सभी चरित्र बिना किसी निजी शैली के एक ही तरह के अभागे ढंग से बोलते हैं।

यह स्थिति तब तक नहीं बदलेगी जब तक हम सचमुच यह न समझ लें कि अपनी साँसों का अनुभव कराने वाले जीवंत रूप में सामने आने के लिए प्रत्येक क्रिया [और उसमें निहित प्रत्येक विचार] के लिए एक स्वतंत्र मानव व्यक्तित्व आवश्यक है। प्रत्येक चरित्र लेखक के उद्देश्यों और शैली से, कल्पित कथानक की माँगों से जितना ही कम बंधा रहेगा, किसी क्रिया का जितना ही कम निष्क्रिय साधन वह बनेगा उतना ही अधिक उसका विशिष्ट व्यक्तित्व निखरेगा और वह उतनी ही स्वतंत्रता के साथ प्रत्येक क्रिया में अपने व्यक्तित्व के निजीपन को पूरे तौर पर प्रदर्शित करेगा। और चूँकि चरित्रों को अपनी सारी जटिलताओं के बावजूद संवि-धानक [प्लाट] से जुड़े ही रहना है, यह बात महत्वपूर्ण हो उठती है कि उनमें वे तात्विक गुण हों जो उन्हें अलगा सकें और उन्हें विशिष्ट क्रियाओं के लिए प्रेरित कर सकें।

हमारी प्रत्येक क्रिया में हमारा संपूर्ण व्यक्तित्व निहित होता है। जो हिस्सा लोगों को दिखाई पड़ता है वह किसी घटना की प्रतिक्रिया है जो क्षणिक लगती है लेकिन उसके संदर्भ हमारे व्यक्तित्व की संपूर्णता में रहते हैं; यह उसी तरह है जैसे दो बहुफलकीय खंडों के एक-एक फलक आमने-सामने, उन अन्य फलकों की सापेक्षता में, क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे हों, जो दूसरी दिशाओं में हैं। नाटक-लेखक के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि किसी चरित्र की निजी विशिष्टताओं और नाट्य संविधानक [प्लाट] में उसके कार्य के बीच समन्वय कैसे स्थापित करे अथवा उस शब्द को कैसे ढूँढ निकाले जो एक ओर तो चरित्र के संपूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करे और दूसरी ओर तात्कालिक नाट्यस्थिति की जरूरतों की भी पूर्ति कर सके।

लेकिन आज कितने लेखक ऐसे हैं जो इन समस्याओं पर विजय पा सकते हैं।



चरित्र की प्रमुखता

हेनरिक इबसन

एक भी शब्द लिखने से पहले मैं मन में चरित्र को बिल्कुल ठीक ठीक बैठा लेता हूँ, मुझे उसकी आत्मा की सूक्ष्मतम गहराइयों तक पैठना पड़ता है। मैं सदा व्यक्ति से प्रारंभ करता हूँ, रंगपीठसज्जा, नाटकीय समूहन आदि सब स्वाभाविक रूप से आते चले जाते हैं और जैसे ही मैं मानवता के प्रत्येक पहलू की दृष्टि से व्यक्ति के संबंध में निश्चित हो जाता हूँ, वे मुझे किसी प्रकार परेशान नहीं करते। किंतु मुझे उनकी बाहरी रूपरेखा भी मन में रखनी पड़ती है—आपाद मस्तक; कैसे वह चलता और खड़ा होता है, कैसा व्यवहार करता है, उसका स्वर कैसा मालूम पड़ता है। और जब तक उसकी नियति पूरी नहीं हो जाती, मैं उसे खिसकने नहीं देता।

मैं नियमपूर्वक अपने नाटकों के तीन प्रारूप बनाता हूँ जो चरित्रचित्रण में एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं किंतु कार्य में नहीं। जब मैं सामग्री से पहली रूपरेखा तयार करता हूँ, तब मैं अनुभव करता हूँ कि चरित्रों से मेरा परिचय उस स्तर का है जो रेलयात्रा में होता है, मुलाकात होती है और हम इस या उस विषय पर हल्की बातचीत करते हैं। दूसरे प्रारूप के साथ ही मैं हर चीज को अधिक स्पष्टता से देखने लग जाता हूँ, मैं चरित्रों को उसी प्रकार जानने लग जाता हूँ, जिस प्रकार किसी पहाड़ी स्थान पर कुछ सप्ताह उनके साथ रह कर कोई उन्हें जान सकता है, उनके चरित्र के आधारभूत लक्षण और साथ ही उनकी छोटी मोटी विशिष्टताएँ भी जान जाता हूँ, तब भी यह असंभव नहीं कि मैं किसी तात्विक प्रसंग में कोई गलती कर बैठूं। तीसरे प्रारूप में, अन्तिम रूप से, मैं जानकारी की सीमा पर पहुँचता हूँ, मैं अपने चरित्रों को निकट के और लंबे संपर्कों से जानने लगता हूँ—वे मेरे गहरे दोस्त हो जाते हैं जो मुझे कभी निराश नहीं करते। अब मैं उन्हें जिस रूप में देखने लगता हूँ, उसी रूप में उन्हें सदा देखता हूँ।



नाटक लिखने के संबंध में कुछ विचार

थोरोन्टन वाइलडर

चार आधारभूत स्थितियाँ नाटक को अन्य कलाओं से अलग कर देती हैं। इनमें से प्रत्येक स्थिति के अपने हानि-लाभ हैं, प्रत्येक के लिये नाटककार में विशिष्ट अभिरुचि आवश्यक है और प्रत्येक स्थिति से कई शिक्षात्मक परिणाम पाये जा सकते हैं। ये स्थितियाँ इस प्रकार हैं :—

१. रंगमंच एक ऐसी कला है जो कई सहकर्मियों के सहयोगी कार्यों पर आधारित है।
२. यह कला सामूहिक मन को संबोधित करती है।
३. यह एक छल पर आधारित है और अपनी प्रकृति से ही छलों को बहुगुणित करती रहती है।
४. इसकी क्रियाएँ सतत वर्तमान काल में घटित होती रहती हैं।

सहकर्मियों के कार्यों पर आधारित कला

हम लोग यह सोचने के अभ्यस्त हैं कि अपनी परिभाषा से ही कलाकृति किसी एक चयनशील और शासिका इच्छाशक्ति की देन होती है।

सेजाँ कृत प्रकृति-चित्र उन हजारों तूलिका-स्पर्शों से बना है जिनमें से प्रत्येक का नियंत्रण—संचालन एक मन द्वारा हुआ है। 'पैराडाइज लौस्ट' और 'प्राइडऐंड प्रेज्युडिस' की सस्ती-जीर्ण प्रतियों पर भी उनके निर्माताओं की विलक्षण बुद्धि और संदेश की छाप है।

यह सही है कि संगीतवादन में वादक के हस्तक्षेप का हमें दर्शन होता है किन्तु नाटक की तुलना में यह हस्तक्षेप बहुत मामूली है। उदाहरण :

मरचेन्ट आव वेनिस के हमारे सामने हुए सबसे उत्कृष्ट प्रदर्शन में सर हेनरी इरविंग ने शायलाक का अभिनय किया। इसमें इरविंग ने शायलाक को श्रेष्ठ, आहत, और क्रोधी व्यक्ति के इतने ऊँचे रूप में प्रस्तुत किया कि वेनिस के सौदागर उसके सामने गैरजिम्मेदार स्कूली लड़कों की तरह फीके लगने लगे।

कचहरी में उसका सामना महारानी के समान शालीन पोर्शिया से हुआ, जिसका अभिनय मिस एलेन टेरी कर रही थीं। पेरिस की ओडियन रंगशाला में अभिनेता जीमियेर ने शायलाक को बदले की भावना से भरे हुए सनकी विदूषक के रूप में उपस्थित किया, जिसका सामना कचहरी में जिस पोर्शिया से हुआ वह पेरिस की गलियों में घूमने वाली आवारा लड़की सी थी, जो अपने कान पर वकीलों वाली तीन फुट लम्बी कलम खोसे थी, मुकदमे के अन्तिम दृश्य मे शायलाक को रंगशाला में दर्शकों के पीछे चिल्लाता हुआ दौड़ाया और वहाँ से फिर मंच पर भगाया गया—एलिजाबेथयुगीन

जंगली आनन्दोत्सव की तरह। तब भी अपने सारे अंतरों के बावजूद नाटक के दोनों प्रस्तुतीकरण प्रशंसनीय थे।

यदि कोई ऐसा नाटक हो सकता है, जिसमें मुख्य भूमिका के चित्रण के लिए लेखक की आवश्यकताओं के प्रति पूरी ईमानदारी अत्यावश्यक हो तो वह इब्सन का 'हेड्डा गैब्लर' है, क्योंकि यह नाटक मुख्य रूप से नायिका के चरित्र का उद्घाटन ही है। इब्सन ने मंच-निर्देश में लिखा है—बायीं ओर से हेड्डा गैब्लर प्रवेश करती है। वह उन्तीस वर्ष की महिला है। उसका मुखमण्डल और आकृति बड़ी नफासत और विशिष्टता व्यक्त करते हैं। उसके शरीर का वर्ण पीत और अपारदर्शी है। उसकी इस्पात के समान भूरी आँखें अक्षुब्ध शांति व्यक्त कर रही हैं। उसके केश आकर्षक रूप से दरमियाना ब्राउन हैं, किन्तु विशेष रूप से गझिन नहीं हैं। वह लहराता हुआ ढीला-ढाला प्रातःकालीन गाउन पहने है। मैंने इस भूमिका में अभिनय करते हुए एक बार इलियोनोरा ड्यूज को देखा था। वह साठ वर्ष की महिला थीं और उन्होंने अपनी उम्र छिपाने की जरा भी कोशिश नहीं की थी। उनका रंग पीत और पारदर्शी था। उनके केश सफेद थे और वह ऐसा गाउन पहने थीं, जो मध्यकालीन शोकाकुल महारानी जैसा था। नाटक का अभिनय बड़ा उत्कृष्ट हुआ।

कोई बखूब यह पूछ सकता है : रंगमंच के लिए लिखते ही क्यों हो? उपन्यास क्यों नहीं लिखते, जिसमें अभीष्ट से अंतर हो ही नहीं सकता?

दो उत्तर हैं—

१. रंगमंच अपनी कुछ ऐसी निजी सजीवताएँ प्रस्तुत करता है, जिन्हें लेखक अपने सटीक बिंब के इस अपरिहार्य अंतर की क्षतिपूर्ति के रूप में ग्रहण करने का इच्छुक हो जाता है।

२. रंगशाला में कार्य करते हुए नाटककार धीरे-धीरे न केवल अपने सहकर्मियों की उपस्थिति का उपयोग जान लेता है बल्कि उनसे लाभ उठाना भी सीख लेता है। और सबसे बड़ी बात यह कि वह अपनी नाट्यरचना का ऐसा संघटन करना सीख लेता है जिससे नाटक की शक्ति उसके नियंत्रण से परे के रूपायनों में निहित न रहकर कथा की घटनाओं के क्रम और विचारतत्व के उद्घाटन में निहित हो जाती है।

एकत्रित दर्शक समुदाय एक अंधेरे कमरे में बैठता है जिसका एक छोर प्रकाशित रहता है। वह व्यापार जिसकी ओर दर्शक टकटकी लगाए रहता है, एक सामान्य विचार-उद्वेलन को उदाहृत करने वाली घटनाओं का क्रम है, वाचन के लिये सूचनाओं की क्रमिक प्रस्तुति, परिस्थितियों के घातप्रतिघात, क्रियाओं का प्रवाह,

क्रियाओं का अवरोध, पूर्वागत घटनाओं के संदर्भ के क्षण, आश्चर्य, भय, या आनंद की तैयारी यह सब लेखक और केवल उसी की कृति हैं।

समूहमन की प्रत्याशा, मंचीय काल की समस्या, कथावाचक की अनुपस्थिति, और छल का तत्व जैसे कारणों से जिनकी चर्चा आगे की जाएगी, रंगमंच कहानी कहने की कला को उपन्यास अथवा प्रबंधकाव्य की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँची शक्ति तक ले जाता है। रंगमंच क्रियाओं का उद्घाटन है और घटनाओं की प्रवाह-योजना द्वारा लेखक एक ऐसे पूर्ण शासन–नियंत्रण को क्रियान्वित कर सकता है जिससे अभिनेताओं की सशरीर उपस्थिति, दृश्यसज्जाकार की कल्पनाओं और निर्देशक की गलतफहमियों के कारण हुई विकृतियां सापेक्ष रूप से महत्वहीन हो जाती हैं। केवल इसी कारण कि रंगमंच अनेक सहकर्मियों द्वारा संयोजित कला है, कि इसमें गंभीर रूप से गलत व्याख्या के खतरे निरंतर बने रहते हैं, नाटककार को अपना ध्यान कहानीकला के नियमों, इसके तर्कों और घटनाओं के संकलनमात्र की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली समन्वयकारक विचार को प्रस्तुत करने की गहरी आवश्यकता पर केंद्रित करना पड़ता है।

किस्सागो के प्राकृतिक गुण कुछ रहस्यमय आवरण में लिपटे रहते हैं। कुछ बहुत महान लेखकों में भी यह गुण बहुत थोड़ी मात्रा में रहा है और कुछ दूसरे हलके स्तर के लेखकों के पास यह इतनी अधिक मात्रा में था कि कठोरतर आलोचकों को मतिभ्रमित करती हुई उनकी कृतियाँ युगों को पार कर भी जीवित रह गईं। अलेक्जन्डर ड्यूमा में यह बहुत अधिक मात्रा में था जब कि अपने सारे भव्य गुणों के बावजूद मेलविले यह गुण केवल इतना ही भर पा सका था जिससे उसकी कृतियाँ किसी प्रकार कथा जगत में प्रवेश पा जाएँ। कुछ लोगों ने कहा है यह गुण सामान्य विचारों के तिरस्कार से आता है। यह सत्य नहीं। यह विचारों और उदाहरणों के सहज मिश्रण से उद्भूत होता है। जन्मजात किस्सागो तो विचारों को परिस्थितिजन्य उदाहरणों में जटित करके ही व्यक्त कर सकता है। मिथक, नीतिकथा, उपदेश रूपक आदि समस्त कथासाहित्य के उद्गम स्रोत हैं और उनमें कहानी का शिक्षात्मक, नीतिपरक उपयोग स्पष्टता से देखा जा सकता है। आधुनिक रुचि कहानी के पीछे छिपे केंद्रीय विचार पर जोर देने से बचना चाहती है; किंतु तब भी उसका अस्तित्व तो वहाँ बना ही रहता है जो काल्पनिक निर्माण को एकान्वित तथा तर्कसंगतता प्रदान करता है; जिससे हम उसे यों ही किये गये जोड़तोड़, छलपूर्ण झूठ अथवा व्यक्तिगत संवेगों की साहचर्यजन्य बुनावट समझकर, तिरस्कृत न कर दें। अपनी सारी भव्य बौद्धिक देनों के बावजूद जार्ज मेरेडिथ और जार्ज ईलियट जन्मजात किस्सागो नहीं थे उन्होंने अपने चिंतनों को व्यक्त करने का साधन समझकर कथारूप

को अपनाया और गुजरता हुआ समय उनके इस चुनाव की भूलों को निरंतर उद्घाटित करता जा रहा है। जेन आस्टिन शुद्धरूप से किस्सागो थीं और उनकी कृतियाँ आतंक पैदा करने वाले प्रतिद्वंद्वियों को पछाड़कर सजीव बनी हैं। इस शक्ति के संदर्भ में उपन्यास की अपेक्षा रंगमंच की माँग कहीं अधिक कठोर है, और इसकी मौजूदगी एक ऐसी ताकत बनाती है जो अपने सहकर्मियों के हस्तक्षेप के कारण कृति में आए स्खलनों के हर्जाने के रूप में नाटककार को मिलती है।

उसके सहकर्मियों में मुख्य स्थान अभिनेताओं का है।

अभिनेता की प्रतिभा तीन अलग-अलग शक्तियों या सहजात देनों के सम्मिलन का परिणाम है। किसी एक ही व्यक्ति में इन तीनों की ऊँचे स्तर पर उपस्थिति अत्यधिक दुर्लभ है, हालांकि उन्हें प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा सब में होती है। जो इस व्यवसाय की ऊँचाइयों तक उठ पाते हैं उनमें इस अत्यंत कठिन और क्रूर कला-कार्य में अस्तित्व-संघर्ष की क्षमता होती है और वे इस प्रकार चुने हुए लोगों की श्रेणी में आते हैं। अभिनेता-प्रतिभा की निर्मात्री तीन सहजात देनें हैं। निरीक्षण, कल्पना और शारीरिक सह-संयोजन।

१- निरीक्षणशील और विश्लेषक आँख जो हमारे रहन-सहन और व्यवहार, कपड़े, तौर-तरीके, अपने और दूसरों के संवेगों-विचारों के बाहरी चिह्नों का अध्ययन कर सके।

२. कल्पना और स्मृति की शक्ति जिससे लेखक की पाठ्य सामग्री से प्राप्त संकेतों के आधार पर अभिनेता अपने अनुभव-निरीक्षण भंडार को टटोल कर रूपायनों के विवरणों तथा आनंद, भय, आश्चर्य, शोक, प्रेम एवं घृणा जैसे संवेगों को गहराई के साथ उपस्थित कर सके और अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा उन्हें और भी गहरे स्तरों तथा चरित्रों की विभिन्नता तक ले जाय।

३. शारीरिक सह-संयोजन जिससे ये आंतरिक अनुभूतियाँ स्वर, मुखमंडल और शरीर द्वारा दृश्य रूप से व्यक्त हो सकें।

अभिनेता को रूपायनों तथा मनः स्थितियों का अवश्य ज्ञान होना चाहिए, उसे अपने ज्ञान का प्रयोग अपनी भूमिका में करना पड़ेगा, और उसे अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति शारीरिक रूप से करनी होगी। और बड़ी बात तो यह कि उसकी एकाग्रता इतनी अधिक होनी चाहिए जिससे विशेष कठिनाइयों और बाधाओं की स्थिति में भी वह अपनी भूमिका को प्रभावशाली बनाए रह सके, उसे नेपथ्य की कल्पनाहीन स्थिति से सहसा मंच के कल्पनालोक में प्रवेश करना पड़ सकता है अथवा उसके सहकर्मी अभिनेतागण कभी क्रिया की वास्तविकता को भंग कर बैठ सकते हैं।

नाटककार अपनी कृति के व्यक्तियों का चरित्र संयोजन इस भाँति करता है कि वह अभिनेता की प्रतिभा का लाभ उठा सके।

उपन्यास में व्यक्तियों का चरित्रचित्रण करने के लिए लेखक अपनी उक्ति-स्थापना करता चलता है कि अमुक ऐसा-ऐसा है और उसके अतीत का हवाला देता हुआ उसका विश्लेषण करता चलता है। और चूंकि नाटक में इन सबका स्थान हमारे समक्ष व्यक्तियों की वास्तविक उपस्थिति ले लेती है और वहाँ इस बात का मौका नहीं रहता है कि हमेशा लेखक हस्तक्षेप कर चरित्र की आंतरिक प्रकृति का परिचय दे सके, नाटक में इन बातों का महत्व बहुत बढ़ जाता है :

१. अत्यधिक वैयक्तिक उक्तियाँ,
२. ऐसी ठोस स्थितियाँ जिनमें क्रियाओं द्वारा चरित्रांकन स्पष्टता से उभरता है,
३. पाठ्य-सामग्री का ऐसा सचेतन निर्माण जिससे प्राप्त संकेतों के आधार पर अभिनेता अपनी क्षमताओं के अनुकूल ही भूमिका निर्माण कर सकें।

नाटक में चरित्रांकन सादे चेक की तरह है जिसे नाटककार अभिनेता को इच्छानुसार भरने के लिए दे देता है—चेक बिल्कुल सादा तो नहीं होता क्योंकि विशिष्टता के अनेक संकेत वहाँ मौजूद रहते हैं, किंतु उपन्यास की अपेक्षा निश्चितता और पूर्णता की मात्रा बहुत कम होती है।

चूंकि नाटककार की रुचि मुख्य रूप से कहानी की गति में होती है, अतः अक्सर वह चरित्रांकन के अधिक विवरणमय पहलू अभिनेता पर ही छोड़ देने का इच्छुक हो उठता है और इसके लिए वह कभी-कभी आशातीत रूप से पुरस्कृत भी होता है।

मैकबेथ नाटक के नींद में चलने वाले दृश्य में शब्दों का बहुत सघनीभूतरूप से चयन हुआ है जिसके द्वारा निराशा और पश्चात्ताप अप्रत्यक्ष आत्मस्वीकृति के रूप में सतह पर आते हैं। निरीक्षण, आतमज्ञान, कल्पना, और सादृश्य-कौशल के समन्वय द्वारा 'सारा सिड्डंन्स' की अभिनय प्रतिभा ने दृश्य में क्या कुछ उड़ेल दिया इसे देखने के लिए यदि शेक्सपीयर जीवित होता तो हम कल्पना कर सकते हैं कि वह किस भाँति बोल उठा होता, मुझे भी यह पता नहीं था कि मैं इतना अच्छा लिखता हूँ।

रंगमंचीय कला समूह-मन को संबोधित करती है

चित्र, शिल्प और पुस्तक-साहित्य निश्चित रूप से ऐकांतिक अनुभव हैं। और इस बात से भी अधिकांश लोग सहमत होंगे कि कंसर्ट हाल में कंधे से कंधा मिलाकर बैठा हुआ श्रोतासमूह संगीत से आनंद ग्रहण का आवश्यक तत्व नहीं है।

किंतु नाटक में भीड़ आवश्यक शर्त है। इसके कारण निम्नलिखित दो बातों की अपेक्षा कहीं अधिक गहरे हैं : (१) नाटक खेलने के लिए आर्थिक सहायता, (२) यह तथ्य कि अभिनेताओं का स्वभाव ही सामूहिक अवधान पर निर्भर है।

यह इन तथ्यों पर आधारित हैं : (१) नाटक का छलावा, रंगमंचीय कल्पना की दुनिया ही टुकड़े-टुकड़े हो जायेगी या बकवास बन जायेगी, यदि भीड़ इसे अपनी स्वीकृति न दे, (२) जीवन के एक टुकड़े का छलावा उपस्थित करने में उत्तेजना का इतना उद्वेग होता है कि उसका रूप उत्सव या धार्मिक कर्मकांड जैसा हो जाता है और जनसमूह की उपस्थिति आवश्यक हो जाती है।

इसी प्रकार यह कल्पना कि शाही घराने के व्यक्तियों की प्रकृति अन्य लोगों की अपेक्षा रहस्यात्मक रूप से भिन्न होती है, अपने को बनाए रखने के लिए श्रोतासमूह, जुलूस और राजस्वागत की अपेक्षा रखता है। समाज के आरंभ से व्यंग्यकार राजा रानियों की अन्तरंगता के साथ वर्णन करने में लिप्त रहे हैं और उन्होंने मजे लेकर दिखलाया है कि किस प्रकार शाही शान-शौकत के उपकरण मूर्खतापूर्ण बन जाते हैं, यदि काल्पनिक आतंकमय स्वीकृति देने के लिए वहाँ भीड़ नहीं होती।

रंगमंच की प्रकृति उत्सवपरक होती है। अनुकूल जीवन ऊँची शक्तियों तक उठाया गया जीवन बन जाता है। प्रहसन के प्रसंग में इन छलपूर्ण आश्चर्यों, धोखों और अप्रत्याशित दुर्घटनाओं की शक्तियाँ इतनी अधिक जीवनमय हो उठती हैं कि वस्तुतः एकाकी या अपने को एकाकी अनुभव करने वाले दर्शक के लिए इतनी अधिक घटनाओं का ढाँचा अनिवार्य रूप से कृत्रिम हो उठेगा और यह प्रयास उसे खोखला तथा अनुचित प्रतीत होने लगेगा। त्रासदी के प्रसंग में पीड़ा एवं आशंकाओं का संग्रह उसके लिए विश्वसनीयता खो देगा। सभी अभिनेता अच्छी तरह जानते हैं कि ड्रेस रिहर्सल या मुख्य मंचन के समय मुट्ठीभर दर्शकों के सामने अभिनय करना कितना परेशानीपूर्ण होता है। अपनी रुचि शुद्ध कारीगरी तक सीमित रखकर मुश्किल से अभिनय हो पाता है। अन्तिम रिहर्सलों में यह उक्ति अक्सर सुनी जाती है :—'यह नाटक अब प्रेक्षक समुदाय का भूखा है।'

रंगकला समूहमन को संबोधित होती है, इस तथ्य से कई परिणाम निकलते हैं :

१. समूहमन की स्थिति स्तरों की निम्नगामिता नहीं तो रुचियों के क्षेत्रों का विस्तार तो आवश्यक बना ही देती हैं। दूसरी कलाएँ तो आराम के साथ प्रशिक्षित कला-रसिकों के ऐसे ग्राहक समुदाय को लक्ष्य मानकर चल सकती हैं जिनकी रुचि जीवन के किन्हीं अति दुर्लभ पहलुओं के चित्रण में हो। किंतु नाटककार के लिये तो ऐसी घटनाओं का प्रदर्शन निषेध है जिसके लिये दर्शकवृंद में विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा हो। जैसे इतिहास की किसी घटना का विवरणयुक्त चित्रण या नाटक के पात्रों की पर्याप्त सामान्य रुचि से रहित मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ जो बहुसंख्यक समुदाय में तादात्मीकरण की भावना न जगा सकें। गेटे के 'फौस्ट' के दूसरे भाग में 'कागजी मुद्रा' के सिद्धांतों से संबंधित लम्बे

लम्बे गद्यांश भरे पड़े हैं। शेक्सपीयर की कृति 'टाइमन आव एथेंस' में 'मानव के प्रति घृणा' की प्रकृति की विवेचना (जो मौलियर की तुलना में बहुत अधिक कठोर प्रहारात्मक है) मंच पर कभी सफलता नहीं पा सकी। विषय वस्तु के क्षेत्र में नाटककार यह सीमा स्वीकार करता है और अनुभव करता है। समूह-मन उस पर जिम्मेदारी डालता है कि वह बहुसंख्यक समुदाय की समझसीमा के भीतर की सामग्री का ही प्रयोग करे।

२. समूहमन की उपस्थिति रंगकला में एक और आवश्यकता को जन्म देती है—अग्रगामी गति।

मैतरलिंक ने कहा था जनता के सामने जो बहुत से नाटक उपस्थित किए जाते हैं उनसे कहीं अधिक नाटकीयता मेज के पास बैठे हुए बूढ़े आदमी के दृश्य में होती है। अपनी इस उक्ति में वह 'नाटक' शब्द के विविध अर्थों से उलझ रहा था। यदि नाटक का यह अर्थ लिया जाए कि यह जीवन की विविधता तथा महत्व का गहराई के साथ सघनीकृत रूप है तो उसका कथन अच्छी तरह औचित्यपूर्ण हो सकता है, किंतु यदि नाटक से उसका अर्थ दर्शकसमूह के समक्ष रंगमंचीय उपस्थितिकरण से था तो वह गलती पर था। रंगमंच पर नाटक अग्रगामी गति या क्रियाशीलता से अविच्छेद्य है।

'प्लेटो' के कथोपकथन, गाबिनो के कथोपकथनों की सुंदरमाला 'ल रिनेसा', और लैंडोर की काल्पनिक बातचीत को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के कई प्रयास किए गए किंतु सब बेकार साबित हुए। समूहमन में निहित कुछ खास चीज के कारण और काल्पनिक भूमिका ग्रहण करने तथा रंगसज्जित होने में निहित प्रत्याशा के दबाव मात्र से क्रियाशीलता की अपेक्षा आवश्यक हो उठती है—ऐसी क्रियाशीलता की जो तर्क या बहस के आगे बढ़ने मात्र से कहीं अधिक हो।

रंगमंच छलावा की दुनियाँ है

यह रूढ़ियों पर जीवित रहता है। रूढ़ि सहमति युक्त धोखा है, स्वीकृत झूठ।

उदाहरण—'मीडिया' के प्रथम मंचन में उस स्थल पर विचार कीजिए जिसमें मीडिया अपने बच्चों की हत्या करने की बात सोचती है। प्राचीन काल की एक अनुश्रुति से पता लगता है कि प्रेक्षकगण इस प्रसंग से इतने अधिक मर्माहत हुए कि अच्छी खासी गड़बड़ी फैल गई।

उस प्रसंग में निम्नलिखित रूढ़ियाँ निहित थीं :—

१—मीडिया का अभिनय पुरुष ने किया था।

२—वह अपने चेहरे पर एक बड़ा मुखौटा लगाये था। मुखौटे के होठों में स्वरों को तीव्र करने के लिये ध्वनिप्रणाली बनी थी। पैरों में वह आधाफुट ऊँचे तल्ले वाले जूते पहने था।

३—उसके वस्त्राभूषण इस प्रकार परिकल्पित किए गए थे कि रूढ़ि की सहायता से वे पौर्वात्य कुल के शाही परिवार की रमणी का संकेत देते थे।

४—संवाद छंदों में बँधे थे। संवाद के प्रसंग में कविता सहमतियुक्त झूठ है।....

५—पंक्तियाँ गाने के ढंग से पढ़ी जा रही थीं। संवाद के प्रसंग में गीतिनाट्य में भी यह स्वीकृत झूठ निहित रहता है।

आधुनिक रुचि कहेगी, यह प्रसंग और भी अधिक कारुणिक प्रभाव संप्रेषित कर सकता यदि मीडिया की तरह की ही किसी स्त्री ने इस भूमिका में अभिनय किया होता और अपना मुखमंडल खुला रखा होता जिससे उसके अनुभूत संवेग प्रदर्शित हो पाते। किंतु यूनानियों के लिये इस बात में कोई छल नहीं था कि मीडिया मंच पर है। मुखौटा, वस्त्राभूषण और रंगभाषण की शैली, सब कुछ प्रतीकों का क्रम था जिसकी व्याख्या प्रेक्षक कर लेते थे और अपने मन में उनका पुनः संयोजन करते थे। प्रत्येक प्रेक्षक के कल्पना-जगत में मीडिया की पुनःसर्जना होती थी।

रंगमंच का इतिहास बतलाता है कि अपने महानतम युगों में रंगमंच अधिकतम रंगमंचीय रूढ़ियों का प्रयोग करता था। स्वयं रंगमंच आधारभूत छलावा है। और यह इस तथ्य की स्वीकृति तथा अतिरिक्त छलों को बहुगुणित करने की ओर सचेष्ट रहता है। जब रंगमंच इस बात का प्रयास करता है कि रंगमंच पर उपस्थित व्यक्ति सचमुच के व्यक्ति लगें, कि वे सचमुच के अमुक - अमुक कमरों में रह रहे हैं कि अमुक - अमुक संवेगों की वे सचमुच अनुभूति कर रहे हैं तो यह विश्वसनीयता अर्जित करने की बजाय उसे खोने लगता है। आधुनिक युग इन तथ्यों पर उदारता के साथ हंस उठता है कि रासां और कार्नीले के नाटकों में प्राचीनयुग के देवता और नायक चौदहवें लुई के दरबारियों की तरह के वस्त्राभूषण धारण करते थे, कि एलिजाबेथ युगीन नाटकों में दृश्यपीठ की जगह सूचनापट्टों पर स्थान का नाम लिख कर उससे प्रेक्षकों को अवगत कराया जाता था, और कि चीनी रंगमंच पर अभिनेता जब हाथ में चाबुक लेकर उसे फटकारता हुआ अपना शरीर हिलाता था तो दर्शक समझते थे कि वह घोड़े पर सवार है। तब भी ये युक्तियाँ अपरिष्कृत रंगस्थिति से उद्भूत नहीं हैं, बल्कि उन दिनों के प्रेक्षकों की कल्पना की जीवंतता तथा इस सहज-बोध पर आधारित है कि नाटक में कौन तत्व मूलभूत और कौन अमूलभूत हैं।

रंगरूढ़ियों के दो कार्य हैं :—

१—यह प्रेक्षकों की कल्पना को सहकारीक्रिया के लिए प्रेरित करती है और—

२—यह रंगक्रिया को विशिष्टता के धरातल से उठाकर सामान्य स्तर पर ले जाती है।

यह दूसरा पहलू पहले की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व का है।

यदि जूलियेट की भूमिका बिल्कुल जुलियेट जैसी ही कोई लड़की अभिनीत करती है जो संगमरमर की सीढ़ियों, कालीनों, शमादानों और फर्नीचर वाले सचमुच के

महल में विचरण करता है तो अनिवार्यतः यह प्रभाव भी पड़ता है कि ये घटनाएं इस एक विशिष्ट लडकी के जीवन में, एक विशिष्ट स्थान पर, और एक विशिष्ट कालखंड में घटित हुईं। किंतु एलिजाबेथीय युग में जब इसकी भूमिका किसी लड़के को दी जाती थी तो प्रश्न महज आधुनिक रुचि से अंतर का नहीं था। जब यह नाटक शेक्सपीयर के अभीष्ट रंगमंच पर खेला जाता है तो रंगमंच का रीतापन घटनाओं को विशिष्टता से मुक्त कर देता है और जूलियेट की रंग-अनुभूति प्रेममग्ना ऐसी सामान्य लड़की जैसी हो जाती है जो प्रत्येक देश, काल और भाषा की होती है।

रंगमंच निरंतर इसी सामान्यीकृत सत्य को कहने का प्रयत्न करता रहता है और छलावा का तत्व इसे पुनःशक्तिकृत करता रहता है। रंगमंच के झूठ, उसके छलावा से एक ऐसा सत्य उद्‌भूत होता है जो उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावकारी होता है क्योंकि उपन्यास अपने ही नियमों के अनुशासन से उसी क्रिया के संबंध में कहने तक सीमित रहता है जो कभी हो चुकी है–'एक समय की बात है'—'किसी समय'।

रंगमंच पर क्रियाएँ निरंतर वर्तमान काल में घटित होती रहती हैं

उपन्यास भूतकालिक क्रिया में लिखे जाते हैं। यह तो सच है कि उनके पात्र इस प्रकार चित्रित किए जाते हैं कि वे अपने वर्तमान के क्षण प्रतिक्षण को जीते प्रतीत होते हैं किंतु उपन्यासकार का लगातार आँखों देखा विवरण ('टेस धीरे-धीरे घाटी में उतरी', "अन्नाकैरिना हँस पड़ी"।) पाठकों को अनिवार्य रूप से इस तथ्य के प्रति सचेत रखता है कि ये घटनाएँ बहुत पहले घटी हैं और अब अतीत की हो चुकी हैं।

उपन्यास वर्तमान में दी गई अतीत की सूचना है। रंगमंच पर हमेशा अभी की स्थिति रहती है। इससे क्रिया को अभिवृद्धि युक्त जीवंतता प्राप्त होती है, जिसे अपनी कृति में नियोजित करने की उपन्यासकार व्यर्थ कामना किया करता है।

रंगमंच की यह स्थिति अपने साथ एक और महत्वपूर्ण तत्व ले आती है।

रंगशाला में हम किस्सागो के हस्तक्षेप का अनुभव नहीं करते। पात्रों के संवाद वाह्यतः बिल्कुल स्वतः उद्‌भूत रूप से चलते हैं।

नाटक घटित हो रही घटना है।

उपन्यास घटित घटना का किसी व्यक्ति द्वारा उपस्थित विवरण है।

नाटक होते रहने की क्रिया का दृश्य उपस्थितिकरण है।

उपन्यास सर्वज्ञ होने का दावा करने वाले किसी व्यक्ति की यह स्थापना है कि ऐसा हो चुका है।

बहुत से नाटककारों ने रंगमंच पर उस उद्घोषक की अनुपस्थिति के प्रति दुख और असन्तोष व्यक्त किया है जिसका अपना दृष्टिकोण होता है, जिसमें चरित्रों के व्यवहारों के विश्लेषण की क्षमता होती है, जिसे हस्तक्षेप करने और अतीत की या रंगमंच पर न दिखलाई जाने वाली समानांतर क्रियाओं के संबंध में और भी तथ्य सूचित करने का अवसर प्राप्त होता है और सबसे बड़ी बात तो यह कि जो क्रियाओं के महत्व पर बल देता है और उससे नैतिक निष्कर्ष निकालने का कार्य करता है। रंगमंच के इतिहास के कुछ युगों में वह कोरस, प्रोलोग, एपीलोग अथवा रेजन्योर के रूप में भी मौजूद रहा है। किंतु निश्चय ही यह अनुपस्थिति नाट्यविधा को एक अतिरिक्त शक्ति प्रदान करती है, साथ ही रचनाकार के कौशल पर अधिक जिम्मेदारी भी डाल देती है। नाटककार की यह जिम्मेदारी हो जाती है कि कथा-उपखंडों और संवादों के चयन द्वारा नाटक को इस प्रकार सह-संयोजित करे कि, वह भले ही न दिखाई पड़े उसका दृष्टिकोण और उसका अनुशासक अभीष्ट दर्शकों के अवधान पर छा जाए—किसी नारे या सैद्धांतिक स्थापना के रूप में नहीं, किन्तु स्वयंसिद्ध सत्य और अनिवार्य निष्पत्ति के रूप में।

कल्पनाशील कथावर्णन—आत्माओं और भाष्यों की सृष्टि और चाहे जो हो, एक दार्शनिक की दृष्टि में ऐसी क्रिया नहीं है जिसका विरोध न किया जा सके।

इसका औचित्य इस तथ्य में निहित है कि एक मन से दूसरे मन तक विचारों का संप्रेषण अनिवार्यतः एक ऐसे बिंदु पर पहुँच जाता है जहाँ उद्घाटन उदाहरण में, नीतिकथा में, रूपक में, साध्यावसानकता में, और मिथक में बदल जाता है।

यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि जब अफलातून अपने विचार-विवर्तन की ऊँचाइयों पर पहुँचा और ज्ञान तथा मानव-प्रकृति के संघटन के सिद्धांतों को संप्रेषित करने की कोशिश करने लगा तो वह किस्सागोई के दौर से गुजरने लगा और 'गुहा तथा सारथी' के मिथकों द्वारा बात कहने लगा, और यह भी कि सभी महान धर्मगुरु अपनी गहनतम अन्तः प्रेरणाओं को संप्रेषित करने के साधन के रूप में निरंतर नीति उपकथाओं का आश्रय लेते रहे हैं।

कल्पनाशील कथावर्णन को रंगमंच उसकी उच्चतम संभावनाएँ प्रदान करता है। इसमें बहुत सी कमियाँ भी हैं और इसकी जीवंतता ही उपयोग की स्थिति में केन्द्रभ्रष्टता तथा महत्वहीन चीजों के विस्तार में बदल जाती है। किन्तु यह याद रखना अच्छा होगा कि, जिन युगों को बाद में महान युग कहा गया, उनमें रंगमंच ही सर्वाधिक ऊँचाइयों तक उठ सका था कि पेरिक्लीज का एथेंस तथा एलिजाबेथ, फिलिप द्वितीय एवं लुई चौदहवें के राज्यकाल के युग वे युग भी थे जिन्होंने विश्व को अब तक के महानतम नाटक भी दिये।

●

काव्य और नाटक

टी० एस० इलियट

10616

विगत तीस विचित्र वर्षों की अपनी आलोचनात्मक कृतियों का पुनरवलोकन करते हुए मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि चाहे शेक्सपीयर के समकालीनों की कृतियों की परीक्षा करते हुए अथवा भविष्य की संभावनाओं पर विचार करते हुए मैं लगातार नाटक को अपना विषय बनाता रहा हूँ। हो सकता है कि इस विषय पर मेरी बात सुनते-सुनते लोग थक गए हों। किंतु मुझे लगता है, जीवनभर इस विषय के विभिन्न पहलुओं पर रचना करते हुए मेरे दृष्टिकोण, मेरे बढ़ते हुए अनुभवों के साथ-साथ बराबर संशोधित और अभिनव होते रहे हैं। इसीलिए अपने प्रयोग के प्रत्येक सोपान पर मैं स्थिति की ताजे रूप से परीक्षा करने के लिए विवश होता रहा हूँ।

जैसे-जैसे मैं काव्य नाटक के औचित्य की शर्तों और समस्याओं के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करता गया वैसे-वैसे मेरे सामने न केवल यही स्पष्टतर होता गया कि मैं क्यों इस विधा में लिखता हूँ बल्कि इसे अपने स्थान पर पुनः स्थापित करने के लिए अधिक सामान्य कारणों-तर्कों को भी ढूंढ़ सका। और मैं सोचता हूँ कि यदि इन समस्याओं और शर्तों पर मैं कुछ कहूँ तो वह ऐसा हो जिससे दूसरों के सामने यह बात और भी स्पष्ट रूप से आ सके कि क्या काव्यनाटक तात्त्विक रूप से प्रेक्षकों को कुछ ऐसा प्रदान कर सकता है जो गद्यनाटक नहीं कर सकता और यदि प्रदान कर सकता है तो क्यों? क्योंकि मैं तो यह मानकर चल रहा हूँ कि यदि काव्य केवल सजावट है, अतिरिक्त अलंकरण है, और यदि वह लोगों को नाटक देखने के साथ ही साथ साहित्यिक स्वाद और कविता सुनने का आनंद मात्र प्रदान करता है तो वह बिलकुल सतही चीज है—बेकार। इसे नाटकीय रूप से सार्थक होना है, नाटक विधा में बैठायी गई सुंदर कविता मात्र बनकर नहीं रह जाना है। इससे यह बात निकलती है कि उस नाटक की रचना में पद्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिसके लिए गद्य नाटकीय रूप से उपयुक्त है। इससे यह बात भी निकलती है कि श्रोता का ध्यान नाटकीय क्रियाओं में इतना संलग्न हो जाय, चरित्रों के बीच चलनेवाले स्थिति-क्रम के कारण उसका संवेग इतना उद्‌बुद्ध हो जाय कि उसकी चेतना में केवल नाटक रहे और वह नाटक के माध्यम के प्रति पूर्णरूप से सचेत न हो पाए।

रंगमंच पर चाहे हम गद्य का प्रयोग करें चाहे पद्य का वे दोनों ही किसी उद्देश्य के साधन मात्र हैं। एक दृष्टिकोण से दोनों के बीच अन्तर उतना ज्यादा नहीं है जितना हम प्रायः सोच लेते हैं। उन गद्य नाटकों में जो अब भी जीवित बच गये हैं, जो बाद की पीढ़ियों द्वारा पढ़े और अभिनीत किए जाते रहे हैं, चरित्रों की बातचीत के लिए जिस गद्य का प्रयोग किया गया है वह अपनी अव्यवस्था,

अपने अपूर्ण वाक्यों, शब्द टटोलने की अपनी प्रवृत्ति, और संभवतम अनुरूपता की अपनी निरंतर चेष्टा को लेकर भी अपने सर्वोत्तम रूप में शब्दावली, वाक्यविन्यास, और सामान्य बातचीत की लय के दृष्टिकोण से वास्तविक जीवन से उतना ही दूर है जितना पद्य। पद्य की हीं भाँति यह लिखा जाता है और बार बार दुहराया जाता है। शेक्सपीयर और एलिजाबेथ युगीन दूसरे नाटककारों को छोड़कर जो एक ही नाटक में गद्य और पद्य दोनों मिलाते रहे हैं, नाटक के क्षेत्र में हमारे दो महान गद्य शैलीकार कांग्रीव और बर्नार्डशा हैं।

अपने चरित्रों को पूरी स्पष्टता के साथ अलग अलग करने के प्रयास के बावजूद शॉ या कांग्रीव के किसी चरित्र के संवादों की हम परीक्षा करें तो पायेंगे कि उनमें एक ऐसी व्यक्तिगत लय है जिसे पहचानने में हमें कोई गलतफहमी नहीं हो सकती, जो किसी गद्यशैली का चिह्न है और जिसे अत्यन्त सिद्ध वार्ताकार, जो इस दृष्टिकोण से प्रायः स्वगतभाषणकार हीं होते हैं, अपनी बातचीत में किंचित व्यक्त कर सकते हैं। हम सबने अक्सर मोलिएर के उस पात्र के विषय में सुना है जिसने यह सुनकर कि वह गद्य बोलता रहा है आश्चर्य प्रकट किया। किन्तु वास्तव में एम० जूरादें ही सही था, उसका बुद्धिमान परामर्शदाता अथवा उसका स्रष्टा नहीं। वह गद्य नहीं बोलता था, वह तो सिर्फ बातचीत करता था। मैं तिहरी विभाजक रेखा खींचना चाहता हूँ, गद्य और पद्य के बीच तथा अपनी उस सामान्य बातचीत के बीच जो अधिकतर गद्य या पद्य दोनों से निम्नस्तर की होती है। अतः यदि आप इसे इस दृष्टिकोण से देखें तो ज्ञात होगा कि रंगमंच के ऊपर गद्य भी उतना ही कृत्रिम है जितना पद्य : अथवा प्रकारान्तर से पद्य भी उतना ही स्वाभाविक हो सकता है जितना गद्य।

किन्तु किसी नाटक में बोले गए सुन्दर गद्य को सुनकर श्रोता समाज का संवेदनशील सदस्य जब उसे सामान्य बातचीत के स्तर से कुछ ऊपर समझ कर आनन्दित होता है तब वह यह नहीं अनुभव करता कि वह उसकी अपनी रोजमर्रे की भाषा से बिल्कुल अलग है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो उसके और रंगमंच पर उपस्थित कल्पित चरित्रों के मध्य एक अवरोध बन जायगा। दूसरी ओर पद्यनाटक की अनुभूति बहुत से लोग इस अन्तर की चेतना के साथ करते हैं। यह तो दुर्भाग्यपूर्ण है ही कि वे पद्य से विमुख होते हैं किंतु जब वे नाटक की भाषा का अलग अलग आनन्द लेने के लिए तैयार होकर पद्य नाटक की ओर आकर्षित होते हैं तब भी स्थिति निराशाजनक ही रहती है। चाहे गद्य में हो चाहे पद्य में नाटकीय संवाद की शैली और लय का प्रभाव मुख्यरूप से अचेतन ही होना चाहिए।

इससे सिद्ध होता है कि सामान्यतया एक ही नाटक में गद्य और पद्य के मिश्रण को बचाना चाहिए। प्रत्येक स्थिति परिवर्तन श्रोता को एक झटके के साथ माध्यम के

प्रति सचेत कर देता है। किंतु जब लेखक यह झटका उत्पन्न करना चाहता है, श्रोता समाज को झटके के साथ यथार्थ की एक भूमि से उठाकर दूसरी भूमि पर पहुँचाना चाहता है तब बात दूसरी है। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि इस प्रकार का स्थिति-परिवर्तन एलिजाबेथयुगीन दर्शक सरलतापूर्वक ग्रहण कर लेते थे क्योंकि उनके कानों को गद्य और पद्य दोनों स्वाभाविक प्रतीत होते थे। वे एक ही नाटक में निम्न प्रहसन और भड़कीली भाषा दोनों चाहते थे। उन्हें यह उचित प्रतीत होता था कि अपेक्षाकृत अधिक छोटे और ग्रामीण चरित्र घरेलू भाषा में बातचीत करें और उच्चवर्ग के लोग पद्य में गरजें तरजें। किंतु शेक्सपीयर के नाटकों में भी कतिपय गद्यखंड उस विरोधात्मक प्रभाव के लिए रचे गये हैं जो अपनी उपलब्धि में कभी पुराने नहीं पड़ सकते। मैकबेथ नाटक में दरवाजा खटखटाने वाला स्थल उदाहरण के रूप में ऐसे समय सबके मन में आ जाता है; लेकिन बहुत दिनों से मुझे ऐसा प्रतीत होता रहा है कि हेनरी चतुर्थ में गद्यात्मक तथा पद्यात्मक दृश्यों की तदनंतरता सामान्य जीवन और उच्च राजनीति की अलग अलग दुनियाँ के बीच आयरनीमूलक विरोध की ओर इंगित करती है। प्रेक्षक तो संभवतः यही सोचते थे कि उन्हें अपना पूर्ववत ऐतिहासिक नाटक निम्नवर्गीय जीवन के मनोरंजक दृश्यों से सजकर मिल रहा है। फिर भी पहले और दूसरे भाग के गद्य-दृश्य पर्सीज के विद्रोह में भाग लेने वाले दलों के मुखियों की दम्भपूर्ण महत्वाकांक्षाओं पर तिक्त आलोचना की अनुभूति प्रदान करते हैं।

जो भी हो आज पद्यनाटक में जो कमियाँ नजर आती हैं उन्हें देखते हुए मेरा विश्वास है कि गद्य का प्रयोग वास्तव में अत्यंत सीमित रूप से कभी कदाच ही करना चाहिए, कि हमारा उद्देश्य पद्य के एक ऐसे रूप तक पहुँचना होना चाहिए जिसमें वह सब कुछ कहा जा सके जिसे हम कहना चाहते हैं, कि जब हमारे सामने ऐसी स्थितियाँ आती हैं जो पद्य के लिए दुर्वह हैं तो इसका अर्थ यही है कि हमारे पद्य का रूप अनमनीय है। और यदि ऐसे दृश्य हमारे सामने आयें जिन्हें हम पद्य में उपस्थित न कर सकें तो ऐसी स्थिति में या तो हम अपने पद्य को विकसित करें अथवा उन्हें बिल्कुल छोड़ दें। हमें तो श्रोताओं को पद्य के प्रति उस सीमा तक अभ्यस्त कर देना है जहाँ उन्हें पद्य की चेतना ही न रह जाय और गद्य संवाद रखने का अर्थ यही होगा कि श्रोताओं का ध्यान स्वयं नाटक से हटकर अभिव्यक्ति के माध्यम की ओर चला जाय। किंतु यदि हमारे पद्य की सीमा इतनी विस्तृत हो कि उसमें कही जाने वाली सभी बातें कही जा सकें तो इसका अर्थ यह होगा कि वह हमेशा काव्य नहीं रह पायेगा। यह तभी काव्य बन सकेगा जब नाटकीय स्थिति सघनता के उस बिंदु पर पहुँच जाय जहाँ स्वाभाविक अभिव्यक्ति काव्य रूप में ही हो सके क्योंकि तब काव्य ही एक मात्र ऐसी भाषा रह जाती है जिसमें संवेगों की अभिव्यक्ति हो सकती है।

वास्तव में किसी भी ऐसी लंबी कविता के लिए जो एकरसता से बचना चाहती है यह आवश्यक है कि वह घरेलू चीजों के विषय में, उच्च से निम्नगामिता की हास्यास्पद स्थिति का बिना अनुभव कराये, उसी प्रकार कह सके जिस प्रकार बिना किसी अतिरंजना की अनुभूति कराए ऊँची से ऊँची उड़ानें ले सके: और नाटक में तो यह और भी अधिक महत्वपूर्ण है—विशेष रूप से ऐसे नाटक में जिसका संबंध समकालीन जीवन से हो। पद्य नाटक के अधिक नीरस और शुष्क भाग को गद्य की अपेक्षा पद्य में ही लिखने का कारण श्रोताओं का ध्यान इस बात की अनुभूति से बचाना मात्र नहीं है कि वे नाटक में अन्यत्र काव्य सुनते रहे हैं। इसका उद्देश्य यह भी है कि श्रोताओं के ऊपर पद्य की लय का प्रभाव पड़े बिना उसकी सचेतन अनुभूति के। शेक्सपीयर के एक दृश्य का संक्षिप्त विश्लेषण इस तथ्य के लिए उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है। हेमलेट के आरंभ-दृश्य को लें जिससे सब लोग परिचित हैं। ऐसा सुसंघटित आरंभ दृश्य किसी दूसरे नाटक में मिलना कठिन है।

रंगशाला में इस दृश्य को देखते समय जो चीज हमारी निगाहों से चूक जाती है वह है शैली को विपुल विविधता। इसमें कुछ भी सतही या बेकार नहीं है और काव्य की एक भी पंक्ति ऐसी नहीं है जो नाटकीय मूल्य की दृष्टि से उचित न हो। आरंभ की बाइस पंक्तियों का निर्माण अत्यंत सादे शब्दों को अत्यंत घरेलू मुहावरों के साथ लेकर किया गया है। अनेक वर्षों तक रंगमंच पर काम करने और कई नाटक लिख चुकने के बाद ही शेक्सपीयर इन बाइस पंक्तियों की रचना कर सका था। इससे पूर्व की उसकी कृतियों में इतनी सादगी और सटीकता से परिपूर्ण कोई अंश नहीं है। पहले उसने अपने किंगजान नामक नाटक में चरित्र-पात्र फालकनब्रिज के स्वगत भाषण के लिए वार्तालापात्मक लोक भाषा में पद्य लिखा और बाद में रोमियो ऐंड जूलियेट की परिचारिका के लिए। संक्षिप्त उत्तर-प्रत्युत्तरों के संवाद तक इसे स्वाभाविक रूप से ले आना काफी आगे का कदम था। कोई कवि तब तक नाटकीय पद्य पर अधिकार नहीं कर सकता जबतक हैमलेट की इन पंक्तियों के समान पारदर्शी पंक्तियाँ लिखने की क्षमता उसमें न उत्पन्न हो जाय। इसमें आप सचेतन रूप से काव्य नहीं सुनते बल्कि काव्य का अर्थ सुनते हैं। हैमलेट नाटक के विषय में बिना किसी पूर्व जानकारी के यदि आप पहली बार इसे सुनें तो आपका ध्यान भी इस ओर नहीं जायेगा कि बोलने वाले गद्य में बोल रहे हैं या पद्य में। पद्य गद्य से भिन्न प्रभाव हम पर डाल रहा है, लेकिन उस समय हमें जिस चीज की चेतना रहती है वह है तुषारपूर्ण रात्रि, युद्धस्थलों पर पहरा देते हुए सैनिक अधिकारी और अशुभ कार्य का पूर्व छायाभास। मैं यह नहीं कहता कि यहाँ ऐसी स्थिति के लिए अवसर नहीं है जिसमें आनंद का एक स्रोत सुन्दर काव्य का श्रवण भी हो सकता है-शर्त यह है कि लेखक ऐसे स्थल पर उसे नाटकीय अनिवार्यता प्रदान करे।

और जब हम किसी नाटक को कई बार देखते तथा बीच-बीच में पढ़ते भी हैं तब हम उन साधनों कौशलों का विश्लेषण करने लगते हैं जिनके द्वारा कृतिकार ने प्रभाव उत्पन्न किये हैं, किंतु इस दृश्य को देखते सुनते समय इसकी अभिव्यक्ति के माध्यम के प्रति हम अचेत ही रहते हैं।

परिस्थिति और पहरेदारों के चरित्र के उपयुक्त ही (किन्तु नाटक में उनके कार्यों की आवश्यकता से अधिक चरित्र का उद्घाटन नहीं होता) आरंभ में संक्षिप्त और रूखे शब्दोच्चारण के बाद होरेशियो और मैंकिलस नामक दरबारियों के आगमन के साथ-साथ पद्य धीरे-धीरे मंथर गति की ओर बढ़ जाता है :

होरेशियो सेज टिज बट आवर फैंटसी,............... और शाही व्यक्तित्व वाले राजा के प्रेत के आविर्भाव के साथ ही गति पुन: बदलकर गंभीर और अनुघोषमय हो उठती है :

ह्वाट आर्ट दाउ, दैट यूजर्पस्ट दिस टाइम आव नाइट,...................(और प्रसंगवश इस बात पर भी ध्यान दीजिये कि किस प्रकार 'यूजर्प' क्रिया के उपयोग द्वारा कथानक का पूर्वअनुमान प्रेषित किया गया है) और शाहीपन (राजन्यता) की व्यंजना एक संदर्भोल्लेख द्वारा की गई है जो हमें याद दिलाता है कि यह प्रेत किसका है :

सो फ्राउंड ही वंस, ह्वेन, इन ऐन ऐंग्री पार्ले,
ही स्मोट द स्लेड्डेड पोलाक्स आन द आइस।

प्रेत के पुनरवतरण पर होरेशियो जब उससे बोलता है तब उसके संवाद की गति झटके के साथ स्टैकेटो में बदल जाती है, यह लय इन शब्दों के साथ फिर बदलती है :

वी डू इट रांग, बीइंग सो मैजेस्टिकल,
टु आफर इट द शो आव वायलेंस,
फॉर इट इज, ऐज द एयर, इनवलनरेबल,
ऐंड आवर वेन ब्लोज मैलिशस माकरी।

मैंकिलस के इन शब्दों के साथ दृश्य अवसान पर पहुँचता है :

इट फेडेड आन द क्रोइंग आव द काक
सम से दैट एवर, गेंस्ट दैट सीजन कम्स
ह्वेरइन आवर सेवायर्स बर्थ इज सेलिब्रेटेड
द बर्ड आव डानिंग सिंगेथ आल नाइट लांग,...............

और होरेशियो का उत्तर :

सो हैव आइ हर्ड ऐंड डू इन पार्ट बिलीव इट,
बट लुक, द मौर्न, इन रस्सेट मेंटल क्लैड,

वाक्स ओ' एर द डियु आव यान हाई ईस्टर्न हिल,
ब्रेक वी आवर वाच अप,

यह महान काव्य है, और यह नाटकीय भी है, किन्तु काव्यात्मक और नाटकीय होने के साथ ही साथ यह कुछ और भी है। इसका विश्लेषण करने पर एक प्रकार की संगीतात्मक योजना का भी पता लगता है जो नाटकीय गति के साथ एकीकृत है और उसे पुनः शक्तिकृत करती है। हमारी गैरजानकारी में ही इसने हमारे संवेग की गति को नियंत्रित और तीव्र किया है। ध्यान दीजिये कि मैंकिलस के इन अंतिम शब्दों द्वारा चेतना में काव्यत्व का सायास स्वल्प उदय होता है। जब हम इन पंक्तियों को सुनते हैं :

बट, लुक, द मौर्न, इन रस्सेट मैंटल क्लैड,
वाक्स आ एर द डियु आव यान हाई ईस्टर्न हिल,

तब क्षण भर के लिए हम चरित्र से परे उठ जाते हैं, किंतु इस परिस्थित में होरशियो के मुँह से निकले हुए शब्दों के संदर्भ में अनुपयुक्तता की किसी अनुभूति के बिना ही। इस दृश्य के स्थितिपरिवर्तन नाटकीय काव्य के संगीत के नियमों का पालन करते हैं। ध्यान दीजिए, होरेशियो की जिन दो पंक्तियों का उद्धरण हमने दुबारा दिया है उनके ठीक पहले अत्यन्त सादी बात की एक पंक्ति आती है जिसे गद्य या पद्य किसी में भी लिखा जा सकता था :

सौ हैव आई हर्ड एंड डू इन पार्ट बिलीव इट

और इनके तुरत ही बाद आकस्मिक रूप से वह आधी पंक्ति कहता है जो मुश्किल से रंगमंच-निर्देश भर के अलावा और कुछ लगती है :

ब्रेक वी आवर वाच अप,

ऐसे ही विश्लेषण द्वारा महान काव्यनाटक में दुहरी योजना की इस समस्या का अध्ययन करना रोचक होगा—वह योजना जिसका परीक्षण रंग-तंत्र (स्टेज क्रैफ्ट) अथवा संगीत के दृष्टिकोण से किया जा सकता है। किन्तु मैं सोचता हूँ कि इसी एक दृश्य की परीक्षा यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है कि पद्य केवल रूपात्मकता अथबा अतिरिक्त अलंकरण मात्र नहीं है बल्कि यह नाटक का सघनीकरण करता है। इससे हमारे ऊपर पद्य के अचेतन प्रभाव के महत्व का भी पता लगता है। और अंतिम बात यह कि मैं नहीं सोचता कि इस प्रभाव का अनुभव श्रोता समाज के वे ही सदस्य कर पाते हैं जिन्हें काव्य अच्छा लगता है। इसका अनुभव तो वे भी करते हैं जो केवल नाटक देखने के लिए ही जाते हैं। कविता पसन्द न करने वाले लोगों से मेरा अर्थ ऐसे व्यक्तियों से है जो काव्यानंद प्राप्त करने के लिए कभी कविता की पुस्तक लेकर नहीं बैठते। ऐसे लोग भी पद्यनाटक देखने जाएँ तो काव्य से

अवश्य प्रभावित हो सकें और इन्हीं श्रोताओं को ध्यान में रखकर काव्यनाटक के रचयिता रचना करें।

यहाँ मैं दो शब्द उन नाटकों के विषय में भी कह दूँ जिन्हें हम काव्यात्मक कहते हैं—हालाँकि लिखे वे जाते हैं गद्य में। जान मिलिंगटन सिंज के नाटक अपनी कुछ विशेष हैसियत रखते हैं, क्योंकि उनकी आधार भूमि गाँव के उन लोगों का विशेष जीवन है जिनकी भाषा लय और बिम्ब दोनों की दृष्टि से स्वाभाविक रूप से काव्यात्मक है। मेरा विश्वास है कि उन्होने आयरलैंड के गाँववालों के मुँह से सुने हुए वाक्यखंडों तक को अपने नाटकों में समो लिया है। सिंज की भाषा का उपयोग वहीं के लोगों पर लिखे गये नाटकों के सिवा अन्यत्र नहीं हो सकता। हम लोग मैतरलिंक के उन गद्य नाटकों से सामान्य निष्कर्ष अधिक निकाल सकते हैं जो मेरी युवावस्था में तो खूब प्रशंसित होते थे लेकिन जिन्हें अब मुश्किल से ही कोई पढ़ता है। एक दूसरे रूप से इन नाटकों की विषयवस्तु सीमित है, और यह कहना कि इनका चरित्रचित्रण मद्धिम है तथ्य को कुछ कमकर कहना है। मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि इनमें कुछ काव्यात्मक गुण हैं। किंतु गद्य में काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए नाटककार को इतनी अधिक प्रासगिकता के साथ काव्यात्मक होना पड़ता है कि उसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है। सिंज ने उन चरित्रों को लेकर अपना नाटक लिखा जो अपने मूल रूप में जीवन में भी काव्यात्मक ढंग से बात करते हैं। इसी से उसके नाटकों के चरित्र कविता बोल कर भी सचमुच के यथार्थ व्यक्ति बने रहते हैं। गद्यकाव्य में लिखने वाले जिस नाटककार को यह सुविधा प्राप्त नहीं है उसे बहुत अधिक काव्यात्मक होना पड़ता है। पद्य में लिखे गये काव्य नाटकों की अपेक्षा गद्य काव्यात्मक नाटक काव्य-रूढ़ियों अथवा काव्यात्मक विषयवस्तु के संबंध में हमारी रूढ़भावनाओं द्वारा अधिक सीमित हो जाते हैं। सच तो यह है कि नाटकीय पद्य का उपयोग अत्यन्त तथ्यात्मक विषय-वस्तुओं के लिए भी किया जा सकता है जैसे शेक्सपीयर ने किया है।

येट्स की स्थिति मैतरलिंक अथवा सिंज से बिलकुल भिन्न है। मेरा विचार है कि नाटककार के रूप में उसके विकास का अध्ययन यह दिखला सकता हैं कि इस दिशा में कितनी दूर तक वह गया है और उसके अंतिमनाटकों को कितनी विजय प्राप्त हुई है। अपने प्रथम काल में उसने उन विषयों को लेकर अपने पद्य नाटक लिखे जो परंपरित रूप से पद्य के उपयुक्त विषय माने जाते थे। इन्हें उसने उस छंद में लिखा जो उसके उस आरंभिक काल में भी उसकी अपनी विशेष लय से समन्वित होने पर भी पौराणिक राजा रानियों को छोड़ कर वास्तव में किसी के लिए बातचीत का उपयुक्त रूप नहीं है। उसके मध्यकालीन नर्तकों के लिए लिखे गये नाटक बहुत सुन्दर हैं लेकिन वे पद्य में लिखने वाले नाटककार की किसी समस्या का हल नहीं

प्रस्तुत करते, वे गद्य काव्यात्मक नाटक हैं जिनमें महत्वपूर्णस्थल पद्य में हैं। अपने अंतिम नाटक परगेटरी तक पहुँचने पर ही वह पद्य में संवाद लिखने की अपनी समस्या का हल प्राप्त कर सका और इस प्रकार उसने अपने सभी उत्तराधिकारियों को अपना कृतज्ञ बना लिया।

अब मैं अपने ही अनुभवों के आधार पर कुछ खोज-निरीक्षण करने का साहस कर रहा हूँ जिससे मुझे अपने नाटकों में अपने उद्देश्यों, अपनी असफलताओं और आंशिक सफलताओं पर टिप्पणियाँ करने में सहायता मिलेगी। यह मैं इस विश्वास के साथ कर रहा हूँ कि नई जमीन पर प्रयोग या अन्वेषण करने वाला व्यक्ति अपनी अनुसंधान-यात्राओं का लेखा-जोखा उपस्थित कर उनलोगों के लिए कुछ ऐसी उपयोगी बातें कह सकता है जो उसी क्षेत्र में उसका अनुसरण करेंगें और संभवतः उससे आगे जायेंगे।

जो बातें मैंने खोजीं उनमें पहली महत्वपूर्ण बात यह है कि जो लेखक वर्षों से लिखता आ रहा है और दूसरे प्रकार के पद्यों को लिखने में जिसे कुछ सफलता भी प्राप्त हो चुकी है, वह यदि पद्य नाटक लिखना चाहता है तो अपने पहले के कामों में वह जिस मानस-चौखटे का अभ्यस्त रहा है उससे भिन्न चौखटे में उसे काम करना पड़ेगा। मेरे विचार से दूसरे तरह का पद्य लिखते समय व्यक्ति मानों अपनी ही आवाज के संदर्भ में लिखता है। जब आप इसे स्वयं पढ़ते हैं तो आपको यह जैसा लगता है वही इसकी परीक्षा है। इस तरह के पद्य में तो आप स्वयं ही बोलते हैं। इसमें प्रेषणीयता का प्रश्न—पाठक इससे क्या पायेगा यह समस्या, कोई बड़ा प्रश्न नहीं है। यदि अपनी कविता आपको ठीक लगती है तो आपके पास इस आशा के सिवाय और कोई चारा नहीं है कि पाठक धीरे-धीरे इसे स्वीकार कर ही लेंगे। आप की कविता थोड़ी प्रतीक्षा कर सकती है, आरम्भ में कुछ थोड़े से सहानुभूतिशील और न्यायप्रिय समीक्षकों की स्वीकृति पर्याप्त है; कवि का सांगोपांग मूल्यांकन तो भविष्य के पाठकों पर निर्भर रहता है। किन्तु रंगशाला में तो प्रेषणीयता की समस्या तुरत आ खड़ी होती है। आप आयास पूर्वक पद्य दूसरों की आवाजों के लिए लिखते हैं, अपनी आवाज के लिए नहीं और आप को यह भी पता नहीं होता कि वे आवाजें किनकी होंगी। आप ऐसी पंक्तियाँ लिख रहे होते हैं जो अज्ञात और अप्रस्तुत प्रेक्षकों पर सद्यः प्रभाव डालेंगी, अज्ञात निर्देशक द्वारा प्रशिक्षित अज्ञात अभिनेता प्रेक्षकों के समक्ष जिनकी व्याख्या करेंगें और अज्ञात प्रेक्षकों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे लेखक के प्रति कोई पूर्व-अनुरक्ति दिखलाएगें। कवि अपना नाटक केवल उन प्रशंसकों के ही लिए नहीं लिख सकता जो उसकी अनाटकीय कृतियों से पहले से ही परिचित हैं और उसके नाम पर हर चीज का स्वागत करने के लिए तैयार हैं। उसे तो उन प्रेक्षकों को ध्यान में रखकर लिखना चाहिए जो रंगशाला के

लिए लिखने का साहस करने से पूर्व की उसकी सफलता को न तो जानते ही हैं और न परवाह ही करते हैं। और इस प्रकार उसे पता लगेगा कि वे बहुत सारी चीजें जिन्हें वह करना चाहता है और जिन्हें करना जानता है, यहाँ अप्रासंगिक हो उठती हैं। यहाँ तो प्रत्येक पंक्ति का निर्णय एक नये नियम, नाटकीय-प्रासंगिकता के नियम से करना पड़ता है।

जब मैंने मर्डर इन द कैथेड्रल लिखा था तो नौसिखुआ होने के नाते मुझे एक लाभ भी मिल गया था। मुझे एक ऐसा विषय मिल गया था जैसा पद्य के लिए सामान्यतया उपयुक्त समझा जाता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि पद्य नाटक का विषय या तो किसी पौराणिक कथा से लेना चाहिए अथवा किसी सुदूरवर्ती ऐतिहासिक युग से लिया जाना चाहिए जो वर्तमान से इतना दूर हो कि उसके चरित्रों से मानवीय स्वाभाविकता की अपेक्षा ही न हो और इस प्रकार वे पद्य में बातचीत करने की छूट प्राप्त कर सकें। चित्रोपम ऐतिहासिक वेषभूषा पद्य को बहुत अधिक ग्रहणीय बना देती है। और इससे भी बड़ी बात तो यह कि मेरा नाटक एक विशेष प्रकार के प्रेक्षकों के समक्ष निवेदित किया जाने वाला था—ऐसे गंभीर लोगों के प्रेक्षक समाज के समक्ष जो उत्सवों में जा हैं और जिनसे काव्य के निकट रह सकने की आशा की जाती है। हालाँकि इस अवसर पर जो कुछ उन्हें प्राप्त हुआ उसके लिए उनमें से कुछ संभवतः बिलकुल ही प्रस्तुत न थे। और सबसे बड़ी बात कि यह धार्मिक नाटक था और धार्मिक अवसर पर जो लोग जान-बूझकर धार्मिक नाटक देखने जाते हैं उनसे यह आशा की जातीं है कि वे धैर्य पूर्वक ऊबते रहें और इस भावना से संतोष प्राप्त करें कि उन्होंने एक यशस्वी कार्य किया है। इस प्रकार मेरा मार्ग बहुत सुगम हो गया था।

यह तो जब मैंने इस बात पर विचार करना आरंभ किया कि दूसरा नाटक मैं किस किस्म का लिखना चाहता हूँ तब मुझे अनुभव हुआ कि मर्डर इन द कैथेड्रल में मैं किसी सामान्य समस्या का हल नहीं प्रस्तुत कर सका हूँ, बल्कि मेरे दृष्टिकोण से तो यह नाटक बंदगली की तरह था। एक बात तो यह कि इस नाटक में भाषा की जो समस्या मेरे सामने आयी वह एक विशेष प्रकार की समस्या थी। सौभाग्यवश मुझे बारहवीं शताब्दी की वाग्भंगिमा में लिखने की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि यदि मैं नार्मनफ्रेंच और ऐंग्लोसैक्सन जानता होता तो भी वह मुहावरा अप्रेषणीय हो उठता। किंतु इसकी शब्दावली और शैली बिल्कुल आधुनिक बातचीत के स्तर की नहीं हो सकती थी—जैसा कि यूनानी नाटकों के चरित्रों और कथानकों को लेकर लिखे गये कुछ आधुनिक फ्रांसीसी नाटकों में किया जाता है। इसका कारण यह था कि मैं अपने प्रेक्षकों को एक ऐतिहासिक लोक में पहुँचाना चाहता था,

और पुरातन शब्दावली से काम नहीं चल सकता था। क्योंकि एकतो उससे गलत काल के व्यंजित होने की संभावना थी दूसरे मैं अपने प्रेक्षकों में स्थिति के समकालीन संदर्भ की भावना जगाना चाहता था। परिणाम स्वरूप मेरी शैली निर्विशेष होनी चाहिए थी जो न तो अतीत से जुड़ी हो और न वर्तमान से। जहाँ तक पद्य-रचना का संबंध है, अपने विकास के इस स्तर पर मैं केवल इतना जानता था कि मूल बात शेक्सपीयर की अनुध्वनि से बचना है क्यों कि मेरी धारणा बन चुकी थी कि उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों ने रंगमंच के लिए लिखने की कोशिश की तो उनकी असफलता का मूलकारण उनकी रंगमंचीय तकनीकों में नहीं बल्कि उनकी नाटकीय भाषा में निहित था, (अंग्रेजी के महानतम कवियों में से अधिकांश ने नाटक लिखने की कोशिश की है) उनकी इस असफलता का बहुत बड़ा कारण ब्लैंकवर्स के साथ उनका कठोरता से बंधे रहना था। अनाटकीय काव्य के लिए बहुत अधिक प्रयुक्त की जाने के कारण ब्लैंकवर्स की वह नमनीयता समाप्त हो चुकी थी जो बातचीत का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए उसमें होनी ही चाहिए। नियमबद्ध ब्लैंक वर्स की लय आधुनिक भाषा की गति से बहुत दूर जा चुकी थी। इसीलिए मैंने यह सोचा कि एवरीमैन के नमूने पर पद्य रचना करूँ। आशा थी कि इसकी ध्वनि की असामान्य बातें कुल मिलाकर लाभदायक ही सिद्ध होंगी। बहुत अधिक आयम्बिक (लघु गुरु) से बचते हुए अनुप्रास के थोड़े उपयोग और कभी कभी अप्रत्याशित रूप से अंत्यानुप्रास या तुक के प्रयोग ने मेरी पद्यरचना को उन्नीसवीं शताब्दी के समान बनने से बचाया।

इसीलिए मेरे दृष्टिकोण से मर्डर इन द कैथेड्रल के संवादों की पद्यरचना का केवल निषेधात्मक महत्व है। इसे उन सबसे बचने में तो सफलता मिली जिनसे बचना था किंतु यह कोई विधिक नवीनता न पा सका। संक्षेप में, यदि इसने आज के लिए पद्य में संवाद लेखन की कोई समस्या हल की तो वह केवल इस नाटक तक सीमित है और इससे मुझे वे सूत्र न प्राप्त हो सके जिनके सहारे मैं दूसरे प्रकार के नाटकों के लिए पद्य रचना कर सकूँ। अतः यहाँ दो समस्याएँ—जो वास्तव में एक ही समस्या है, बिना हल के ही रह जाती हैं। वे उन वाग्भंगिमाओं और छन्दों की समस्याएँ हैं जिनका उपयोग मैं सामान्य रूप से अपने उन नाटकों में कर सकूँ जिन्हें मैं भविष्य में लिखना चाहता हूँ। इसके बाद मुझे उन कारणों का भी पता लगा जिनसे मैं अपने इस नाटक में कोरस की सहायता पर इतना अधिक आश्रित रहा हूँ। इसके दो कारण थे जो उन परिस्थितियों में उपयुक्त थे। पहला तो यह कि नाटक की तात्त्विक क्रिया—ऐतिहासिक तथ्य, और मेरी उत्पाद्य सामग्री, दोनों कुछ सीमित से थे। इस बात के पूर्वअनुमान के साथ कि वह मार डाला जायगा एक आदमी घर आता है और मार डाला जाता है। मैं चरित्रों की संख्या नहीं बढ़ाना चाहता

था, मैं बारहवीं शताब्दी की राजनीति का इतिवृत्त नहीं लिखना चाहता था, मैं टेनीसन की भाँति थोड़ी सी आधारभूत सामग्री को लेकर बिना किसी विवेक के प्रक्षिप्त सामग्री भी नहीं डालना चाहता था (फेयर रोजामंड को संमिलित करके और यह संकेत करके कि अपने यौवन के आरंभ में बेकेट प्रेम में निराश हुआ था टेनिसन ने ऐसा ही किया था) मैं मृत्यु और शहीदपन पर अपने को केन्द्रित करना चाहता था। उत्तेजित और कभी-कभी उन्मादित सी हो उठने वाली उन स्त्रियों के कोरस को नाटक में सम्मिलित करने से, जो अपने संवेगों द्वारा क्रिया के महत्व को प्रतिबिंबित करती थीं, विस्मयकारी सहायता प्राप्त हुई। दूसरा कारण यह था कि रंगमंच के लिए प्रथमवार लिखने वाला कवि नाटकीय संवादों की अपेक्षा कोरस का पद्य लिखने में अधिक आसानी महसूस करता है। इसे कर सकने का मुझे निश्चय था और मैं समझता था कि स्त्रियों के रोदन द्वारा नाटकीय कमजोरी कुछ सीमा तक दूर हो जायेगी। कोरस के उपयोग ने मेरी रंगमंचीय तकनीकों को अधिक बलशाली बना दिया और मेरी कमजोरियाँ छिप गई। इसी से मैंने निश्चय किया कि अगली बार कोरस को मैं अपने नाटकों में और भी अधिक घनिष्टता के साथ समन्वित करने का प्रयत्न करूँगा।

मैं यह भी पता लगाना चाहता था कि गद्य के प्रयोग से एकदम बचना मैं सीख सकता हूँ या नहीं। मर्डर इन द कैथेड्रल में गद्य का प्रयोग जिन दो स्थलों पर किया गया है वहाँ पद्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता था। उस नाटक में मैं जिस प्रकार के संवाद – पद्य का प्रयोग कर रहा था उससे उन स्थलों पर प्रेक्षक निश्चय ही यह अखरने वाली अनुभूति करने लगते कि वे पद्य सुन रहे हैं। अत्यंत नियमित रूप से चर्च जाने वाले प्रेक्षकों को भी पद्य में किया गया उपदेश प्रवचन बिल्कुल अस्वाभाविक लगता। कोई भी आदमी इसे उपदेश प्रवचन के रूप में न ले पाता। और जो सामंत इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि वे उन लोगों के प्रेक्षक समाज को संबोधित कर रहे हैं जो उनकी मृत्यु के आठ सौ वर्ष बाद के हैं, उनके संवादों में मंचीय गद्य का प्रयोग निश्चय ही एक विशेष प्रकार का प्रभाव पैदा करने के लिए किया गया था कि प्रेक्षकों की आत्मतुष्ट भावना आहत हो। किंतु यह एक प्रकार की चाल है अर्थात यह एक ऐसा उपाय है जिसका उपयोग एक नाटक में तो किया जाता है लेकिन दूसरे के लिए वह बेकार होता है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, बहुत संभव है इस संबंध में मुझ पर सेंट जोन का कुछ प्रभाव पड़ा हो।

मैं कोई ऐसा प्रभाव नहीं पैदा करना चाहता जिससे आप यह समझें कि मैं नाटकीय काव्य से इन तीन चीजों को निकाल बाहर करना चाहता हूँ : ऐतिहासिक या पौराणिक विषय वस्तु, कोरस और परंपरागत ब्लैंक वर्स। मैं किसी ऐसे

नियम की स्थापना नहीं करना चाहता जिसके अनुसार उपयुक्त स्थितियाँ और चरित्र एकमात्र आधुनिक जीवन से ही चुने जा सकते हैं। अथवा पद्य नाटक में केवल संवाद ही हो, या कि बिल्कुल नये प्रकार की पद्य रचना अनिवार्य है। मैं तो केवल एक लेखक के अनुसंधान-पथ का अनुधावन कर रहा हूँ और वह लेखक भी मैं स्वयं हूँ। यदि काव्यनाटक अपना स्थान फिर से जीतना चाहता है तो मेरा मत यह है कि इसे खुले तौर से गद्यनाटक की प्रतियोगिता में आना चाहिये। जैसा मैं कह चुका हूँ, लोग उन्हीं व्यक्तियों के मुँह से निकले हुए पद्य के साथ चलने के लिए तैयार होते हैं जो किसी सुदूरवर्ती युग की वेशभूषा धारण किये हों। उन्हें उन लोगों के मुँह से पद्य सुनने के लिए तैयार करना चाहिए जो हम लोगों की ही तरह कपड़े पहनते हों, हमारे समान मकानों, कमरों में रहते हों और टेलीफोन, कार, रेडियो, आदि का इस्तेमाल करते हों। कोरस द्वारा पढ़े गये काव्य को स्वीकार करने के लिए प्रेक्षक तैयार रहते हैं। क्योंकि यह एक प्रकार का काव्य पाठ होता है जिससे आनन्द लाभ करना उन्हें सम्मानजनक प्रतीत होता है। और प्रेक्षकगण (जो पद्य नाटक देखने इसलिये जाते हैं कि वह पद्य में होता है) यह आशा करते हैं कि काव्य उन लयों में होगा जिसका आम बोलचाल की भाषा के साथ कोई संबंध नहीं है। किन्तु हमें तो काव्य को उसी दुनियाँ में ले आना है जिसमें प्रेक्षक रहता है और जिसमें रंगशाला छोड़ने के बाद वह फिर पहुंच जाता है। हमें प्रेक्षकों को उसकी अपनी दुनियाँ से नितांत भिन्न किसी काल्पनिक लोक, ऐसे अवास्तविक लोक में जहाँ काव्य सहन किया जा सकता है, पहुँचाना नहीं है। मैं समझता हूँ कि हमारे अनुभवों का लाभ उठाते हुए नाटककारों की पीढ़ी जो कुछ उपलब्ध कर सकती है वह यही कि अपने जागृति के क्षणों में प्रेक्षक अनुभव करें कि वे काव्य सुन रहे हैं और अपने आपसे कहें कि मैं भी काव्य में बातचीत कर सकता हूँ। ऐसी स्थिति में हम कृत्रिम लोक में नहीं पहुँचेंगे बल्कि इसके विपरीत हमारा अपना क्षुद्र नीरस दैनिक जगत सहसा ज्योतिर्मान और रूपांतरित हो उठेगा।

इसीलिए मैंने निश्चय कर लिया था कि अगले नाटक में मैं अपने समकालीन जीवन से विषय चुनूँगा जिसमें हमारे ही युग के चरित्र होंगे जो हमारी अपनी दुनियाँ में रहते होंगे। परिणाम स्वरूप द फैमिली रियूनियन लिखा गया। इसमें मेरी चिंता का प्रथम विषय था पद्य-रचना की समस्या। मैं समकालीन भाषा के बिल्कुल निकट की एक ऐसी लय की खोज में था जिसमें अलग-अलग मौकों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के वाक्यखंड बोलते समय जहाँ पर स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो वहाँ बल दिया जा सके। जो चीज मैंने ढूंढ निकाली, तात्विक रूप से उसी का उपयोग मैं करता जा रहा हूँ। तीन बलाघातों और एक यति के साथ अक्षरों की विभिन्न लम्बाई की पंक्तियों का उपयोग। यति और बलाघात विभिन्न स्थानों पर पंक्ति में

कही पर भी आ सकते हैं। बलाघात बिल्कुल पास पास भी रह सकते हैं और बीच में हल्के अक्षरों को डालकर अलग अलग भी रखे जा सकते हैं। नियम केवल एक ही है कि यति के एक ओर एक बलाघात होना चाहिए और दूसरी ओर दो। पुनर्विचार करते ही मुझे मालूम हुआ कि मैंने पद्य रचना पर इतना अधिक ध्यान संविधानक और चरित्रों के मूल्य पर दिया है। कोरस से छुटकारा पाने में मैंने कुछ सफलता अवश्य प्राप्त कर ली थी, किन्तु गौण व्यक्तियों में से परिवार का रूप प्रस्तुत करने वाले चार उन पात्रों के उपयोग का तरीका मुझे बहुत संतोषप्रद नहीं प्रतीत हुआ जो कभी तो व्यक्तिगत भूमिकायें अदा करते थे और कभी सामूहिक रूप से कोरस की भूमिका अदा करते थे। इसका एक कारण तो यह था कि किसी विशिष्ट व्यक्ति के चरित्र की भूमिका अदा करने के तुरत बाद कोरस की निर्वैयक्तिक सदस्यता का अभिनय करना अभिनेताओं के लिये काफी कठिन था। इस प्रकार का आकस्मिक परिवर्तन अभिनेताओं के लिये बहुत कठिन काम है। दूसरी बात यह कि मुझे यह तरीका भी एक और प्रकार की चाल ही लगी जो सफल होने पर भी दूसरे नाटक में प्रयुक्त नहीं हो सकती थी। और यह भी कि दो स्थलों पर मैंने प्रगीतात्मक युगलगान की युक्ति का आश्रय लिया था जो शेष संवादों से इसलिए और भी अलग हो गयी थी कि उसमें मैंने दो ही बलाघातों की लघुतर पंक्ति का उपयोग किया था। ये स्थल एक प्रकार से चरित्र की सीमा लांघ जाते हैं क्योंकि इन्हें बोलने के लिए पात्रों को एक प्रकार की समाधि जैसी मनोदशा में दिखलाना पड़ता है। किन्तु ये क्रिया की अनिवार्यता से इतनी दूर जा पड़ते हैं कि ये काव्यखंड के अलावा और कुछ भी नहीं रह जाते—ऐसे निर्वैयक्तिक काव्यखंड जिन्हें कोई भी पढ़ सकता है। वे बहुत कुछ आवेश के विशिष्ट गीत (आपरेटिक एरिया) की ही भांति हैं। प्रेक्षक यदि इस जैसी चीज का मजा लेते हैं तो मानो वे काव्य-कल्पना का आनंद उठाने के लिए क्रिया की स्थिरता को स्वीकार कर रहे हैं। वास्तव में ये स्थल 'मर्डर इन द कैथेड्रल' के कोरसों की अपेक्षा क्रिया के साथ कम जुड़े हुए हैं।

शेक्सपीयर का अनुशीलन करते हुए मैंने देखा कि अपनी एक प्रौढ़ कृति में जब भी वे शुद्ध काव्य की कोई पंक्ति या खंड ले आते हैं तो न तो वह चरित्र के बाहर जाता है और न क्रिया को ही बाधित करता है, बल्कि इसके विपरीत किसी रहस्यमय शक्ति से वह चरित्र और कार्य को बढ़ावा ही देता है। जब मैकबेथ इन शब्दों को कहता है जिनका उद्धरण लोग बार बार देते हैं—

टुमौरो ऐंड टुमौरो ऐंड टुमौरो,

अथवा रात को अपने क्रोधित श्वसुर और उसके मित्रों का सामना होने पर ओथेलो जब यह सुंदर पंक्ति कहता है—

कीप अप यूअर ब्राइट शोर्ड्स, फौर द डियु विल रस्ट देम,

तो हम यह अनुभव नहीं करते कि शेक्सपीयर ने सुंदर काव्यमय पंक्तियां पहले ही सोच रखी हैं और उन्हें किसी न किसी प्रकार बैठाना चाहता है अथवा यह कि इन क्षणों में उसकी नाटकीय प्रेरणा खत्म हो गयी है और उसकी जगह भरने के लिए उसने काव्य रच डाला है। पंक्तियां विस्मयकारी हैं, फिर भी वे चरित्र के सर्वथा अनुकूल हैं, अथवा हम चरित्र की अपनी धारणा में इस प्रकार का संशोधन करने के लिए विवश हो जाते हैं जिससे पंक्तियां चरित्र के अनुकूल प्रतीत होने लगें। मैकबेथ द्वारा कही गई पंक्तियां एक ऐसे दुर्बल व्यक्ति की थकान को व्यक्त करती हैं जिसे उसकी पत्नी ने उसकी अधचाही कामनाओं और अपनी महत्वाकांक्षाओं को जानने बूझने के लिए विवश किया था और अपनी मृत्यु के बाद जिसे उद्देश्यहीन जीवन बिताने के लिए छोड़ गयी थी। ओथेलो द्वारा कही गई पंक्ति निर्भीकता, शालीनता, और आयरनी को व्यक्त करती है, साथ ही प्रसंगवश यह हमारा ध्यान रात्रि के समय की ओर भी ले जाती है जिसमें इस दृश्य की घटना घटित होती है। इस काम को केवल काव्य ही कर सकता था। किन्तु यह नाटकीय काव्य है अर्थात यह नाटकीय स्थिति को बाधित नहीं करता बल्कि उसे और भी प्रगाढ़ करता है।

केवल उन काव्य-स्थलों के कारण ही जो काव्य के रूप में ही अपनी ओर आवश्यकता से अधिक ध्यान आकर्षित करते थे और नाटकीय रूप से औचित्यपूर्ण नहीं थे, 'मुझे फैमिली रियूनियन' दोष पूर्ण रचना लगी। मुझे दो दोष विशेष गंभीर लगे। पहली बात यह कि किसी स्थिति को उपस्थित करने के लिए नाटककार के पास जो कठोरता से परिसीमित समय उपलब्ध रहता है उससे बहुत अधिक मैंने ले लिया और अपने पास न तो पर्याप्त समय, नहीं ऐसी पर्याप्त सामग्री बचा रखी जिससे इसे मैं क्रिया के रूप में विकसित कर पाता। कुल मिलाकर पहला अंक भर अच्छा लिख सका था। प्रथम अंक के अलावा बाकी सब काफी लंबा हो गया था। पहले अंक के बाद जब फिर पर्दा उठता है तो प्रेक्षक उचित ही इस बात की आशा करता है कि कोई घटना घटने जा रही है। किंतु इसके बदले वह पाता है कि उसके सामने पृष्ठभूमि का ही और आगे विश्लेषण पेश किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में कहें तो यदि इसे पेश करना ही था तो बहुत पहले ही पेश कर देना चाहिए था। दूसरे अंक का आरंभ निर्देशक और अभिनेताओं के सामने अत्यन्त कठिन समस्या उपस्थित करता है क्योंकि तब प्रेक्षकों का ध्यान भटकने लगता है। तैयारी के उस काल के बाद जो प्रेक्षकों को अशेष रूप से लम्बा प्रतीत होता है, निष्कर्ष इतने आकस्मिक रूप से आ जाता है कि कुल मिलाकर उसके लिए दर्शक अपने को अप्रस्तुत ही पाते हैं। नाटक के रचनातंत्र का यह एक आधारभूत दोष था।

किंतु सबसे गंभीर दोष यूनानी कहानी और आधुनिक स्थिति के मध्य समन्वय की असफलता में निहित था। या तो मुझे एस्काइलस की शैली से और भी अधिक चिपकना चाहिए था, या उस पुराकथा के साथ और भी अधिक स्वतन्त्रता बरतनी चाहिए थी। इसका एक उदाहरण दुर्भाग्यपूर्ण आकृतियों—सर्पकेशी यूनानी देवियों का अवतरण है। भविष्य में इन्हें नाटक के पात्रों की सूची से निकाल देना चाहिए और यह समझना चाहिए कि वे केवल नाटक के कुछ विशेष चरित्रों को ही दिखलाई पड़ती हैं, प्रेक्षकों को नहीं। हमने उन्हें उपस्थित करने के सभी संभव तरीकों को अजमाया। हमने उन्हें मंच पर इस प्रकार उपस्थित किया कि वे अनाहूत अतिथि मालूम पड़ें जो काल्पनिक पोशाक वाले बाल-नृत्य से भटककर वहां आ पहुँचे हों। हमने उन्हें झीने आवरण के पीछे रखा जिससे वे वाल्टडिस्ने की किसी फिल्म से निकाले गये स्थिर चित्र मालूम पड़ने लगें। हमने उन्हें धुंधला बना डाला जिससे वे खिड़की के बाहर उगे हुए झड़बेरी के पौधे मालूम पड़ने लगें। मैंने दूसरे तरीकों की आजमाइश भी देखी, मैंने उन्हें बगीचे के पार से इशारा करते भी देखा, फुटबाल की टीम की तरह मंच पर भागने हुए भी देखा। किन्तु वे कभी औचित्यपूर्ण न प्रमाणित हो सके। न तो यूनानी देवियाँ बनने में सफल हो सके और न आधुनिक प्रेत। किन्तु उनकी असफलता प्राचीन को आधुनिक के साथ समन्वित करने की असफलता का चिह्न मात्र है।

अधिक गंभीर प्रमाण यह है कि हम विभाजित मनःस्थिति में पहुँच जाते हैं और यह तय नहीं कर पाते कि नाटक को माँ की ट्रेजेडी समझें अथवा पुत्र की मुक्ति। दोनों स्थितियाँ समन्वित नहीं हो पाई हैं। इसका समर्थन मुझे इस तथ्य से मिलता है कि अब मेरी सहानुभूति पूर्ण रूप से माँ के प्रति हो गई है जो संभवतः केवल शोफर के अतिरिक्त नाटक में मुझे एक मात्र पूर्ण मानव प्रतीत होती है। इसका नायक तो अब मुझे असह्य छैला के अलावा और कुछ नहीं लगता।

तो इस प्रकार मैंने नाटक का प्रथम अंक लिखने की प्रक्रिया में कुछ प्रगति कर ली। एक और चीज जिसमें मुझे पूरा विश्वास हो गया वह यह कि मुझे मुहावरे और पद्य-रचना के उस रूप को पा लेने में काफी सफलता मिल गई है, जो गद्य की ओर बिना मुड़े ही मेरे सभी अभिप्रायों को व्यक्त कर सकता है और जो अत्यन्त सघन भाषण और बिल्कुल हल्की-फुल्की बातचीत के मध्य अटूट रूप से स्थिति परिवर्तन कर सकने में सक्षम है। 'फैमिली रियूनियन' के संबंध में मेरी इन टिप्पणियों से अवगत हो जाने के बाद 'काकटेल पार्टी' के रचना विधान में मैंने जिन दोषों से बचने की कोशिश की है उन्हें आप आसानी से समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ अपने इस नाटक में मैंने कोरस और प्रेतों को तो स्थान नहीं दिया फिर भी इसकी विषय-वस्तु (थीम) चुनने के लिए यूनानी नाटककार की ओर ही झुका। किन्तु ऐसा

मैंने सामान्य से कुछ अलग हटने के लिए ही किया था और इस बात का निश्चय कर लिया था कि इसके स्रोतों को मैं इतनी अच्छी तरह छिपाऊँगा कि जब तक मैं स्वयं संकेत न करूँ कोई इसे पहचान न सके। कम-से-कम इसमें तो मुझे सफलता मिल ही गई क्योंकि न तो कोई नाट्यसमीक्षक न ही मेरा कोई परिचित यह जान सका कि मेरे इस नाटक की कहानी का उद्गम स्रोत यूरीपीडीज की 'आल्केस्टिस' है। वास्तव में ऐसी स्थिति में मुझे उन लोगों के सामने जो उस नाटक की कथावस्तु से परिचित हैं अपनी प्रेरणा की मौलिकता प्रमाणित करने के लिए विस्तृत विवरण पेश करना पड़ता। किन्तु जो लोग मेरे पिछले नाटक के अजाने अतिथि के सनकी व्यवहार और गीतों में फूट पड़ने की प्रवृत्ति तथा बाह्य रूप से असंयत आदत से परेशान से नजर आते थे उन्हें तब थोड़ा संतोष हुआ जब मैंने उनका ध्यान यूरीपीडीज के नाटक में हेराक्लीज के व्यवहार की ओर आकर्षित किया।

दूसरी ओर मैंने अपने लिये एक कठोर नियम निर्धारित किया कि मैं उस काव्य को अपनी रचना से बहिष्कृत रखूँगा जो नाटकीय उपयोगिता की कठोर कसौटी पर खरा नहीं उतरता। और वास्तव में मुझे इसमें इतनी सफलता मिली कि यह एक खुला प्रश्न बन गया है कि इस नाटक में काव्य है भी या नहीं। और अंतिम बात यह कि मैंने इस बात को भी ध्यान में रखने की कोशिश की कि नाटक में समय समय पर कुछ घटनायें घटती रहें कि प्रेक्षक सदैव इस संभावना की अनुभूति करते रहें कि अब कोई घटना घटने ही वाली है और यह कि जब वह घटना घटे तो भिन्न होने पर भी प्रेक्षकों की प्रत्याशा से बहुत अलग न हो।

इस नाटक की कमजोरियों की मेरी खोज पूरी नहीं हो गई है। बल्कि संभावना यह है और आशा भी है कि मुझे उनकी अपेक्षा कहीं अधिक कमजोरियों का पता लग सकेगा जितनी से मैं इस समय परिचित हूँ। मैंने आशा शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि कोई अपनी सफलता को तो दुहरा सकता नहीं इसीलिए वह कुछ भिन्न चीज ढूंढने की कोशिश करता है। फिर वह उतनी जनप्रिय भले ही न हो। ऐसी स्थिति में कुछ ऐसी चीज लिखने की कामना जो उसकी पिछली कृति के दोषों से मुक्त हो, उपयोगी और शक्तिशाली प्रेरणा है। मैं जानता हूँ कि मेरे इस नाटक का अंतिम अंक, अंतिम अंक बनने के बजाय उपसंहार बन जाने के दोषारोपण से मुश्किल से ही बच पाया है—यदि इसे आप बचना मानें। मैंने निश्चय किया है कि मैं इस दिशा में कुछ भिन्न कदम उठाऊँगा, यदि उठा सका। मेरा यह भी विश्वास है कि एक ऐसे कवि का आत्मशिक्षण जो रंगमंच के लिए लिखने का प्रयास कर रहा है, जहाँ इस बात की माँग करता है कि वह दीर्घकाल तक अपने काव्य को अनुशासित करता रहे और रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुकूल इसे समायोजित करने के लिए काव्यतत्व के बहुत हलके भोजन पर आश्रित रखे, वहीं आगे चलकर जब

(और यदि) वह रंगमंचीय तकनीकों पर इतनी विजय पा लेता है कि वे उसके लिए नितांत स्वाभाविक हो उठें तब वह काव्य के अधिक स्वतंत्रतापूर्ण उपयोग का साहस कर सकता है और सामान्य बातचीत की भाषा के साथ अधिक स्वतंत्रता बरत सकता है। मेरे इस विश्वास का आधार शेक्सपीयर का विकास और उसके बाद के नाटकों की भाषा का कुछ अध्ययन है।

अपने ही नाटकों के परीक्षण में इतना अधिक समय लगाने में मैं अपनी समझ से अहंकार की अपेक्षा अधिक ऊँचे उद्देश्य से परिचालित हुआ हूँ। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि उत्कृष्ट काव्यनाटक उन कवियों से प्राप्त हो सकता है जो नाटक लिखना सीखने की कोशिश करें; उन कुशल गद्य नाटककारों से नहीं, जो काव्य लिखना सीखने की कोशिश करें। कुछ कवि नाटक लिखना सीखें और अच्छे नाटक लिख भी लें यह एक आशा मात्र हो सकती है, लेकिन मेरा विश्वास है कि यह कोई आधारहीन आशा नहीं है। किन्तु एक ऐसा व्यक्ति जिसने गद्य नाटक लिखने में सफलता प्राप्त करली है, वह अच्छा काव्य भी लिख सकेगा, यह बात मुझे अत्यंत असामान्य सी लगती है। और आज की स्थिति में तथा जब तक पद्यनाटक विशाल जन समुदाय द्वारा मनोरंजन के एक संभव साधन के रूप में स्वीकृत नहीं कर लिया जाता, कवि को रंगमंच के लिये लिखने का प्रथम अवसर तभी मिल सकता है जब वह विभिन्न प्रकारों का पद्य लिखने में कुछ ख्याति अर्जित कर ले। इसीलिए मुझे यह अभिलेख तैयार करने की प्रेरणा हुई क्योंकि यह दूसरों के लिए भी उपयोगी हो सकता है कि मैंने किन कठिनाइयों का सामना किया, कौन सी गलतियाँ मुझसे हो गईं और कौन सी दुर्बलताओं पर मुझे विजय प्राप्त करनी पड़ी।

मैं आपके समक्ष उस आदर्श की रूपरेखा रखे बिना जिसकी ओर काव्यनाटक को बढ़ना चाहिए अपनी बात खत्म नहीं किया चाहता, भले ही वह रूपरेखा कितनी ही धुंधली क्यों न हो। यह एक ऐसा लक्ष्य है कि जिस तक पहुंच पाना असंभव सा है। और यही कारण है कि मेरी इसमें इतनी रुचि भी है। क्योंकि इससे उस लक्ष्य के भी परे जिस तक पहुंच पाने की संभावना हो सकती है, अनुसंधान और प्रयोग करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। कलाकार मात्र का यह कर्तव्य है कि वे स्वयं अपने ऊपर एक प्रकार की व्यवस्था और क्रम का आरोपण करके जीवन के व्यवस्था-क्रम की कुछ झलक दें। चित्रकार दृश्य जगत के तत्वों को लेकर उनके चयन, मिश्रण और बलाघात द्वारा कार्य करता है, संगीतकार ध्वनि जगत में यही कार्य करता है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे जीवन का एक भाग तो वह है जिसमें चेतन स्तर पर हमारी वे प्रेरणाएं और संवेग क्रियाशीलता की ओर अग्रसर होते हैं जिनका वर्गीकरण और नामकरण किया जा सकता है। गद्यनाटक इसे व्यक्त करने में सर्वथा समर्थ है। किन्तु इससे परे भावनाओं का एक ऐसा अंचल है जो असीम रूप से फैला है और

जिसका पता हम मानों केवल आँखों की कोरों से ही लगा सकते हैं जो दृष्टि के केन्द्रीय क्षेत्र में पूर्ण रूप से कभी आ ही नहीं सकता। इस प्रकार की भावनाओं का ज्ञान हमें तभी होता है जब हम क्रिया से कुछ क्षणों के लिए असंपृक्त होते हैं। इब्सन और चेखव जैसे महान नाटककार भी हुए हैं जिन्होंने कभी-कभी ऐसे काम भी कर डाले हैं जैसे कामों के लिए गद्य की सामर्थ्य शक्ति पर मैं अन्यथा कभी विश्वास न कर पाता। किन्तु उनकी सफलता के बावजूद भी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि गद्य में लिखने के कारण उनकी अभिव्यक्ति के मार्ग में रुकावट आई है। उनकी सवेदनशीलता के विशिष्ट छोर सर्वाधिक सघनता के क्षणों में अपनी पूरी अभिव्यक्ति नाटकीय काव्य में ही पा सकते हैं। ऐसे क्षणों में हम संवेगों के उन छोरों पर जा पहुँचते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति केवल संगीत में ही हो सकती है। हम संगीत की समतुल्यता तो नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि संगीत की दशा में पहुँचने का अर्थ है काव्य का नि:शेषीकरण; विशेष रूप से नाटकीय काव्य का। फिर भी मेरी आँखों के आगे एक ऐसे पूर्ण काव्यनाटक की मृगमरीचिका है जो मानवीय क्रियाओं और शब्दों का ऐसा संयोजन हो, जो संगीत और नाटकीय क्रम व्यवस्था के दुहरे पहलुओं को एक साथ उपस्थित कर सके। मुझे ऐसा लगता है कि शेक्सपीयर कम से कम कुछ दृश्यों में, बल्कि अपने लेखन के प्रारम्भिक काल में ही इस उपलब्धि को पा सका है। रोमियो ऐंड जूलियेट नाटक का बालकनी वाला दृश्य ऐसा ही है। अपने बाद के नाटकों में भी वह इसी ओर बढ़ने का प्रयत्न करता रहा। इस दिशा में उतनी दूर तक चलते चले जाना, जितनी दूर तक जा सकना संभव है, दैनिक जीवन के सामान्य जगत के साथ उस संपर्क को खोये बिना जिसके साथ नाटक को तालमेल बैठाना ही है, नाटकीय काव्य का यही उद्देश्य मुझे उचित प्रतीत होता है क्योंकि कला का अंतिम उद्देश्य ही यह है कि सामान्य वास्तविकता के ऊपर वह एक विश्वसनीय नियमशीलता आरोपित करे और तब फिर उसी से स्वयं वास्तविकता में नियमशीलता की कुछ झलक दिखलाये कि वह प्रसाद, स्तिमिति और उपशमन की स्थिति तक ले आये और तब हमें एक ऐसे प्रदेश की ओर बढ़ने के लिए, जहाँ वह पथप्रदर्शक हमें और आगे नहीं ले जा सकता, उसी प्रकार छोड़ दे जिस प्रकार वर्जिल ने दाँते को छोड़ दिया था।

■

नाट्यदृश्यों में अभिव्यंजना

बर्नार्ड हेविट

आज रंगमंचीय कला में सामान्य रूप से यथार्थवाद का ही प्रभुत्व है। इसके सभी अंगों का विधान यथार्थवादी ढंग से किया जाता है। अतः दृश्यपीठ-विधान में भी यथासम्भव पूरी यथार्थता लाने का प्रयत्न किया जाता है। विशेषरूप से जिस प्रकार के दृश्यपीठों का प्रयोग आज किया जाता है उसका रूप वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में ही निश्चित हो चुका था। फिर भी विगत कुछ वर्षों से इस दिशा में बहुत से नवीन प्रयोग हो रहे हैं। शेक्सपीयर और उसके समकालीन कई नाटककारों के अयथार्थवादी नाटक अमूर्त सांकेतिक दृश्यपीठों के साथ प्रस्तुत किए जा चुके हैं। हमने चित्रित पर्दों को आधुनिक रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुकूल संशोधित कर उनका उपयोग किये जाते देखा है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि स्वयं यथार्थ-वादी दृश्यपीठों का अधिक से अधिक सरलीकरण और अमूर्तीकरण होता गया है। यहाँ तक कि बाक्स दृश्यपीठ में भी मात्र खिड़कियों के ढाँचे या दीवालों की संहति ही शेष रह गये। केवल शेक्सपीयर के नाटकों से ही नहीं, आधुनिक यथार्थवादी नाटकों से भी दृश्य निष्कासित कर दिया गया।

इस प्रकार के प्रयोग यद्यपि कई प्रकार के उद्देश्यों को सामने रखकर किए गए और इनमें क्रमबद्धता भी नहीं रही, फिर भी इनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दृश्यपीठों के रूढ़िवादी स्वरूप के प्रति रंगमंच कलाकारों के मन में तीव्र असंतोष रहा है। इस असंतोष के कई कारण हैं। राबर्ट एडमन्ड जौन्स ने अनुभव किया कि अभिनेताओं को जबरदस्ती दृश्यपीठों के साथ समझौता करना पड़ता है। इस कारण उन्हें अपनी कला को पूरी तरह से अभिव्यक्त करने में कठिनाई होती है। और दृश्यपीठ अभिनयन के मार्ग में बाधक बन जाता है। वह तो और भी आगे जाता है। उसका मत है कि दृश्यपीठों का जो रूप में हमें ज्ञात है वह रंगमचीय कला की उन्नति और उसके विकास में एक प्रमुख बाधक है।

यह असंतोष क्यों? हमारे रंगमंच की आवश्यकताओं के लिये दृश्यपीठ अपर्याप्त क्यों हैं? उत्तर ढूंढ़ने के लिये हमें बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। दृश्यपीठ चाहे यथार्थवादी हो चाहे अयथार्थवादी, आज मुख्य रूप से यह त्रिआयामात्मक है। अतः सारे सरलीकरण के बावजूद, यथार्थवादी दृश्यपीठों को बदलने के लिये घूमनेवाले तथा वैगन रंगमंचों के विकास के बावजूद अमूर्त दृश्यपीठों के स्वरूपों को बदलने के लिए प्रकाश के कौशलपूर्ण प्रयोग के भी बावजूद यह त्रिआयामात्मक दृश्यपीठ, आपेक्षिक रूप से अपरिवर्तनशील है।

रेडियो और सिनेमा की तुलना में 'स्थान' के प्रत्यय को व्यक्त करने की क्षमता में रंगमंच अत्यन्त सीमित प्रतीत होता है। दूसरी ओर सिनेमा और रेडियो से प्रभावित

होने के कारण हमारे मंचनाटक रंगमंच की सीमित दृश्यात्मक अभिव्यंजनाशक्ति से बहुत अधिक मांग करने लग गये हैं। अपने आधुनिक रूप में मंचदृश्यविधान नाटकों की निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये बहुत अपर्याप्त है। अब वह समय आ गया है कि हम रंगमंच के नवीन रूपों का निर्माण करें और 'स्थान' की अभिव्यक्ति के लिए नवीन साधनों को काम में लायें।

इस परिवर्तन की प्रकृति क्या होगी ? रंगमंचीय कला किन दिशाओंकी ओर मुड़ेगी ? यदि हम रंगमंच के इतिहास पर एक दृष्टि डालें तो हमें इस प्रश्न के उत्तर में सहायता मिलेगी क्योंकि इससे हमें मालूम होगा कि अतीत में 'स्थान' को व्यक्त करने के लिए किन किन रंगमंचीय साधनों का प्रयोग किया गया है। इससे हमें मालूम होगा कि दृश्य ही स्थान को अभिव्यक्त करने के एक मात्र साधन नहीं रहे हैं और दृश्यकलाकार हमेशा टेकनिकल अवस्थाओं से परिसीमित और निर्देशित रहा है।

यूनान की रंगमंचीयकला के विषय में हमें कोई सीधा ज्ञान नहीं है, किन्तु अनुमान यह किया जाता है कि यह दृश्यों के बिना ही आरम्भ हुई। नाटकीय क्रिया और प्रदर्शन का स्थान एक ही था—एक वेदी के चारों ओर चक्राकार चबूतरा। दृश्यविधान का सूत्रपात उस समय हुआ जब नाटकीय क्रिया और प्रदर्शन के स्थान बदल गए। दृश्यपीठों की सहायता से वेदी को उस चट्टान का रूप दे दिया जाता था जिससे प्रामिथ्यूज बंधा रहता था अथवा जिसकी नाटकीय क्रिया को आवश्यकता होती थी और जो क्रिया के स्थान की सूचना देते थे। उस समय दर्शक नाट्यप्रदर्शन के स्थान को प्रायः सभी ओर से घेरे रहते थे इसलिए दृश्यपीठ को आवश्यक रूप से त्रिआयामात्मक होना पड़ता था और उस समय उन्हें शीघ्रता से परिवर्तित करने के लिए यंत्रों का विकास नहीं हुआ था इसलिये सम्पूर्ण प्रदर्शन तक वे वैसे ही पड़े रहते थे।

यद्यपि यह दृश्यपीठ स्थान और परिणाम स्वरूप भाव को संकेतित करते थे फिर भी वे इस प्रकार की सीधी अभिव्यक्तियों के लिए कम महत्वपूर्ण थे। वस्तुतः ये अभिनय के केन्द्रीकरण का कार्य करते थे और उसके लिये भौतिक आधार प्रस्तुत करते थे। जब स्थान की अभिव्यक्ति नाटकीय क्रिया या भाव के लिए विशेष महत्व की होती थी तो नाटककार सहगायकों या पात्रों के शाब्दिक वर्णनों का आश्रय लेता था।

पृष्ठभूमि के रूप में दृश्य का आरम्भ उस समय से हुआ जब रंगमंच के साथ दृश्यभवन की पक्की इमारत बनाई गई। इस इमारत के बनाने का उद्देश्य भण्डारघर और रूपसज्जा के लिए सुविधा प्रदान करना था। आवश्यकतानुसार इस इमारत के अगले हिस्से में दृश्यखण्ड अस्थायी रूप से लगा दिए जाते थे। इसके खंभों पर

भी चित्रित पैनल्स लगा दिये जाते थे। इससे स्थान की अभिव्यक्ति के लिए बहुत विस्तृत अवसर प्राप्त हो जाता था। इन दृश्यों को शीघ्रता से बदलने के लिए उस समय कोई यंत्र नहीं विकसित हो सका था और उस समय कृत्रिम प्रकाश का भी उपयोग नहीं होता था इसलिए दृश्य परिवर्तन का क्षेत्र बहुत सीमित था। उस समय अपनी सारी संभावनाओं के साथ भी मंचदृश्य सापेक्षरूप से सामान्य ही था और यदि नाटककार को किसी ठीक स्थान का विशेष परिचय देना होता था तो उसे अपनी शब्दशक्ति पर ही निर्भर रहना पड़ता था। वेदी के चारों ओर निर्मित दृश्य की भाँति ही पृष्ठभूमि दृश्य भी अभिनय के भौतिक आधार के रूप में ही व्यंजक था। वह अभिनय के लिए नवीन केन्द्र, धरातल और प्रवेश प्रस्तुत करता था। यद्यपि यूनानी नाटककार अपने नाटकों की रचना सामान्य स्थायी दृश्यपीठों की सीमाओं में ही करते थे तो भी उन्होंने इसकी अपरिवर्तनशीलता का अनुभव किया था और प्रायः एक नाटक के अन्दर स्थान की विभिन्नताओं को सूचित करने के लिए कुछ परम्परित साधनों का प्रयोग करते थे जैसे किसी गाड़ी पर झांकी सजाकर उसे मंच पर ठेल देते थे या किसी तख्ती पर घटना स्थल का चित्र बनाकर अथवा उसका नाम लिखकर रख देते थे।

क्लासिकल युग के शेष भाग में दृश्य के रूपों और कार्यों में कोई तात्विक अन्तर नहीं आया। रोम की रंगशाला में दृश्य की अभिव्यंजना शक्ति में किसी प्रकार की अभिवृद्धि किए बिना ही अभिनय स्थान के क्षेत्र और प्रकार को कम कर दिया गया।

मध्ययुग में जब रंगमंच का पुनर्जन्म हुआ तो इसने मध्ययुगीन कला की विचित्रताओं को अपनाया। इस युग के कई उपकथाओं से युक्त रहस्य नाटकों को इस बात की आवश्यकता हुई कि बहुत से विभिन्न स्थानों को जितनी विशेषता से सम्भव हो सके व्यक्त किया जाए। मध्ययुग की रंगशाला में विशालकाय रंगमंच का विकास हुआ जिसपर एक दर्जन या उससे भी अधिक अभिनय-स्थान होते थे जो या तो रंगमंच के चारों ओर या पीछे स्थित रहते थे। इस प्रकार यह एक ऐसी रंगशाला थी जिसमें एक रंगमंच पर एक दर्जन रंगमंच होते थे। नाटक की कई विभिन्न अवस्थाओं में से प्रत्येक का अभिनय भिन्न-भिन्न दृश्यपीठों पर होता था। उस समय के कुशल कारीगरों में जितनी योग्यता थी उसी के अनुसार ये पीठ ठोस और विवरण युक्त होते थे। जिस कथा में स्थान का महत्व कम होता था उसका अभिनय सामान्य क्षेत्र में किया जाता था। दृश्यों को बदलने की कोई आवश्यकता न थी। अधिक खर्च का कोई भय नहीं था क्योंकि एक तो ये नाटक बहुत कम होते थे दूसरे इनका खर्च व्यापारी वर्ग उठाते थे। क्योंकि ये प्रदर्शन प्राकृतिक प्रकाश में होते थे और

मंच को दर्शक घेरे रहते थे इसीलिए दृश्य त्रिआयामात्मक बने रहे। अभी भी दृश्यपीठ अभिनय का आधार बनने का कार्य कर रहे थे और अब कई दृश्यों की एक साथ स्थिति होने के कारण इसमें विभिन्नता की शक्ति भी आ गई थी। इसमें स्थान की सीधी अभिव्यक्ति करने की अधिक शक्ति और स्वतन्त्रता आ गई थी। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि दृश्य अभिनेता की छाप लेते थे जैसे हेल माउथ के दृश्यों में।

इसके बाद रंगमंच का अगला महान युग आया, रानी एलिजाबेथ कालीन इंगलैण्ड में। यह रंगमंच व्यावसायिक था। इसने मध्यकाल से नाटक के उस स्वरूप का रिक्थ प्राप्त किया था, जिसमें कई छोटे-छोटे दृश्य होते थे और क्रिया के स्थान को बार-बार बदलने की आवश्यकता पड़ती थी। क्योंकि यह अभिनय के मध्यकालीन खर्चीले तरीके को नहीं अपना सकता था और साथ ही अभी तक कृत्रिम प्रकाश का उपयोग रंगशाला के लिए नहीं हो पाया था अतः परिणाम स्वरूप एलिजाबेथकालीन रंगमंच ने अधिकतर स्थायी और सामान्य दृश्यपीठ का विकास किया जो मूलतः तो बहुत कुछ यूनानी रंगमंच के ही समान था किन्तु उसका बाह्य स्वरूप बहुत भिन्न था। एलिजाबेथकालीन रंगमंच का अग्रभाग प्रेक्षागृह में निकला हुआ था, इसकी स्थापत्य-पृष्ठभूमि स्थायी थी जो इंगलैण्ड की किसी गली के समान लगती थी, इस रंगमंच के दो आन्तरिक भाग थे, इसके प्रवेशद्वार और बरामदे की खिड़कियाँ स्थायी थीं। इस प्रकार वह एलिजाबेथयुगीन रंगमंच अभिनय के लिए बहुत उपयुक्त साधन था। यह अभिनय के लिए विस्तृत और बहुविध क्षेत्र प्रदान करता था। इसमें स्थान-परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए परम्परित साधन का उपयोग किया जाता था। नाटकीय क्रिया को स्थायी रंगमंच के एक भाग से उठाकर दूसरे भाग तक ले जाते थे। किसी विशेष स्थान को व्यक्त करने के लिए ऐसे ही गतिशील दृश्यों का उपयोग किया जा सकता था जो दोनों आंतरिक भागों पर लगाये जा सकें और ऐसी ही मंच सामग्रियों का उपयोग किया जा सकता था जिसे अभिनेता स्वयं ला सके और ले जा सके। मध्यकालीन रंगमंच पर जिस सीधी अभिव्यंजना को दृश्यों ने प्राप्त किया था वह अब समाप्त हो चुकी थी। अब जब कोई स्थान नाटकीय क्रियाओं के लिए विशेष महत्वपूर्ण होता था तो नाटककार उसका शाब्दिक वर्णन करता था।

जब तक नाटकीय प्रयोग खुले स्थानों पर प्राकृतिक प्रकाश में होते रहे और दर्शक मंच को घेरे रहे, दृश्यों में सीधी अभिव्यंजना लाने के लिए बहुत व्यय करना पड़ता था। किंतु किसी प्रकार रंगमंच बंद स्थानों में कृत्रिम प्रकाश के बीच पहुँच गया। रंगमंच प्रोसीनियम के चौखटे के पीछे पहुँच गया। अब लोगों ने खोज की कि द्विआयामात्मक दृश्यों को, जो नवविकसित रेखा-परिप्रेक्ष्य युक्त पद्धति से चित्रित किये गये हों प्रभावोत्पादकता के साथ कैसे प्रयुक्त किया जा सकता है।

पहले तो द्विआयामात्मक चित्रित दृश्यों का उपयोग त्रिआयामात्मक दृश्यों के स्थान पर पृष्ठभूमि के रूप में ही हुआ। अभिनय क्षेत्र के दृश्यों को अब भी त्रिआयामात्मक बनाया ज ता था। इन परिस्थितियों में दृश्यपीठ और अभिनेता के बीच की रूपद एकात्मकता जो रंगमंचीय कला के आरम्भ से ही चली आ रही थी समाप्त हो गई किंतु दृश्यात्मक समन्वय-एकता अब भी बनी हुई थी। अनेक प्रकार की पृष्ठ-भूमियाँ अब सरलता से कम खर्च में उपलब्ध होने लगीं। जैसे-जैसे दृश्यचित्रण की तकनीक विकसित होती गई वैसे-वैसे मितव्ययिता और परिवर्तनशीलता के दृष्टिकोण से अभिनय क्षेत्र में भी द्विआयामात्मक चित्रित पार्श्वखण्डों के उपयोग की इच्छा बलवती होने लगी। इस प्रकार रंगमंच की दृश्यसज्जा केवल एक विशाल परिप्रेक्ष्ययुक्त चित्र को सामान्य ढंग से पर्दों पखवाइयों और झालरों में विभाजित कर की जाने लगी (इसकी दृश्यात्मकता केवल एक परिप्रेक्ष्य में रहती थी) इस प्रकार के सभी दृश्यखंड द्विआयामात्मक होते थे इसलिए इन्हें बनाने में व्यय कम होता था और गड़ारियों, रस्सों और फीतों की एक बहुत सरल प्रणाली द्वारा इन्हें आसानी से परिवर्तित भी किया जा सकता था। दृश्यविधान की इ । प्रणाली में विविधता और विशाल संवर्धन को अवसर मिला। इसमें इच्छानुसार पूरी स्थानीयता के साथ स्थान को व्यक्त करने की क्षमता थी और भावों को व्यंजित करने की क्षमता भी उस सीमा तक थी जिस सीमा तक दृश्यचित्रकार की कल्पना जा सकती थी।

किन्तु उस नाटकीय क्रिया के साथ दृश्य का आंगिक सम्बन्ध समाप्त हो गया जो अभिनेता की शारीरिक गतिशीलता से व्यक्त होती है। दृश्य के साथ अभिनेता की दृश्यात्मक एकता भी नष्ट हो गई। दृश्य पृष्ठभूमि मात्र बनकर रह गया। यह अभिनेता की गतियों और सम्भाषणों को केवल चित्रित मात्र करता था। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि दृश्य में जो कुछ उन्नति हुई उसका अधिकांश अभिनेता की कला के मूल्य पर था। उसकी कला को सहायता पहुँचाने वाले विविध अभिनय क्षेत्रों से वह वंचित कर दिया गया क्योंकि रंगमंच के धरातल को बिलकुल समतल कर दिया गया था जिससे पृष्ठभूमि अधिक विविध और विस्तृत हो सके। साथही परिप्रेक्ष्य युक्त चित्रित दृश्य उसी अवस्था में सर्वाधिक प्रभावशाली होते थे जब प्रकाश व्यवस्था सीधी और छाया विहीन थी। किन्तु इस प्रकाश व्यवस्था में त्रिआयामात्मक अभिनेता की व्यंजकता कम होती जाती थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चित्रण के रूप में दृश्यविधान अस्वीकार्य हो गया। क्योंकि उस समय तक संसार परिवेश के सम्बन्ध में पूर्णतया वैज्ञानिक धारणा अपना चुका था। मानवीय क्रियाएँ अपने परिवेश से अविच्छेद्य मानी जाने

लगीं। उसे परिवेश का परिणाम माना गया। दृश्यपीठ के साथ अभिनेता का सांमजस्य पुनः तभी स्थापित हो सकता था जब दृश्यपीठ को पुनः त्रिआयामात्मक बनाया जाता। भवन के आन्तरिक भागों को व्यक्त करने के लिए चित्रित त्रिआयामात्मक दृश्य बाक्सदृश्यपीठों में बदल गए जिसमें तीन ओर की दीवालें और छत होती थी। बाह्य भागों की दृश्यसज्जा में कम से कम आगे का हिस्सा तो त्रिआयामात्मक होता ही था जो मंच के धरातल पर बनाया जाता था। चूँकि परिवेश की धारणा कल्पनात्मक होने के बजाय वैज्ञानिक है इसलिए दृश्यपीठों को भी वास्तविक स्थान की यथार्थ अनुकृति बनाना पड़ता था। अतः यह न केवल त्रिआयामात्मक बना बल्कि अत्यन्त स्थानिक भी हो उठा। यथार्थवादी दृश्यपीठ जितना ही ठोस होता जाता उतना ही व्ययसाध्य भी, और उसके स्थानान्तरण की असुविधा भी उतनी ही बढ़ती जाती। दृश्यपीठ जितना ही अधिक स्थानिक होता जाता परिवर्तनशील प्रकाश के साथ उसके स्वरूप परिवर्तन की क्षमता भी कम होती जाती। नये रूपों में भी स्थान को सम्पूर्णता और सटीकता के साथ व्यक्त करने की क्षमता दृश्यपीठ में बनी रही बल्कि उसमें अभिवृद्धि ही हुई। यथार्थवाद की सीमाओं के अन्दर भावों को व्यंजित करने की क्षमता भी बनी रही। किंतु उसकी परिवर्तनशीलता प्रायः पूर्णतया लुप्त हो गई। अभिनेता को एकबार फिर ऐसा दृश्यपीठ प्राप्त हुआ जिसमें क्रियाओं को शारीरिक और संवेगात्मक दोनों रूपों में आधार प्रदान किया गया। एकबार फिर विविधतापूर्ण प्रकाश में उसे तुलनात्मक रूप से अधिक महत्व प्राप्त हुआ। किन्तु यथार्थवादी अभिनय प्रणाली ने जिसमें अभिनेता दृश्यपीठों में खो सा जाता था, उसके इस लाभ को कम भी कर दिया।

यथार्थवादी शैली के प्रतिबन्धों के कारण शीघ्र ही इसके प्रति विद्रोह हुआ, जो अनेक प्रकार के प्रयोगों में प्रकट हुआ। इन प्रयोगों का आधार दृश्यपीठों के कार्यों और रूपों की धारणा में संशोधन था। इनमें सर्वप्रथम बात यह थी कि वैज्ञानिक अर्थ में परिवेश को दृश्य का आधार माना गया। किसी विशेष प्रकार के दृश्यपीठ का निर्माण किसी वास्तविक स्थान की प्रतिकृति के रूप में न होना चाहिये। इसका रूप भाव की व्यंजना करने वाला होना चाहिये, स्थान की नहीं। गार्डन क्रेग ने इसी अमूर्त स्थापत्य वाले दृश्यपीठ की मांग की थी। पखवाई और पर्दों की शैली के प्रयोग के असामंजस्य के प्रति विद्रोह करके एडोल्फ अप्पिया भी दृश्यपीठ की इसी धारणा पर पहुँचा था। यथातथ्यवादी बिवरणों की सीमा से मुक्त होकर दृश्यपीठ में भाव व्यंजना तथा गतिशील प्रकाश के साथ परिवर्तन की क्षमता में अत्यधिक विकास हुआ। लेकिन फिर भी यह त्रिआयामात्मक ही बना रहा और यथार्थवादी दृश्यपीठों की अपरिवर्तनशीलता इसमें भी बनी रही। चित्रित दृश्यपीठों की अपेक्षा दृश्यों के साथ-साथ परिवर्तन की योग्यता इसमें भी कम थी।

बैले रूसी के लिए बाक्स्ट तथा अन्य बहुत से चित्रकार सज्जाकारों ने मेतरलिंक तथा अन्य प्रतीकवादी नाटककारों के नाटकों के लिए चित्रित दृश्यपीठों का पुनरुद्धार किया। किंतु उन्होंने यथार्थवाद से युक्त किसी विशिष्ट स्थान को व्यक्त करने के लिए इसका उपयोग न करके भावों की व्यंजना के लिए किया। इस प्रकार मुक्त दृश्यपीठों की प्रवृत्ति एक बार फिर अभिनेता पर छा जाने की हुई। ऐसे बहुत से दूसरे प्रयोग भी हुए जिनका उद्देश्य अभिनेता की अपेक्षा दृश्यपीठों को अधिकाधिक गौण बनाना था। कापू ने बहुत कुछ एलिजाबेथ कालीन रंगमंच की ही भाँति स्थायी दृश्यपीठ का निर्माण किया तो उसका उद्देश्य यही था। अभिनेता की अपेक्षा दृश्यपीठों को अधिक गौण बनाने की प्रवृत्ति का प्रतिफलन निर्माणवाद में हुआ। इसने इसे भौतिक क्रियाओं का उत्तेजक बनाने के लिए सभी प्रत्यक्ष अभिव्यंजनाओं से मुक्त कर दिया।

अधिकांश नाटकों के यथार्थवादी परम्परा में लिखे जाने के कारण यद्यपि आज उनका प्रस्तुतीकरण यथार्थवादी शैली में ही होता है, फिर भी कुछ दूर तक उनका झुकाव बहुत कुछ यथार्थ विरोधी प्रयोगों की ओर है। निर्माणवाद का विकास एक लोकप्रिय शैली के रूप में नहीं हुआ, पर दृश्यपीठ की अन्य शैलियों में क्रियाओं को बढ़ावा देने वाले तत्वों पर इसके प्रभाव का अनुभव अब भी किया जाता है। पिछले कुछ वर्षों में नाटकों के जो दृश्यसज्जाहीन प्रस्तुतीकरण हुए हैं, निस्सन्देह उनके पीछे एक कारण अभिनेताओं पर ध्यान केन्द्रित करने की इच्छा भी रही है। यद्यपि चित्रित दृश्यसज्जा के पुनरुद्धार को लेकर बड़े पैमाने पर कोई आन्दोलन नहीं हुआ, फिर भी इसका उपयोग कभी-कभी आज भी किया जाता है। जैसे चैनी द्वारा की गयी ट्वेल्फ्थ नाइट के लिए दृश्य योजना। अयथार्थवादी दृश्यों की सबसे शक्तिशाली धारा वह है, जिसे गार्डन क्रेग और अप्पिया ने प्रवर्तित किया है। अधिकांश भाव-प्रधान नाटक आज अमूर्त्त स्थापत्य वाले दृश्यपीठों पर उपस्थित किये जाते हैं। दृश्य-पीठ की यह शैली आज पूर्णता के उच्च सोपान पर पहुँच गयी है। उदाहरण के लिए नार्मन बेल गेड्डस द्वारा हेमलेट के प्रस्तुतीकरण में और मैक्स रेनहार्ट के एटर्नल रोड के प्रस्तुतीकरण में। इन दोनों नाटकों में विभिन्न रूपों और अनेक धरातलों से युक्त स्थायी विशाल दृश्यपीठ के स्वरूप को विभिन्न दृश्यों के अनुसार बदलने के लिए प्रकाश का उपयोग किया गया था।

यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण की मुख्य धारा में अधिकांश नाटकों द्वारा काम में लाये जाने वाले त्रिआयामात्मक यथार्थवादी दृश्यपीठों को परिवर्तनशील बनाने में इंजीनियरों के कौशल का खूब उपयोग किया गया। जिन नाटकों में कई स्थान परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती थी, उनमें दृश्यपीठों को शीघ्रता और सरलतापूर्वक परिवर्तित करने के लिए चक्रिल और वैगन रंगमंचों का उपयोग बड़ी कुशलता के

साथ किया गया। किंतु यथार्थवादी नाटक दिन-प्रतिदिन अधिक उपकथात्मक होते गये और अंत में यंत्रों की शक्ति भी असफल प्रतीत होने लगी। दृश्यांकनकार दिन-प्रतिदिन उस सीमा तक साधारणीकरण करने को विवश होते गये, जिस सीमा पर पहुँचकर दृश्यपीठ अमूर्तीकरण के बिलकुल समीप आ गये। उदाहरण के लिए 'टु आन द आइलैंड' नाटक में मिल्जिनर द्वारा बनाये गये दृश्यपीठ के कंकाल रूप में और नेटिव सन में मोरकम द्वारा निर्मित दृश्यपीठ की सर्वव्यापी ईंट की दीवालों में यथार्थवादी और अयथार्थवादी दोनों प्रकार के सरलीकरण के साथ-साथ स्थान और भाव को व्यक्त करने के लिए प्रकाश पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती गयी है। कदाचित् इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण आरसन बेलेस द्वारा प्रस्तुत जूलियस सीजर था। इसे रंगमंच की निरावृत्त पीछे की दीवाल की पृष्ठभूमि के सामने नीचे चबूतरों पर प्रदर्शित किया गया था। दृश्य परिवर्तन के स्थान पर उसने प्रकाश की परिवर्तनशील संपुंजना का प्रयोग किया था। दृश्यों के अनुपयोग के मार्ग में यह एक अच्छा प्रयास है।

क्या दृश्यपीठों को बहिष्कृत् करके उनके स्थान पर अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरे साधन का उपयोग करना उचित है? या फिर दृश्य को ही अधिक परिवर्तनशील बनाया जाय? त्रिआयामात्मक यथार्थवादी दृश्यपीठ यन्त्रों से और अधिक सहायता की आशा नहीं कर सकता और आत्यांतिक सरलीकरण द्वारा इसकी विशेषता ही समाप्त हो जाने का भय है। अमूर्त त्रिआयामात्मक दृश्यपीठ ने प्रकाश-परिवर्तन द्वारा कदाचित संभवतम परिवर्तनशीलता उपलब्ध कर ली है। किन्तु ऐसे भी अमूर्त त्रिआयामात्मक दृश्यपीठों की कल्पना करना सम्भव है जिसके रूपों में प्रातिभासिक परिवर्तन के साथ ही वास्तविक परिवर्तन भी हो सके। वास्तव में इस प्रकार के दृश्यपीठों के निर्माण का प्रयत्न कुछ वर्षों पूर्व किया गया था।

गार्डन क्रेग के लेखों की गर्माहट और विरोधाभासों ने रंगमंच सिद्धांत संबंधी उसकी देनों का महत्व अस्पष्ट कर दिया। इन सिद्धांतों में नाटकीय अभिव्यक्ति के रूप में उसका दृश्यपीठों का विश्लेषण भी था। उसका विचार था कि अभिनेताओं की शारीरिक क्रियाओं को आधार और उत्तेजना प्रदान करके, यूनानी और एलीजाबेथ कालीन रंगमंचों की भांति ही दृश्यपीठ अप्रत्यक्षरूप से अभिव्यंजक हो सकते हैं। उसने यह भी पाया कि अमूर्त रूपद (प्लास्टिक) दृश्यपीठ के स्वरूप को इसपर डाले गये प्रकाश द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है और इस प्रकार विकासशील नाटकीय क्रिया की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की जा सकती है। किंतु वह इन साधनों द्वारा उपलब्ध दृश्यात्मक अभिव्यक्ति से संतुष्ट नहीं था। उसने अनुभव किया कि दृश्यों को पूर्णतया अभिव्यंजनापूर्ण होने के लिए उन्हें गतिशील होना आवश्यक है। इसे अपना आकार परिवर्तित करने में सक्षम होना है, किन्तु मध्यन्तरों के पर्दों के पीछे नहीं,

नहीं परिवर्तनशील प्रकाश के द्वारा प्रातिभासिक रूप से। इसे वास्तविक रूप से दर्शकों की आँखों के सामने होना चाहिये।

स्पष्टतः विभिन्न दृश्यों में बदलने की अपेक्षा दृश्यपीठ के स्तर में परिवर्तन करने की इच्छा तुलनात्मक रूप से रंगशाला के लिए नई है। जब ह्यूबर्ट वान हर्केमिर ने अपने यथार्थवादी वाह्य दृश्यों का निर्माण इस ढंग से किया कि बदलते हुए दिन के प्रकाश से बदलने वाले वास्तविक प्रकृतिदृश्यों के समान ही उनमें भी परिवर्तन किया जा सके तो वह इसी दिशा की ओर बढ़ रहा था। और अमूर्त दृश्यपीठ के साथ अभिनेता को एकात्म करने के लिए प्रकाश का सावधानी के साथ उपयोग करते हुए अप्पिया ने भी यह अनुभव किया कि प्रकाश का उपयोग नाटकीय क्रिया के विकास के सन्दर्भ में दृश्यपीठ के स्वरूप-परिवर्तन के लिए भी किया जाना चाहिये। किंतु दृश्यपीठ की वास्तविक तरलता की धारणा क्रेग की मौलिक सूझ प्रतीत होती है।

दृश्यपीठ को इस प्रकार गतिशील बनाने के लिए क्रेग का एक मात्र प्रयास प्रत्यक्षतः सफल नहीं हुआ किन्तु उसकी असफलता का यह मतलब नहीं है कि यह काम हो ही नहीं सकता। वास्तव में यह एक आश्चर्य की बात है कि क्रेग की इस असफलता ने इंजीनियरिंग में प्रशिक्षित किसी व्यक्ति को पहले ही इस बात के लिए क्यों नहीं प्रेरणा दी कि वह किन्हीं ऐसे परदों तथा आवश्यक यन्त्रों का विकास करे जो काल और स्थान में इस प्रकार की पृष्ठभूमि रचना कर सकें जिससे विकासशील नाटकीय क्रिया की अभिव्यक्ति हो सके। यद्यपि प्रत्यक्षतः क्रेग के समक्ष यह बात नही आयी फिर भी यंत्रों के ऐसे विकास की कल्पना करना असम्भव नहीं है जो शारीरिक क्रियाओं की परिवर्तनशील माँगों को पूरा करने के लिए रंगमंच के धरातल में परिवर्तन कर सके। ऐसे आविष्कार इस यांत्रिक युग की कौशल क्षमता से अधिक नहीं है और इनसे अमूर्त परिवर्तनशील दृश्यपीठों की अभिव्यंजनात्मक संभावनायें बहुत बढ़ जायंगी। फिर भी यह संदेहास्पद है कि इस प्रकार के विकास दृश्यात्मक अभिव्यक्ति की समस्या का कोई महत्वपूर्ण हल प्रस्तुत कर सकेंगे। इस प्रकार के आविष्कार अमूर्त दृश्यपीठों की परिवर्तनशीलता के लिए बहुत बड़ी देन होंगे। फिर भी ये बहुत खर्चीले होंगे। इससे इन यंत्रों का उपयोग बहुत सीमित मात्रा में हो सकेगा। इसके साथ ही आजकल जैसे नाटक लिखे जा रहे हैं उन्हें देखते हुए बहुत कम नाटकों की समस्यायें इस प्रकार के दृश्यपीठ-विधान से हल हो सकेंगी।

परिवर्तन की एक दूसरी सम्भव दिशा वह मार्ग है जिसकी ओर आर्सन वेल्स द्वारा जूलियर सीजर और जेड हैरिस द्वारा अवर टाउन के प्रस्तुतीकरणों ने संकेत किया है। दृश्यविधान को एकदम त्यागा जा सकता है और उसके स्थान पर 'स्थान'

और 'भाव' को व्यक्त करने के दूसरे साधनों का विकास किया जा सकता है। जूलियस सीजर को प्रस्तुत करते समय प्रकाश की जिन शक्तियों पर बेल्स बहुत अधिक निर्भर रहा है उनका उपयोग सम्भवत: पहले ही पूर्णरूप से किया जा चुका है। क्योंकि जैसा कि अप्पिया ने बहुत पहले ही इंगित किया था प्रकाश की अभिव्यंजनाशक्ति प्राय: पूर्णरूप से उस वस्तु पर निर्भर करती है जिसे वह प्रकाशित करता है। यदि हम प्रकाश को दृश्यपीठ के स्थिर रूपों से पृथक् कर देते हैं तो निश्चित रूप से हम उसकी अभिव्यंजनाशक्ति के एक बहुत बड़े भाग को भी कम कर देते हैं।

जैसा कि स्पष्ट है यद्यपि प्रकाश की अभिव्यंजनात्मक संभावनाओं की पूरी छानबीन पहले ही हो चुकी है, ध्वनि की अभिव्यंजनात्मक संभावनाओं का अभी अनुमान मात्र आरंभ हुआ है। सन् १९३५ में हैराल्ड बरिस मेयर ने संकेत किया था कि प्रकाश की भाँति ही ध्वनि का भी पूरा नियंत्रण किया जा सकता है अत: उसका भी पूरा नाटकीय उपयोग किया जा सकता है। तभी से वह निरंतर कंठ्य और अकंठीय ध्वनि की तीव्रता स्वरमान, गुण, आयाम, व्यक्तदूरी, तथा रूप (अनुगूंज) के नियंत्रण पर प्रयोग करता चला आ रहा है।

अनुगूंज के ऊपर नियंत्रण करके उसने पाया कि संवादों में वह विशेषता उत्पन्न करना सम्भव है जिससे वे वास्तविक जीवन के भौतिक परिवेशों के अनुरूप प्रतीत हों जैसे बहुत बड़े गिरजाघर के अन्दर या तहखाने की कोठरियों के अन्दर की विशिष्ट ध्वनियाँ। इस अभिव्यक्ति-साधन की सम्भावनाओं ने राबर्ट एडमंड जोन्स की कल्पना को उत्तेजित किया। दृश्यात्मक अभिव्यक्ति का एक ऐंद्रजालिक माध्यम हमारी सेवा में आने की प्रतीक्षा कर रहा है। कल्पना कीजिए एक ध्वनि सभी दिशाओं से एक साथ रंगशाला में गूँज रही है, हमपर छा रही है, हमें घेर रही है, मानों फुसफुसा कर हमसे उन सुन्दर चित्रों के विषय में कह रही है जिन्हें अबतक किसी भी आदमी ने नहीं बनाया।

यह सब एक ऐसी रंगशाला की ओर संकेत करते हैं जिसमें दृश्यात्मक अभिव्यंजनाओं का स्थान बहुत दूर तक श्रव्य अभिव्यंजनायें ग्रहण कर लेंगी। इसके पहले कि हम इसे रंगमंचीय विकास की एकमात्र दिशा स्वीकार कर लें हमें यह जानना चाहिये कि दृश्यात्मक अभिव्यंजना रंगमंचीय माँगों को पूरा करने में अपर्याप्त क्यों प्रमाणित हुई। यह तो स्पष्ट ही हो गया होगा कि हमारे युग में दृश्यपीठों की अभिव्यंजनात्मकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह धारणा है कि अभिनेता और दृश्यपीठों के बीच एक परिवर्तनशील समन्वय अवश्य वर्तमान रहना चाहिए। इस धारणा ने यथार्थवाद के साथ ही रंगशाला में प्रवेश किया और इसे क्रेग तथा अप्पिया की अयथार्थवादी प्रस्तुतीकरण की योजनाओं से शक्ति मिली। हमने देखा

है कि पिछले समय में दृश्यात्मक अभिव्यंजना का सबसे बड़ा युग परिप्रेक्ष्ययुक्त चित्रित दृश्यपीठों का युग था और इस युग में दृश्यपीठ पूर्णतया अभिनेताओं से स्वतंत्र था। जैसा कि कतिपय प्रयत्नों से प्रकट हुआ है, केवल चित्रित दृश्यपीठों को पुनरुज्जीवित करना भर पर्याप्त नहीं। आवश्यकता एक नवीन दृश्यात्मक तकनीक की है। ऐसी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हो रही हैं कि दृश्यपीठ गत्यात्मक समन्वय के बन्धन को एकदम तोड़ देना चाहता है। यह काम वह अतीत की चित्रण तकनीक के द्वारा नहीं, बल्कि प्रक्षेपण की नवीन तकनीक द्वारा करना चाहता है। जो मीलिजनर ने जरनी टु जेरूसलेम नामक नाटक में अमूर्त त्रिआयामात्मक दृश्यखंडों के साथ और टू आन एन आइलैंड में यथार्थवादी त्रिआयामात्मक दृश्यपीठों के साथ प्रक्षिप्त दृश्यावली का समन्वय किया है। असीम संभावनाओं के मार्ग पर यह प्रथम अनुमानात्मक चरण है। रंगमंचीय परिवर्तनों की सभी धाराओं के प्रति संवेदनशील राबर्ट एडमंड जौन्स स्पष्ट रूप से उस मार्ग की ओर संकेत करता है। सजीव अभिनेता और सवाक् चित्रों के समन्वित उपयोग में एक नितान्त नवीन रंगमंचीय कला निहित है।

सजीव अभिनेता और चलचित्र के समन्वय के कुछ प्रयत्न पहले ही हो चुके हैं जिनमें कदाचित सबसे अधिक प्रसिद्ध कुछ वर्षों पूर्व जर्मनी में किये गये पिस्केटर के प्रयोग हैं। लेकिन व्यवस्थित रूप से यह काम अभी तक किसी देश में नहीं किया गया है। इस प्रकार के प्रयोग से जो समस्याएँ स्वतः अनायास खड़ी होंगी उन्हें सुलझाने के लिए उस प्रकार के व्यवस्थित प्रयोग करना आवश्यक होगा जिस प्रकार के प्रयोग बरिस मेयर ध्वनि के नाटकीय उपयोग के संदर्भ में कर रहा है। साधारण ढंग से प्रक्षिप्त दृश्यावली स्थिर होती है और उसमें अभिनेता के साथ दृश्यात्मक सामजंस्य बना रहता है किन्तु जब यह प्रक्षेपण गतिशील हो उठता है तब दृश्यात्मक सामजंस्य भी समाप्त हो जाता है और हमारे सामने ध्यान के केन्द्रीकरण की समस्या उठ खड़ी होती है।

हमें ज्ञात है कि रंगमंच पर अभिनेता और दृश्यपीठ एक साथ उपस्थित किये जाते हैं। चलचित्र को अभिनेता और दृश्यपीठ एक साथ उपस्थित नहीं करना पड़ता। कैमरे की आँखें अत्यंत सुगमतापूर्वक अभिनेता से दृश्यपीठ और दृश्यपीठ से अभिनेता पर घूम सकती हैं। यदि रंगशाला में दृश्यावली के रूप में चलचित्र का उपयोग होना है तो निश्चय ही एक ऐसी तकनीक ढूँढ निकालनी होगी जिससे दर्शकों का ध्यान अभिनेता से पर्दे और पर्दे से अभिनेता पर मोड़ा जा सके। इसका अर्थ यह है कि रंगशाला को भी बहुत दूर तक चलचित्र की ही भाँति उपकथात्मक रूप अपनाना पड़ेगा जिसमें क्रमशः अभिनेता द्वारा अभिव्यक्त उपकथा के बाद प्रक्षिप्त दृश्यात्मक अभिव्यक्ति की उपकथा आती जायगी।

यदि रंगशाला चलचित्रों को स्वीकार कर लेती है तो अभिनेता और दृश्यपीठों के बीच गतिशील और दृश्यात्मक दोनों सामंजस्य समाप्त हो जायगा। अभिनेता को अपने अभिनयस्थल का विस्तार और उसकी विविधता परिसीमित रूप में ही मिलेगी किंतु दृश्यात्मक अभिव्यंजना की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जायगी। रंगमंच की दृश्यात्मक अभिव्यक्ति अभी तक केवल एकमात्र दर्शकों के परिप्रेक्ष्य तक ही सीमित रही है किन्तु सिनेमा, जिसमें दर्शक कैमरे की गतिशील आँखों से देखते हैं, दृश्यात्मक अभिव्यंजना की पूरी स्वतंत्रता का उपभोग करता है। यदि रंगमंच कैमरे की आँख को अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप उपयोग कर सके तो यह भी बहुत कुछ उसी स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है।

इस प्रकार रंगशाला के सामने विकास के लिए दो विभिन्न दिशाओं में जाने वाले मार्ग खुले हैं। रंगमंच का रूप एक बार फिर एक 'चबूतरा' मात्र हो सकता है जिसके पीछे या तो रंगरूपहीन पर्दे हों या असीम स्थान, इस चबूतरे पर अभिनेता दृश्यपीठों की सहायता के बिना ही नाटक प्रस्तुत करेंगे। 'स्थान' की आवश्यक अभिव्यक्ति के लिए प्रकाश, शाब्दिक वर्णन (अभिनेताओं द्वारा अथवा उद्घोषक द्वारा), वर्णनात्मक-ध्वनि-प्रभाव और अन्ततः अभिनेताओं के स्वर की तीव्रता, स्वरमान, गुण, आयाम, व्यक्त दूरी, और अनुगूँज के यान्त्रिक नियंत्रण और विवरण पर निर्भर रहना होगा। दृश्यपीठों के स्थान पर प्रकाश, स्वर, और ध्वनि प्रभावों का उपयोग, यूनानी और एलिजाबेथकालीन रंगशालाओं की परम्परा में एक शक्तिशाली श्रव्य रंगमंचीय कला के विकास की संभावनाओं का संकेत देता है। दूसरी ओर चलचित्र का पर्दा रंगमच का अभिन्न अंग बन सकता है। हम लोग एक ऐसे रंगमंच की कल्पना कर सकते हैं जिसमें अभिनय स्थल के रूप में कई सादे चबूतरे हों और प्रकाश की व्यवस्था इस प्रकार की हो जिससे त्वरितगति से दर्शकों का ध्यान एक अभिनय स्थल से हट कर पर्दे पर जा सके फिर दूसरे अभिनय स्थल पर आ सके फिर पर्दे पर जा सके और परिवर्तन का यह क्रम सुविधापूर्वक चलता रहे। सजीव अभिनेता और चलचित्र के समन्वय में एक शक्तिशाली दृश्य रंगमचीय कला की सम्भावना निहित है जो चित्रित परिप्रेक्ष्य वाले रंगमंच की ही परम्परा में होगी।

●

नाट्य की समस्याएं

फ्रेड्रिख ड्यूरेनमाट्ट

इन दिनों जिस प्रकार की कला का अभ्यास किया जा रहा है, उसमें कला की शुद्धता की सनक पर दृष्टि डालिये। देखिये, किस प्रकार एक लेखक शुद्ध रूप से काव्यात्मक, दूसरा शुद्ध रूप से प्रगीतात्मक, कोई शुद्ध रूप से महाकाव्यात्मक और कोई शुद्ध रूप से नाटकीय बनने का प्रयास कर रहा है। चित्रकार निष्ठापूर्वक शुद्ध चित्र के सर्जन का मार्ग ढूंढ रहा है, संगीतज्ञ शुद्ध संगीत ढूंढ रहा है, और किसी ने तो मुझे यह भी बताया कि शुद्ध रेडियो डायोनिसास और लोगोस का संश्लेषण प्रस्तुत करता है। हमारे इस युग की, जो किसी दूसरे रूप में शुद्धता के लिए विख्यात नहीं है, अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति यह विश्वास करता है कि उसने अपनी विलक्षण और एकमात्र सच्ची शुद्धता पा ली है। यदि आप विचार करें तो कलाओं के प्रत्येक शुद्धतावादी की अपनी एक खास तरह की शुद्धता है। इसी प्रकार रंगमंच के सिद्धांतों की संख्या भी गणनातीत है। शुद्ध रंगमंच क्या है, शुद्ध त्रासदी क्या है, शुद्ध कामदी क्या है, आदि। नाटक के आधुनिकतावादी सिद्धांत भी बहुत हैं और प्रत्येक नाटककार अपने साथ तीन-चार सिद्धांत लिये फिरता है। यही कारण है है कि रंगमंच की समस्याओं के संबंध में अपने सिद्धांत प्रस्तुत करने में मुझे थोड़ी परेशानी का अनुभव हो रहा है।

साथ ही मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप मुझे किसी विशिष्ट रंगमंचीय आंदोलन या किसी खास नाटकीय तकनीक के प्रवक्ता के रूप में न ग्रहण करें; नहीं यह मानें कि मैं आपके द्वार पर उस पर्यटक-विक्रेता के रूप में दस्तक देने उपस्थित हुआ हूँ, जो रंगमंच पर आजकल प्रचलित दर्शनोंमें से किसी एक को बेचना चाहता है—चाहे वह अस्तित्ववादी, अभिव्यंजनावादी, व्यंग्यवादी, नास्तिवादी दर्शन हो, चाहे वह साहित्यिक आलोचना द्वारा चिपकाये गये किसी दूसरे लेबुल से युक्त हो। मेरे लिए रंगमंच सिद्धांतों, दर्शनों, घोषणापत्रों की युद्धभूमि नहीं है बल्कि एक ऐसे यंत्र की तरह है, जिसकी संभावनाओं का अनुसंधान मैं उसका उपयोग करके करना चाहता हूँ। निश्चय ही मेरे नाटकों में लोग होते हैं और उनके कुछ विश्वास, कुछ दर्शन होते हैं—बहुत अधिक मूर्खों को इकट्ठा कर देने से तो नाटक बड़ा सुस्त हो जायेगा। लेकिन लोग जो कुछ कहना चाहते हैं, उसके लिए मेरे नाटक नहीं लिखे जाते; वे जो कुछ कहते हैं, वह सब तो वहाँ रहता है, क्योंकि मेरे नाटकों का संबंध लोगों से है और विश्वास करना, सोचना, दार्शनिक आधार देना, यह सब कम से कम कुछ दूर तक तो मानव स्वभाव का एक अंग है ही। नाटककार के रूप में जिन समस्याओं का मैं साक्षात्कार करता हूँ वे व्यावहारिक समस्याएँ हैं, काम करने की समस्याएँ हैं, ऐसी समस्याएँ जिन्हें मैं पहले नहीं सोचता बल्कि जो नाटक लिखते

समय उठती हैं। इस संबंध में बिल्कुल नपी-तुली बात कहना चाहें तो ये समस्याएँ तब सामने आती हैं जब लेखन कार्य पूरा हो चुकता है—एक विशिष्ट उत्सुकता से उद्भूत होकर कि मैंने इसे किस प्रकार किया है। अत; अभी मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह इन्हीं समस्याओं के संबंध में है। हालांकि इस प्रकार मुझे यह खतरा उठाना पड़ रहा है कि किसी गहरी चीज पाने की सामान्य धारणा को मैं निराश न कर दूँ या ऐसी धारणा पैदा कर दूँ कि कोई नौसिखुआ बातें कर रहा है। मैं यह जरा भी नहीं जानता कि और दूसरी तरह मैं कैसे बातें कहूँ कि लोग मुझे नौसिखुआ न समझें। फलत: मैं उन लोगों से अपनी बातें कह रहा हूँ, जो हीडेग्गर की बातें सुनते-सुनते सो जाते हैं।

यहाँ मेरा संबंध जिस चीज से है वे प्रयोगात्मक नियम हैं, रंगमंच की संभावनाएँ हैं। किंतु, चूँकि हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें साहित्यिक विद्वत्ता और आलोचना का बोलबाला है, मैं रंगमंचीय कला के कुछ सिद्धांतों और व्यवहारों पर कभी-कभी पार्श्वदृष्टि डालने का लोभ पूरी तरह संवरण नहीं कर सकता। कलाकार को तो सचमुच में विद्वत्ता की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं। विद्वत्ता उसमें से नियम निकालती है जिसका अस्तित्व पहले से ही है, नियमों का कलाकार के लिए कोई मूल्य नहीं, चाहे वे सत्य हों तब भी। कलाकार ऐसे किसी नियम को स्वीकार नहीं कर सकता जिसका उसने स्वयं अन्वेषण न किया हो। यदि कलाकार कोई ऐसा नियम अन्वेषित नहीं कर पाता तो विद्वता द्वारा स्थापित नियम उसकी कोई सहायता नहीं कर सकते। और जब वह किसी नियम को पा लेता है तब इस बात का कोई महत्व नहीं कि वही नियम विद्वत्ता द्वारा भी अन्वेषित किया गया था। किंतु इस प्रकार अस्वीकृत किये जाने पर विद्वत्ता कलाकार के पीछे भयंकर दानवी की भाँति खड़ी रहती है और जब कभी कलाकार कला के संबंध में बातें करना चाहता है, कूदकर सामने आने को तैयार रहती है। यहाँ भी वही बात है। रंगमंच की समस्याओं पर बातें करने का अर्थ है साहित्यिक विद्वत्ता की प्रतिद्वंद्विता में आना। मैं इसे कुछ संशय के साथ स्वीकार करता हूँ। साहित्यिक विद्वत्ता रंगमंच को निरपेक्ष वस्तु के रूप में देखती है, लेकिन नाटककार के लिए यह पूर्ण रूप से वस्तुनिष्ठ, उससे कोई बिल्कुल अलग चीज कभी नहीं हो सकता। वह इसमें हिस्सा बँटाता है। यह सच है कि नाटककार की क्रियाएँ नाटक को एक वस्तुनिष्ठ शक्ल देती हैं (वास्तव में बिल्कुल यही उसका काम है), किंतु वह उस वस्तु को नष्ट कर देता है जिसे वह बार-बार सर्जित करता है, उसे भूल जाता है, अस्वीकार कर देता है, तिरस्कृत करता है, अति मूल्यांकन करता है, और यह सब इसलिए कि वह किसी नई चीज के लिए जगह पा सके। विद्वत्ता केवल परिणाम देखती है। वह प्रक्रिया, जो इसे इस परिणाम तक ले आई है, ऐसी चीज है जिसे नाटककार कभी नहीं भूल

सकता। वह जो कुछ कहता है उसे जरा सा नमक लगाकर ग्रहण करना चाहिये। वह अपनी कला के संबंध में जो कुछ सोचता है वह तब बदल जाता है जब वह सर्जन कार्य करता है। उसके विचार सदा उसकी मनःस्थिति और क्षण के अधीन रहते हैं। उसके लिए जो एकमात्र महत्वपूर्ण चीज है वह यह कि किसी विशेष क्षण में वह क्या कर रहा है। इसके लिए अभी कुछ ही देर पहले उसने जो कुछ किया है उससे बिल्कुल हट सकता है। संभवत: लेखक को अपनी कला के संबंध में बात नहीं करनी चाहिये, किंतु जब एक बार वह शुरू कर देता है तब उसकी बातें सुनना समय की बिल्कुल बर्बादी नहीं है। साहित्यिक विद्वान, जिन्हें लेखन की कठिनाइयों की और उन छिपे चट्टानों की जो कला के प्रवाह को बहुधा अप्रत्याशित दिशाओं में मोड़ देती है, जरा भी जानकारी नहीं है, मात्र उन नियमों की स्थापना और मूर्खतापूर्ण घोषणा का खतरा उठाते हैं जिनका अस्तित्व ही नहीं।

निःसंदेह, स्थान, काल और क्रिया का संकलनत्रय जिसे अरस्तू ने यूनानी त्रासदियों से प्राप्त किया था—ऐसा बहुत समय से सोचा जाता था—नाटक का आदर्श तत्व है। तार्किक और इस प्रकार सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से भी यह स्थापना विरोध से परे है। वास्तव में विरोध से इतनी परे है कि प्रश्न उठता है कि क्या इसने सदा-सदा के लिए उस चौखटे का निर्माण नहीं कर दिया है जिसमें रह कर प्रत्येक नाटककार को काम करना है। अरस्तू का संकलनत्रय नाटकीय सामग्री के उपयोग में अत्यधिक सटीकता, अत्यधिक मितव्ययिता, और अत्यधिक सादगी की माँग करता है। स्थान, काल और क्रिया का संकलनत्रय साहित्यिक विद्वत्ता द्वारा नाटककार पर लादा गया आधारभूत आदेश है। और केवल इसी कारण कि विद्वत्ता कलाकार को इससे बाँधे नही रह सकती, युगों तक अरस्तू के संकलनत्रय का किसी ने उपयोग नहीं किया। उनका पालन किया भी नहीं जा सकता, उन कारणों से जो नाट्यलेखन की कला और इस कला के सिद्धांतों के परस्पर संबंधों को सबसे अच्छी तरह चित्रित करते हैं।

स्थान, काल और क्रिया का संकलनत्रय मूलतः यूनानी त्रासदियों पर आधारित है। अरस्तू के संकलनों ने यूनानी त्रासदियों को संभावित नहीं किया, बल्कि यूनानी त्रासदियों ने संकलन-सिद्धांत को जन्म दिया। यूनानी त्रासदी उसके संकलनों की वैधता स्वीकृत करती हैं। चाहे भी कितना अमूर्त कोई सौंदर्य-नियम भले प्रतीत हो, जिस कलाकृति के आधार पर उसका निर्माण किया गया वह उस नियम में निहित रहती ही है। उदाहरण के लिये, यदि मैं कोई नाटकीय क्रिया के संबंध में लिखना चाहता हूँ जो एक ही स्थान पर दो ही घंटे की अवधि तक पूरी हो जाती है, तो इस क्रिया के पीछे कोई इतिहास रहेगा ही; और मेरे कार्य के लिए पात्रों की संख्या जितनी थोड़ी रहेगी यह इतिहास उतना ही विस्तृत होगा। किस प्रकार

रंगमंच कार्य करता है, इसका यह एक सादा सा अनुभव है, एक व्यावहारिक नियम। मेरे मतानुसार इतिहास वह कहानी है जो रंगमंचीय क्रिया के आरंभ होने के पहले घटित हो चुकी है, ऐसी कहानी जिसके बिना रंगमंच की क्रिया संभव नहीं हो सकती। इस प्रकार हैमलेट के पीछे का इतिहास उसके पिता की हत्या है, नाटक उस हत्या के अन्वेषण में निहित है। और यह भी कि नियमानुसार, वर्णित की जाने वाली घटना की तुलना में रंगमंचीय क्रिया की कालावधि बहुत छोटी होती है। यह अक्सर घटना के ठीक बीच से, अथवा करीब-करीब उसके अंत से शुरू होती है। इसके पहले कि सोफोक्लीज की त्रासदी आरंभ हो, इडिपस को अपने पिता की हत्या और अपनी माँ के साथ विवाह कर चुके रहना पड़ता है। यह ऐसी क्रियाएँ हैं जिनमें थोड़ा समय लगता है। रंगमंचीय क्रियाएँ किसी घटना का सघनीकरण उतनी ही मात्रा में करती हैं जितनी अरस्तू के संकलन माँग करते हैं। और कोई नाटककार जितना अधिक संकलनत्रय का पालन करता है, क्रियाओं की पृष्ठभूमि इतिहास का उतना ही महत्वपूर्ण होता जाता है।

निश्चय ही ऐसा इतिहास और इस प्रकार ऐसी नाटकीय क्रिया कल्पित कर सकना संभव है जो अरस्तू के संकलनों को पोषित करने के लिये विशेष रूप से उपयुक्त प्रतीत हों। किंतु इससे एक दूसरा नियम क्रियाशील हो उठता है कि कहानी जितनी अधिक काल्पनिक, प्रेक्षकों के लिए जितनी अधिक अपरिचित होगी, उसके प्रारंभ, उसकी पृष्ठभूमि के उद्घाटन में उतनी ही अधिक सावधानी अपेक्षित होगी। यूनानी त्रासदी की रचना इसलिए संभव हो सकी कि उसके लिए किसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की कल्पना अपेक्षित नहीं थी, वह उसके साथ पहले से ही जुड़ी हुई थी। जिन मिथकों का उपयोग नाटकों में होता था उन्हें प्रेक्षक पहले से ही जानते थे और क्योंकि ये मिथक लोकप्रचलित, चालू सिक्के, धर्म के अंग थे इसलिये वे यूनानी त्रासदीकारों को करतबों का अवसर देते थे, ऐसे करतबों का जो बाद में फिर कभी संभव न हो सके; उनसे संक्षिप्तियां, अपरोक्ष सीधापन, कोरस, गद्य-पद्य संवाद और इस प्रकार अरस्तू के संकलन भी संभव हो सके। प्रेक्षक यह जानते थे कि नाटक अंततः है किस विषय में? अतः उनकी उत्सुकता कहानी पर उतनी नहीं केंद्रित होती थी जितनी प्रस्तुति-शैली पर। अरस्तू के संकलन नाटक की विषय-वस्तु के सामान्य प्रचलन, मिथकों पर आधारित धार्मिक रंगमंच को आधार बनाकर विकसित हुए हैं। (आधुनिकतर काल में क्लीस्ट का 'टूटा जग' इसका सहानुभूतिपूर्ण अपवाद है।) अतः जैसे ही रंगमंच का धार्मिक मिथकीय महत्व समाप्त हो गया, संकलनों की पुनर्व्याख्या या उनका तिरस्कार आवश्यक हो उठा। किसी अपरिचित कहानी का साक्षात्कार करता हुआ प्रेक्षकसमाज प्रस्तुति-शैली की अपेक्षा कहानी पर ही अधिक ध्यान देगा और तब यह आवश्यक हो उठेगा कि ऐसा नाटक विवरणों

और परिस्थितियों के चित्रण में परिचित कहानी वाले नाटक की अपेक्षा अधिक समृद्ध हो। किसी एक लेखक की कौशल-चातुरी दूसरे लेखक की भी कौशल-चातुरी नहीं हो सकती। प्रत्येक कला अपने युग द्वारा प्रस्तुत अवसरों का खूब उपयोग करती है। और ऐसे किसी युग की कल्पना कठिन है जो कोई अवसर प्रस्तुत करता ही न हो। कला के अन्य प्रत्येक रूप की भाँति नाटक भी अपने लोक का सर्जन करता है, सभी लोक एक ही ढंग से नहीं सर्जित किये जा सकते। प्रत्येक सौंदर्य-नियम की स्वाभाविक सीमा है। फिर चाहे ऐसा नियम कितना भी स्वयंसिद्ध क्यों न हो। इसका यह अर्थ नहीं कि अरस्तू के संकलन पुराने पड़ गये हैं। पहले जो नियम था अब वह एक अपवाद बन गया है, एक ऐसी स्थिति जो फिर किसी भी समय लौट सकती है। एकांकी नाटक अब भी संकलनों का उपयोग करता है, यद्यपि दूसरी दशाओं में। इतिहास के बदले अब स्थिति संविधानक पर मुख्य रूप से छाई रहती है, और इस प्रकार संकलन पुनः उपलब्ध कर लिये गये हैं।

किंतु जो बात अरस्तू के सिद्धांत—इसकी एक विशेष लोक पर अवस्थिति और फलस्वरूप इसकी सिद्धता की उस लोक से सापेक्षता—के विषय में सत्य है वही नाटक के दूसरे सिद्धांतों के विषय में भी सही है। ब्रेष्ट तभी प्रासंगिक प्रतीत होता है जब वह अपने नाट्य-रचना-विधान में साम्यवादी दर्शन समाविष्ट करता है जिससे वह प्रतिबद्ध है। किंतु ऐसा करते हुए वह अक्सर उसी डाल को काट देता है जिसपर वह बैठा होता है। कभी-कभी उसके नाटक उससे ठीक विपरीत बातें कहते हैं जिन्हें कहने की वे घोषणा करते हैं। समन्वय के इस अभाव का दोष सदा पूँजीवादी प्रेक्षकों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। प्रायः यह स्थिति वहाँ होती है, जहाँ नाट्य-सिद्धांत-शास्त्री ब्रेष्ट के ऊपर कवि ब्रेष्ट हावी हो जाता है, एक ऐसी स्थिति जो तब पूर्णतः वैध और शकुनपूर्ण हो उठती यदि वह अपने को दुहराती न।

हम लोग स्पष्ट बातें करें। नाटक के निर्माण में प्रेक्षकों को भी एक तत्त्व के रूप में ले लेने की मेरी बात बहुतों को अजीब लगी होगी, किंतु जिस प्रकार प्रेक्षकों के बिना रंगमंच की स्थिति असंभव है उसी प्रकार किसी नाटक को इस प्रकार समझना या प्रयुक्त करना भी निरर्थक है मानो वह हिस्सों में बँटा हुआ और शून्य में पठित कोई संबोध्य गीति (ओड) हो। रंगमंच के लिए लिखा गया कोई टुकड़ा तभी सजीव नाट्य हो पाता है जब यह अभिनीत होता है। देखा, सुना, अनुभव किया जा सकता है और इस प्रकार तत्काल संवेदित होता है। यह तात्कालिकता रंगमंच का सर्वाधिक तात्त्विक पहलू है, यह एक ऐसा तथ्य है जो उन पवित्र रंगशालाओं में अक्सर भुला दिया जाता है जहाँ नेस्ट्राय के नाटक की अपेक्षा हाफमैंस्थाल के नाटक को अधिक महत्व दिया जाता है या आफेनबाख के संगीत की अपेक्षा रिचार्ड स्ट्रास की कृति को उत्कृष्ट माना जाता है। नाटक एक घटना होती है, एक ऐसी वस्तु जो घटित होती

है। रंगमंच पर प्रत्येक वस्तु तात्कालिक, दृश्य और संवेदनीय वस्तु में रूपांतरित हो जानी चाहिये। इसी विचार का पार्श्ववर्ती विचार यह भी है कि प्रत्येक वस्तु किसी तात्कालिक या शारीरिक वस्तु में रूपांतरित नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए काफ्का वास्तव में रंगमंच पर उससे संपृक्त नहीं प्रतीत होता। वहाँ जो भोजन प्रस्तुत किया जाता है, पोषण नहीं दे पाता, वह नियमित-अनियमित रंगदर्शकों के लौहजठर में अनपचा ही पड़ा रहता है। यदि भाग्य अच्छा हो तो भारीपन का अनुभव करने वाले प्रेक्षक इसका कारण उदरशूल न समझकर काफ्का की सच्ची कृतियों में निहित तत्वों से उद्भूत आत्मा का भारीपन समझ लेते हैं और इस प्रकार इस भ्रांति से सब कुछ ठीक हो जाता है।

प्रत्येक नाटक जिस तात्कालिकता की, अपने को रूपांतरित कर देने के लिए जिस दृश्य-झांकी की खोज करता है, वह एक रंगमंच, एक प्रेक्षागृह, एक प्रेक्षक-समुदाय की उपस्थिति आवश्यक बना देता है। अतः जिन रंगमंचों के लिए आज हमें नाटक लिखना है उनकी परीक्षा भी उचित होगी। धन-बहाऊ व्यावसायिक साहसिकता से हम सभी परिचित हैं। । आज की अन्य बहुत सी संस्थाओं की ही भाँति वे भी केवल आदर्शवादी धरातल पर ही न्यायोचित ठहराई जा सकती हैं, वास्तविकता के आधार पर तो बिल्कुल ही नहीं। हमारे रंगभवनों का स्थापत्य, उनमें बैठने की व्यवस्था और उनके रंगमंच, सब दरबारी रंगमंच की परंपरा से ही आये हैं। और भी सटीकता से कहना चाहें तो उससे आगे कभी बढ़े ही नहीं। केवल इसी कारण से ही हमारा तथाकथित समकालीन रंगमंच वास्तव में बिल्कुल भी समकालीन नहीं है। शेक्सपीयरकालीन आदिम रंगमंच के विपरीत, उस मचान—जिसपर गेटे के शब्दों में दिखलाया कुछ नहीं के बराबर जाता था, प्रत्येक चीज संकेतित होती थी—के विपरीत दरबारी रंगमंच ने पूर्णवास्तववाद की लालसा की पूर्ति के हर संभव प्रयत्न किये, फिर वे कितने ही अवास्तविक से क्यों न लगने लगें। अब प्रेक्षक 'हरे पर्दे के पीछे राज्य प्रकोष्ठ' की कल्पना से संतुष्ट नहीं होते थे, प्रकोष्ठ दिखलाने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। इस प्रकार के रंगमंच की विशेषता दर्शकों से मंच को अलग करने की उसकी प्रवृत्ति है जिसे वह पर्दों द्वारा और दर्शकों को आलोक से जगमगाते मंच की ओर मुँह किये अंधेरे में बैठाकर, दोनों प्रकार से करता है। यह बाद का नवीनीकरण संभवतः सबसे खतरनाक था क्योंकि अकेले इसी ने ऐसा नीरस गंभीर वातावरण पैदा कर दिया जिसमें हमारे रंगमंचों का दम घुटने लगा। रंगमंच झांककर देखने वाला प्रदर्शन हो गया। लगातार अच्छी से अच्छी प्रकाश-व्यवस्था का आविष्कार होने लगा, फिर चक्रिल रंगमंच का और अब तो चक्रिल रंगभवन का भी आविष्कार हो गया है। दरबार तो चले गये लेकिन दरबारी रंगमंच बने ही रहे। और अब हमारे युग ने अपने

अनुकूल एक नई रंगविधा पा ली है—सिनेमा। किंतु चाहे हम दोनों के अंतरों पर जितना भी बल दें, और इन पर बल देना चाहे जितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, इस ओर संकेत करना आवश्यक है कि सिनेमा रंगमंच से ही उगा-बढ़ा है, और अपने सारे यंत्रों, चक्रिल मंचों तथा दूसरे प्रभावों को लेकर रंगमंच जिन कार्यों को करने का केवल स्वप्न ही देख रहा था उन्हें सिनेमा ने अंततः उपलब्ध कर ही लिया। यह कार्य वास्तविकता की अनुभूति कराना है।

तब सिनेमा दरबारी रंगमंच के जनतांत्रिक रूप से न तो जरा भी कम है और न तनिक ज्यादा। सिनेमा हमारी आत्मीयता की भावना को अपरिमित रूप से प्रगट कर देता है, इतना अधिक कि फिल्में आसानी से बिल्कुल अभद्र कला होने तक का खतरा उठा लेती हैं। क्योंकि दर्शक पर्दे पर यौनचित्रण देखकर आनंद उठाने के लिए विवश हो जाता है और सिने-सितारे बहुत बड़ी जनप्रियता प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि जो लोग फिल्मों में उन्हें देखते हैं वे यह भी अनुभव करते हैं कि वे उनके साथ सोये हैं, इतनी अच्छी तरह सितारों का चित्रांकन किया जाता है। जीवन से अधिक विशाल पैमाने का चित्र अभद्रता है।

तब आज का हमारा रंगमंच आखिर है क्या ? यदि सिनेमा पुराने दरबारी रंगमंच का आधुनिक रूप है तो रंगमंच क्या है ? इस बात का बहाना बनाने से कोई लाभ नहीं कि आज का रंगमंच उस म्यूजियम से, जिसे नाटक के पिछले स्वर्णयुग के वैभव को प्रदर्शित करने के लिये प्रस्तुत किया जाता है, कुछ अधिक वस्तु है। इसे बदलने का कोई रास्ता नहीं है। यह बस बिल्कुल स्वाभाविक है। हमारा युग जो सदा अतीत की ओर देखा करता है सजीव वर्तमान के अतिरिक्त सब कुछ रखता है। गेटे के युग में प्राचीन नाटककार यदाकदा ही अभिनीत होते थे, कभी-कभी शिलर, किंतु अधिकतर कोट्जेव्यू। इनके अलावा और दूसरे कौन थे ? इस ओर संकेत करना उचित होगा कि फिल्में कोट्जेव्यू और बर्च पिकर्स के रंगमंच को ही प्रदर्शित करने का प्रयास कर रही हैं और यह कल्पना कर सकना कठिन है कि यदि फिल्में न होती और सभी कथा-लेखकों को रंगमंच के ही लिये लिखना पड़ता तो आज कैसे नाटक लिखे गये होते।

यदि समकालीन रंगमंच बड़ी दूर तक म्यूजियम है तो इसमें नियुक्त अभिनेताओं पर इस स्थिति का निश्चित प्रभाव भी पड़ता है। वे सरकारी नौकरों जैसे हो गये हैं जो प्रायः पेंशन पाने के भी हकदार होते हैं और रंगमंच पर अभिनय करने की अनुमति तभी पाते हैं जब फिल्म बनाने में व्यस्त नहीं रखे जाते। कभी के तिरष्कृत राज्य के ये सदस्य अब ठोस नागरिकता पा गये हैं। मानवीय दृष्टि से तो यह लाभ है किंतु कला की दृष्टि से हानि। आज अभिनेता सेवा के पदक्रम में चिकित्सकों

और छोटे उद्योगपतियों के बीच कहीं पर स्थित हैं और कला के क्षेत्र में वे केवल नोबेल पुरस्कार विजेताओं तथा पियानोवादकों और संगीतसंचालकों से ही मात खाते हैं। कुछ अभिनेता अपने किस्म के अतिथि प्रोफेसर होते हैं अथवा स्वतंत्र अध्येता होते हैं जो प्रायः म्यूजियमों में प्रकट होते हैं या प्रदर्शनियाँ आयोजित करते हैं। प्रबंधक नाटक चुनते समय इस बात को भी ध्यान में लेते हुए अपनी एक आँख अतिथि सितारे पर जमाए रखता है। प्रबंधक कहता है, अमुक अमुक तिथि को जब इस या उस क्षेत्र का यह या वह अधिकारी उपलब्ध हो तब हम कौन सा नाटक खेलें। साथ ही अभिनेताओं को अनेक अभिनय-शैलियों में यात्रा करने के लिए विवश किया जाता है—अभी तो बारोकशैली में और अभी क्लासिकी शैली में; आज प्रकृतवादी अभिनय में और कल क्लॉन्डेल के नाट्याभिनय में। मोलियेर के दिनों में अभिनेता को यह सब नहीं करना पड़ता था। निर्देशक भी आज अधिक महत्वपूर्ण हो उठा है। आर्केस्ट्रा के संचालक की भांति पहले से कहीं अधिक छाया रहनेवाला। ऐतिहासिक कृतियाँ उपयुक्त व्याख्या की मांग करती हैं और उन्हें करना भी चाहिए। किंतु निर्देशक जो काम उठाते हैं उसके प्रति उसी प्रकार सच्चे बने रहने का साहस अभी तक नहीं दिखा पाए हैं जिस प्रकार आर्केस्ट्रा-संचालक बिल्कुल स्वाभाविक रूप से अपने काम के प्रति सच्चे बने रहते हैं। क्लासिकी कृतियों की अक्सर व्याख्या नहीं की जाती बल्कि उन्हें फांसी पर लटका दिया जाता है और परदा उनकी विकृत लाशों पर गिरता है। लेकिन आखिर इन सब का खतरा निहित कहां है? बचने की एक रूढ़ि सदा रहती है जिसके द्वारा कालजयी चीजें पूर्णता के रूप में, हमारे सांस्कृतिक जीवन में एक प्रकार के स्वर्णमान के रूप, में स्वीकार कर ली जाती हैं और आधुनिक पुस्तकालय या मंदिर में कालजयी कृतियों के रूप में चमकने वाली प्रत्येक वस्तु को सोना समझ लिया जाता है। रंगदर्शक कालजयी कृतियों को देखने जाते हैं। चाहे उनका प्रस्तुतिकरण अच्छी तरह हो चाहे बुरी तरह, प्रशंसात्मक प्रतिक्रिया निश्चित रहती है। वास्तव में इसे शिक्षित व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझ लेता है। और इस प्रकार पाठशाला में रटी गई टिप्पणियों के अतिरिक्त और कुछ सोचने या निर्णय देने के कर्त्तव्यभार से जनता सचमुच मुक्ति पा लेती है।

तब भी आधुनिक रंगमंच जो अनेक प्रस्तुति-शैलियों पर अधिकार करना आवश्यक मान बैठा है, उसका एक अच्छा पहलू भी है। यद्यपि प्रथम दृष्टिपात में वह बुरा प्रतीत हो सकता है। रंगमंच का प्रत्येक महान युग इसलिए संभव हो सका है क्योंकि वह रंगमंच के अपने एक विशिष्ट रूप को खोज सका था, एक ऐसी खास प्रस्तुति-शैली अन्वेषित कर सका था जो यह निश्चित करती थी कि नाटक कैसे लिखे जाएगें। इसका उदाहरण अंग्रेजी या स्पेनी रंगमंच अथवा वियेना के

राष्ट्रीय रंगमंच से आसानी से प्रस्तुत किया जा सकता है। जर्मनभाषी रंगमंच की तो यह अत्यंत उल्लेखनीय प्रक्रिया है। केवल इसी तथ्य से इस बात की व्याख्या की जा सकती है कि किस प्रकार लोप द वेगा ने इतनी बड़ी संख्या में नाटकों का निर्माण कर लिया। शैली-निर्माण की दृष्टि से नाटक लिखना उसके लिये कोई बड़ी समसया नहीं थी। किंतु जहां तक आज रंगमंच की कोई एक निश्चित एकीकृत शैली मौजूद नहीं है, और वास्तव में अब यह संभव भी नहीं लगता, वहाँ तक रंग-मंच के लिए लिखना अब एक समस्या है और इस प्रकार पहले से कहीं अधिक कठिन हो उठा है। इसलिए हमारा समकालीन रंगमंच दो चीजों का योग है। एक ओर तो यह म्यूजियम है और दूसरी ओर प्रयोगों का क्षेत्र। प्रत्येक नाटक में लेखक को नई चुनौतियों, शैली के नये प्रश्नों का साक्षात्कार करना पड़ता है। हां, शैली अब सामूहिक सम्पत्ति नहीं रह गयी है, बल्कि अत्यधिक वैयक्तिक हो उठी है, यहाँ तक कि प्रत्येक नाटक में अलग विशिष्ट रूप ग्रहण करने लगी है। आज हमारे पास कोई एक शैली नहीं, बल्कि शैलियां हैं। यह तथ्य कला की वर्तमान स्थिति को सूत्ररूप में प्रस्तुत कर देता है। क्योंकि समकालीन कला प्रयोगों का एक क्रम है, इससे न जरा कम न ज्यादा, आधुनिक विश्व की और सभी बातों की ही तरह।

यदि यह सही है कि केवल शैलियाँ ही रह गई हैं तो यह भी सही है कि कला के सिद्धांत और रंगमंच का अभ्यास ही हमारे पास रह गया है और कोई एक नाट्य-निर्माण पद्धति नहीं बन पाई है। प्रत्येक नाट्यनिर्मिति के साथ एक नया सिद्धांत आता है; ब्रेश्ट, इलियट, क्लाडेल, फ्रिश्च या होश्वेइलडर का। तब भी नाटक के किसी एक ही सिद्धांत की कल्पना की जा सकती है। ऐसे सिद्धांत की जो सभी विशिष्ट उदाहरणों का समाहार कर ले। ठीक वैसे ही जैसे हमने एक ऐसी ज्यामिति का निर्माण कर लिया है जो सभी आयामों का स्पर्श करती है। अरस्तू का नाट्यसिद्धांत इस नाट्यकला के अनेक संभव सिद्धांतों में से केवल एक हो सकता है। इस प्रकार यह एक नया 'काव्यशास्त्र' होगा जो किसी विशेष रंगमंच की संभावनाओं का परीक्षण नहीं करेगा बल्कि रंगमंच मात्र की परीक्षा करेगा। यह स्वयं प्रयोगों की नाट्यकला होगी।

अब हम प्रेक्षकों के विषय में अंतिम रूप से क्या कह सकते हैं जिनके बिना, जैसा कि मैंने पहले कहा था—रंगमंच का अस्तित्व ही संभव नहीं है। प्रेक्षक अब नामहीन हो गया, टिकट खरीदने वाली जनता बनकर रह गया है। यह तथ्य उससे कहीं अधिक बदतर है जैसा ऊपरी दृष्टि से प्रतीत होता है। आधुनिक लेखक अब अपनी जनता को नही जानता बशर्ते वह ग्रामीण या कौक्स रंगमंच मात्र के लिए ही लिखकर संतोष न कर लेता हो, और इस तरह का लिखने में कोई खास मजा नहीं। नाटककार को अपने प्रेक्षकों की कल्पना करनी पड़ती है। किंतु सच्चाई यह है कि वह

स्वयं ही प्रेक्षक बन जाता है। यह एक ऐसा खतरा है जो न तो अब बदला जा सकता है, न ही पराजित किया जा सकता है। समुदाय की तो बात ही क्या, 'जनता' और 'समाज' के संबंध में भी जो संदेहास्पद, घिसी-पिटी, राजनीतिक दुरुपयोगग्रस्त धारणाएँ प्रचलित हो गयी हैं, वे सब अब बलपूर्वक रंगमंच पर भी घुस आयी हैं। लेखक कौन से सूत्र बनाये ? कैसे वह अपने विषय प्राप्त करे ? किन निष्कर्षों पर वह पहुँचे ? ये सारे प्रश्न हैं जिनका उत्तर संभवतः हम तब पा सकेंगे, जब हमें इस बात की अधिक स्पष्ट धारणा हो जाय कि आज भी रंगमंच में कौन सी संभावनाएँ निहित रह गयी हैं।

कोई नाटक लिखने का काम उठा लेने पर मुझे अपने को सबसे पहले यह स्पष्ट करना पड़ता है कि इसकी घटनाओं का स्थान क्या होगा ? प्रथम दृष्टि में तो यह कोई बड़ी समस्या नहीं प्रतीत होती। कोई भी नाटक लंदन या बर्लिन में, पहाड़ों में अस्पताल में अथवा युद्धभूमि में, कहीं भी घटित हो सकता है—नाटचक्रिया जहाँ भी अपेक्षित हो। किंतु बात बिल्कुल ऐसी ही नहीं होती। नाटक अंततः किसी रंगमंच पर ही होता है जिसे लंदन, पहाड़ या युद्धभूमि का प्रतिरूपण करना पड़ता है। यह विशिष्टता यद्यपि आवश्यक नहीं है, तब भी अलगायी जा सकती है। यह पूर्ण रूप से इस बात पर निर्भर है कि लेखक रंगमंच को अपनी रचना में कितनी दूर तक महत्व देता है, कितनी शक्ति के साथ उस भ्रम का निर्माण करना चाहता है जिसके बिना रंगमंच का अस्तित्व ही संभव नहीं; और साथ ही क्या वह दृश्यनिर्माण कैनबस पर गाढ़े रंग पोतकर करना चाहता है या उसे पारदर्शी, स्वच्छ और टूटनशील बनाना चाहता है। नाटककार स्थान के संबंध में बहुत अधिक कड़ा हो सकता है—मैड्रिड, रूयेटली या रूसीस्तेपी अथवा इसे वह मात्र रंगमंच मानकर चल सकता है—बस दुनिया, उसकी दुनिया।

संदर्भित स्थान की प्रतिकृति रंगमंच कैसे उपस्थित करेगा ? निश्चय ही यह कार्य दृश्य-परिकल्पक का है। चूँकि दृश्य-परिकल्पन चित्रकला का ही एक रूप है, हमारे युग में चित्रकला के क्षेत्र में जो प्रगतियाँ हुई हैं उन्होंने रंगमंच को भी अछूता नहीं छोड़ा है। किंतु वास्तव में रंगमंच न तो मनुष्य, नहीं भाषा का अमूर्तीकरण कर सकता है। क्योंकि यह अपने में अमूर्त और ठोस दोनों है और दृश्य, चाहे जितना भी अमूर्त बनने की कोशिश करे, सार्थक बने रहने के लिए उसे किसी ठोस वस्तु का प्रतिरूपण करना ही पड़ेगा। अतः इन दोनों ही कारणों से दृश्य-परिकल्पन के क्षेत्र में अमूर्तीकरण मूलतः असफल ही प्रमाणित हुआ। तब भी वह 'हरा पर्दा' जिसके पीछे दर्शकों को नाटक के स्थान 'शाही प्रकोष्ठ' की कल्पना करनी पड़ती थी, पुनर्स्थापित किया जा सका था। इस तथ्य को दुहराया गया कि नाटकीय स्थान और रंगमंच

समानरूप से एक ही वस्तु नहीं हैं फिर चाहे दृश्यपीठ कितना ही विवरणयुक्त, कितना ही यथार्थात्मक क्यों न बनाया गया हो। तथ्य यह है कि स्थान का सर्जन नाटक द्वारा होना है। एक शब्द 'हम वेनिस में हैं'; दूसरा 'लंदन की मीनार हैं'। प्रेक्षकों की कल्पना को बस जरा सा सहारा मात्र चाहिए। दृश्य को स्थान का वर्णन नहीं करना है, उसे तो बस व्यंजित करना, संकेतित करना, सघन करना है। एक बार पुनः यह सामग्रीहीन, पारदर्शी हो गया। और इसी प्रकार रंगमंच पर दिखलाये जानेवाले नाटक के स्थान को भी अरूप-महत्वहीन बनाया जा सकता है।

अभी हाल ही में वाइल्डर ने 'हमारा गांव' और 'हमारे दांतों का छिलका' नाम से दो नाटक लिखे हैं जो नाटकीय स्थान और दृश्य की अरूपता-महत्वहीनता की पूर्वोल्लिखित संभावना को अत्यंत स्पष्टता से चित्रित करते हैं। 'हमारा गांव' में रंगमंच की अरूपता-महत्वहीनता निम्नलिखित प्रकार से क्रियान्वित की गई है। रंगमंच प्रायः बिल्कुल रीता है, केवल कुछ थोड़ी-सी चीजें जिनकी रिहर्सल में भी जरूरत पड़ती है, वहां पड़ी हैं, कुछ कुर्सियां, मेजें, सीढ़ियां आदि और रोजमर्रा की इन्हीं चीजों की मदद से स्थान का सर्जन किया जाता है, नाटकीय स्थान का, गांव का। यह सब प्रेक्षकों की सजग की गई कल्पना द्वारा, नाटक द्वारा, संसार द्वारा होता है। रंगमंच का महान सनकी वाइल्डर अपने दूसरे नाटक में भी स्थान को महत्वहीन बना देता है; इसमें इन्ट्रोबस-परिवार किस युग सभ्यता के किस चरण में निवास करता है, यह कभी पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं होता। कभी तो यह हिम-युग रहता है और कभी विश्वयुद्ध का युग बन जाता है। आधुनिक नाटक में इस प्रकार के प्रयोग अक्सर मिल सकते हैं। इसी प्रकार फ्रिश्च के नाटक 'ऊडरलैंड' में विचित्र काउंट वेस्टलैंड कहां रहता है यह अनिश्चित है। कोई नहीं जानता कि 'गोदो' की प्रतीक्षा कहां की जाए। और 'मि० मिसीसीपी का विवाह' नामक नाटक में मैंने [नाटक में हास्य व्यंग्य की भावना भरने के लिये] स्थान की अनिश्चितता व्यक्त करने के लिये कमरे की दाहिनी खिड़की से उत्तरी प्रकृति-दृश्य, जिसमें गोथिक कैथेड्रल और सेब का पेड़ है दिखलाया है जब कि उसी कमरे की बाईं खिड़की से दक्षिणी प्राकृतिक दृश्य दिखाई पड़ता है जिसमें एक प्राचीन खंडहर, भूमध्य सागरीय स्पर्श और साइप्रस का पेड़ है। यदि मैक्स फ्रिश्च की बात कहूँ तो इन सब का वास्तविक अर्थ यह है कि नाटककार रंगमंच को लेकर काव्य का निर्माण कर रहा है—एक ऐसी संभावना जिसने मुझे सदा अनुरंजित किया है और जो मुझपर छाई रही है, और मेरे नाटक लिखने के कारणों में मुख्य नहीं तो कम से कम एक अवश्य है। किंतु तब—यहां मैं अरिस्तोफैंस की कामदियों और नैस्ट्राय के हास्यनाटकों की बात सोच रहा हूँ—प्रत्येक युग में न केवल रंगमंच के लिये बल्कि रंगमंच को लेकर भी काव्य रचा गया।

इन आकस्मिक समस्याओं से हम अधिक आधारभूत समस्या की ओर मुड़ें। मैंने [यदि किसी ऐसे लेखक को लें जिसे पूरी तरह नहीं तो कुछ दूर तक मैं जानता ही हूँ] जिन विशिष्ट समस्याओं का साक्षात्कार किया है वे कैसी दिखाई पड़ती हैं ? 'अंधा आदमी' में मैं नाटकीय स्थान के प्रतिकूल शब्दों को सहस्थित करना चाहता था, दृश्य के विरुद्ध शब्द को मोड़ना चाहता था। अंधा ड्यूक विश्वास करता है कि वह अच्छी तरह सुरक्षित अपने किले में है जब कि वस्तुतः वह खंडहर में रहरहा होता है। वह समझता है कि वैलेंस्तेइन के समक्ष विनीत हो रहा है किंतु वह वस्तुतः एक निग्रो के सामने घुटने मोड़ रहा होता है। नाटकीय स्थान एक ही है किंतु अंधे आदमी के सामने रचे जा रहे छल द्वारा यह दुहरी भूमिका अदा करता है; प्रेक्षकों द्वारा देखे जा रहे स्थान के रूप में, और उस स्थान के रूप में जिसमें अंधा आदमी अपने को समझता है। इसी प्रकार 'बैबीलोन में देवदूत का आगमन' नामक अपनी कामदी में जब मैंने नाटकीय स्थान के रूप में उस नगर को चुना जिसमें मीनार का निर्माण किया जा रहा था, तो मुझे मूलतः दो समस्याओं का समाधान करना था। पहली बात तो यह कि रंगमंच को इस तथ्य की व्यंजना करनी थी कि मेरी कामदी में क्रिया के दो स्थल हैं—आकाश (हेवेन) और बैबीलोन का नगर। आकाश, जो क्रिया के मूलस्रोत का गुप्त बिन्दु था, और बैलीलोन, वह स्थान जहाँ वह क्रिया पथयात्रा करती है।

अस्तु, मैं समझता हूँ काली पृष्ठभूमि द्वारा आकाश का सादा प्रतिरूप अच्छी तरह उपस्थित किया जा सकता था जो उसकी निस्सीमता संकेतिक करता। किंतु चूँकि अपनी कामदी द्वारा मैं यह विचार संप्रेषित करना चाहता था कि आकाश निस्सीम नहीं, कुछ अबोध्य और बिल्कुल दूसरे तरह की वस्तु है, रंगमंच की पृष्ठभूमि—बैबीलोन नगर—के ऊपर के आकाश को अंड्रोमिडा की विशाल नीहारिका से पूर्णतया आच्छादित कर देने को मैंने कहा। ठीक वैसे ही जैसे पैलोमार पर्वत पर स्थित टेलिस्कोप से देखने पर वह दिखाई पड़ता है। इससे मैं जो उपलब्ध करने की आशा करता था वह यह कि अबोध्य और अपरीक्षणीय आकाश रूप ग्रहण कर सके और मंच पर अपनी उपस्थिति पा सके। इस प्रकार आकाश और धरती का पुनर्मिलन भी सामने आ सका जो दोनों के समीप आने की प्रक्रिया–देवदूत के बैबीलोन आगमन की क्रिया पर जोर देता है। इस प्रकार एक ऐसी दुनियाँ भी निर्मित हो सकी जिसमें क्रिया के परिणाम अर्थात् बैबीलोन की मीनार का निर्माण संभव हो सका।

दूसरी ओर मुझे यह भी सोचना था कि रंगमंच बैबीलोन के रूप में उस स्थान का प्रतिरूपण किस प्रकार करे जिसमें क्रिया उद्घाटित होती है। बैबीलोन का विचार मुझे चुनौतियों से भरा प्रतीत हुआ। कारण, इसकी समयानुकूलता, इसका भीमाकार महानगरीय रूप, गंदगियों और गगनचुंबी अट्टालिकाओं से युक्त

इसका न्यूयार्क जैसा रूप। और प्रथम दो अंकों की क्रियाओं को यूफ्रेटीज के तट पर घटित दिखाकर मैं पेरिस की ओर संकेत करना चाहता था। संक्षेप में, बैबीलोन किसी महानगर का प्रतिनिधित्व करता है। यह कल्पना का बैबीलोन था जिसमें उसकी कुछ खास विशिष्टताएँ सुरक्षित रखी गई थीं किंतु उसे आधुनिकीकृत पैरोडी का रूप दे दिया गया था। जैसे सड़कों पर रोशनी की व्यवस्था करके उसमें आधुनिकता के उपकरण भी सम्मिलित कर लिये गए थे। निस्संदेह रंगमंच का निर्माण करना, दृश्यों को सजाना दृश्य-परिकल्पक का कर्त्तव्य है किंतु नाटककार को सदा ही इस बात का स्वयं निर्णय कर लेना चाहिये कि वह किस प्रकार का रंगमंच चाहता है।

मुझे रंगमंच पर रंगीन दृश्यबंध प्रिय है, यदि एक प्रशंसनीय उदाहरण दें तो थियो ओटो के मंच की ही भाँति संयुक्त रंगमंच। जैसा एक बार फैशन हो गया था, काले पर्दों वाले रंगमंच का मेरे लिये कोई उपयोग नहीं। अथवा जैसा कुछ दृश्यपरिकल्पकों का इष्ट है मुझे चिथड़ों वाले रंगमंच की अकिंचनता में गौरव का अनुभव करने की प्रकृति भी पसंद नहीं। निश्चय ही रंगमंच में अन्य सभी चीजों से कहीं अधिक शब्द का महत्व है, किंतु ध्यान दीजिए, सभी चीजों से अधिक। क्योंकि शब्द के अतिरिक्त और भी दूसरी अनेक चीजें हैं जिनका रंगमंच के साथ अधिकारपूर्ण संबंध है। यहाँ तक कि कुछ दूर तक खिलवाड़ का भी। इस प्रकार मेरे नाटक 'मिसीसिपी' के संबंध में, जिसमें एक पात्र बहुत पुरानी घड़ी में से निकलकर रंगमंच पर प्रवेश करता है, जब किसी ने विचारपूर्वक यह पूछा कि मैंने चार आयामों वाले रंगमंच पर सोचा है या नहीं तो मैं यही उत्तर दे सका कि जब मैं इसे लिख रहा था तब आइंस्टाइन मेरे मन में नहीं था। बात केवल इतनी है : अपने दैनिक जीवन में मुझे इससे बड़ा आनंद प्राप्त होगा यदि मैं मित्रगोष्ठी में किसी पुरानी घड़ी में से निकल कर या खिड़की में से उड़ कर पहुँचूं और इस प्रकार सब को चौंका दूँ। हम नाटककारों को अपनी ऐसी इच्छाओं को कभी-कभी रंगमंच पर संतुष्ट कर लेने के अधिकार से किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि ऐसी सनकों की पूर्ति यहीं संभव है। अंडा और मुर्गी में से कौन पहले पैदा हुआ वाला पुराना तर्क इस प्रश्न के रूप में कला पर भी लागू किया जा सकता है कि अंडा या मुर्गी—शक्ति-संभावनाओं के रूप में संसार या समृद्ध फसल के रूप में संसार प्रस्तुत किया जाए। अंडा और मुर्गी के पक्षों को लेकर कलाकार दो दलों में अच्छी तरह विभाजित हो सकते हैं। तर्क बड़ा जीवन्त होगा। अल्फ्रेड पोल्गार ने एक बार मुझसे कहा कि यह कितनी विचित्र बात है कि जब ऐंग्लोसेक्सन नाटकों में हर चीज संवादों में ही आ जाती है तब मेरे नाटकों में रंगमंच पर बहुत सी घटनाएँ घटित होते दिखाई जाती हैं और यह कि पोल्गार कभी एक सीधा सादा ड्यूरेनमाट्ट

नाटक देखना पसद करेगा। इस सत्य के पीछे यह कहने की मेरी अस्वीकृति है कि मुर्गी के पहले अंडा हुआ और अंडे की अपेक्षा मुर्गी पसंद करने का मेरा अपना व्यक्तिगत पक्षपात छिपा है। यह मेरा भावावेश ही है जो हमेशा खुशगवार नहीं सिद्ध होता कि मैं रंगमंच पर विश्व की विविधतामय विभिन्नताएँ, उसकी समृद्धि, प्रस्तुत करना चाहता हूँ। परिणामस्वरूप मेरा रंगमंच अनेक प्रकार की व्याख्याओं का कारण बन जाता है और कुछ लोगों को भ्रमित भी कर देता है। गलतफहमियाँ तब पैदा होती हैं जब मेरे नाटकों के मुर्गी के पिंजड़े में कोई निराश दृष्टि से इधर-उधर उस कोलंबस अंडे को खोजने लगता है जिसे पैदा करने से मैंने ज़िदपूर्वक इनकार कर दिया है।

किंतु कोई नाटक न केवल किसी स्थान बल्कि किसी कालखंड से भी बँधा होता है। जिस प्रकार रंगमंच स्थान का प्रतिरूपण करता है उसी प्रकार यह काल का भी प्रतिरूपण करता है, उस कालखंड का जिसमें नाटक की क्रियाएँ घटित होती हैं और उस कालखंड का भी जिसमें नाटक उन्हें अभिनीत रूप में प्रस्तुत करता है। यदि अरस्तू ने सचमुच में स्थान, काल और क्रिया की अन्विति की मांग की थी तो उसे त्रासदी के अभिनय काल को उतने समय तक ही सीमित कर देना चाहिये था, जितना समय क्रियाओं के संपादन में लगता। (यह ऐसा कमाल था, जिसे यूनानी त्रासदीकारों ने लगभग प्राप्त कर लिया था)। फलस्वरूप निश्चय ही सब चीजों को उसी क्रिया पर संकेंद्रित करना पड़ता। समय 'स्वाभाविकता' के साथ गुजरता। हर चीज एक के बाद एक बिना अंतरालों के आती चली जाती। किंतु हमेशा बात ऐसी ही नहीं है। सामान्यतया क्रियाएँ रंगमंच पर एक के बाद एक आती हैं, किंतु नेस्ट्राय के जादुई प्रहसन 'शादी के दिन मौत' से एक उदाहरण लें तो उसमें दो अंक ऐसे मिलते हैं जो एक ही समय समानांतर एक साथ घटित हो रहे हैं, समानांतर स्थिति का भ्रम बड़े कौशल के साथ दिया गया है; एक अंक की घटनाएँ दूसरे अंक में पृष्ठभूमि के शोर का रूप धारण करती हैं और दूसरे अंक की घटनाएँ पहले अंक के पृष्ठभूमि-शोर का रूप। रंगमंचीय युक्ति के रूप में समय के उपयोग के दूसरे उदाहरण भी आसानी से याद किये जा सकते हैं। समय को संक्षिप्त किया जा सकता है, उसे खींचा-बढ़ाया जा सकता है, संकेन्द्रित किया जा सकता है, अवरुद्ध किया जा सकता है, दुहराया जा सकता है। जोशुआ की भाँति नाटककार भी अपने आकाश की कक्षाओं को पुकार कर कह सकता है—'रंगमंच के सूर्य ! मिरीडियन पर स्थिर होकर खड़े हो जाओ, और तुम रंगमंच के चंद्र ! अजालौन की घाटी में स्थिर हो जाओ।'

यह बात भी ध्यान देने की है कि जिन अन्वितियों को अरस्तू के नाम डाला जाता है वे यूनानी त्रासदियों में भी पूर्ण रूप से पालन नहीं की जाती थीं। क्रिया के बीच में

कोरस हस्तक्षेप करते थे और इस युक्ति-साधन द्वारा समय के बीच अंतराल डाला जाता था। जब कोरस क्रिया के बीच में हस्तक्षेप करते थे तो समय के संदर्भ में ये वही चीज उपलब्ध कर लेते थे जिसे आज पर्दा प्राप्त करता है। पर्दा क्रिया के समय को काटकर फैला देता है। ऐसे आदरणीय कार्य के विरुद्ध मुझे कुछ नही कहना है।

पर्दे के संबंध में अच्छी बात यह है कि यह बड़ी स्पष्टता से अंक को परिभाषित कर देता है। कहना चाहें तो खाने की मेज को पोंछपाँछ देता है। और बड़ी बात तो यह कि अक्सर थके हुए और भयभीत प्रेक्षकों को विश्राम देना मनोवैज्ञानिक रूप से अत्यंत आवश्यक हो उठता है। किंतु हमारे युग में समय और भाषा को बाँधने के एक नये तरीके का भी ईजाद हो गया है।

अब यदि मैं पुनः वाइल्डर के 'हमारा गाँव' को उदाहरण के लिए चुन रहा हूँ तो इसका कारण यही है कि यह सुन्दर नाटक व्यापक रूप से प्रचारित है। आपको याद होगा कि इस नाटक में विभिन्न चरित्र प्रेक्षकों की ओर मुड़ते हैं और अपने छोटे से गाँव की चिंताओं तथा आवश्यकताओं के बारेमें बातें करते हैं। इस तरीके से वाइल्डर पर्दे से पिंड छुड़ाने में समर्थ हो सका। पर्दे की जगह प्रेक्षकों के प्रति सीधे संबोधन ने ले ली। वर्णन का महाकाव्यात्मक तत्व नाटक के साथ संयुक्त कर दिया गया। संभवतः इसी कारण रंगमंच के इस रूप को महाकाव्यात्मक रंगमंच का नाम दिया गया।

किंतु बिलकुल समीप से देखने पर शेक्सपीयर या गेटे का एक खास अर्थ में महाकाव्यात्मक रंगमंच ही है। केवल एक दूसरे, तनिक कम स्पष्ट ढंग से। चूँकि शेक्सपीयर के ऐतिहासिक नाटक पर्याप्त विस्तृत समय सीमा को समेटे हैं, यह समय-प्रसार विभिन्न क्रियाओं, विभिन्न उपकथाओं में विभाजित कर दिया गया है जिनमें से प्रत्येक को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। हेनरी चतुर्थ के प्रथम भाग में ऐसी उन्नीस उपकथाएँ हैं और 'गौएट्ज' के चतुर्थ अंक के अंत तक ही कम से कम एकतालीस टेब्लो आ गये हैं। इसके बाद मैंने गिनना ही छोड़ दिया। यदि कोई संपूर्ण क्रिया के निर्माण पर दृष्टि डाले तो समय के संदर्भ में यह महाकाव्य के बिल्कुल समीप जान पड़ेगा, सिनेमा की तरह, जो बहुत धीरे-धीरे, इस प्रकार चलाया जा रहा हो कि प्रत्येक चौखटा देखा जा सके। एक निश्चित समय के भीतर प्रत्येक चीज का सघनीकरण नाटक के उपकथात्मक रूप के पक्ष में छोड़ दिया गया।

इस प्रकार जब हमारे कुछ आधुनिक नाटककारों में से कोई प्रेक्षकों की ओर मुड़ता है तो वह नाटक को उसकी अपेक्षा कहीं अधिक गतिसातत्य देने का प्रयत्न करता है जो नाटक के उपकथात्मक रूप में दूसरे तरीकों से संभव हो सकता है।

अंकों के बीच के अंतराल को भरना पड़ता है, समय के अंतरालों को जोड़ना पड़ता है, स्थान-ठहरावों द्वारा नहीं; बल्कि शब्दों द्वारा, इस बीच जो कुछ घटित हुआ है उसके वर्णन द्वारा या किसी नये चरित्र के आत्मपरिचय द्वारा। दूसरे शब्दों में कथोद्‌घाटन ही महाकाव्यात्मक शैली में प्रस्तुत किये जाते हैं, वे क्रियाएँ नहीं जिनतक ये कथोद्‌घाटन पहुँचाते हैं। यह रंगमंच पर शब्द के बढ़ते हुए चरण को सूचित करता है, एक लंबे समय पहले हारी हुई जमीन को पुनः जीतने के शब्द के प्रयास को सूचित करता है। हमें इसपर जोर देना चाहिये कि यह केवल प्रयास मात्र है, क्योंकि अक्सर ही प्रेक्षकों के प्रति सीधे संबोधन का उपयोग नाटक की व्याख्या करने के लिए किया जाता है। यह एक ऐसा प्रयास है, जिसका कोई मतलब नहीं निकलता। यदि प्रेक्षक नाटक से प्रभावित हुए हैं तो उन्हें व्याख्याओं द्वारा कोंचने-कुरेदने की आवश्यकता नहीं, और यदि प्रभावित नहीं हुए हैं तो किसी भी प्रकार की कुरेद कोई सहायता नहीं कर सकती।

महाकाव्य के विपरीत, जो मानवों का वर्णन उसी प्रकार कर सकता है जैसे वे हैं, नाटक की अनिवार्य सीमाएँ होती हैं, फलस्वरूप वह उन्हें शैलीबद्ध करता है। यह सीमा स्वयं कलारूप में निहित है। नाटक का मनुष्य अंततः बातें करनेवाला व्यक्ति होता है, और वाणी उसकी सीमा है। क्रियाएँ नाट्य-मानवों को एक खास ढंग से बातें करने के लिए प्रेरित मात्र करती हैं। क्रिया वह घरिया है, जिसमें मानव को गलाकर उन्हें शब्दों में तरलित किया जाता है, उन्हें शब्दों में परिणत हो जाना पड़ता है। संभवतः इसका अर्थ यह है कि नाटककार के रूप में मुझे रंग-व्यक्तियों को ऐसी स्थितियों में डालना है, जो उन्हें बोलने के लिए विवश करें। यदि मैं केवल यह दिखाता हूँ कि दो व्यक्ति बैठे हुए साथ-साथ काफी पी रहे हैं और साथ ही मौसम, राजनीति या आधुनिकतम फैशन पर बातें भी कर रहे हैं तो न तो मैं नाटकीय स्थिति और नहीं नाटकीय संवाद प्रस्तुत करता हूँ। फिर उनकी बातें चाहे जितनी मजेदार क्यों न हों। उनकी बातचीत में कुछ दूसरे तत्व भी मिश्रित किये ही जाने चाहिये—कुछ ऐसी चीजें जो आहत उत्तेजना, नाटकीयता और दुहरे अर्थों को जोड़ सकें। यदि प्रेक्षक जानते हैं कि दोनोंमें से किसी एक या दोनों प्यालों में जहर मिला हुआ है और बातचीत वास्तव में एक दूसरे को जहर देनेवालों के बीच हो रही है, तभी दो व्यक्तियों के कॉफी पीने का यह छोटा सा दृश्य इस कला-साधन द्वारा नाटकीय स्थिति बन सकती है, जिसके द्वारा और जिसके आधार पर नाटकीय संवाद विकसित किया जा सकता है। किन्हीं विशेष तनावों या किन्हीं विशेष परिस्थितियों के संयोजन के बिना नाटकीय संवाद विकसित नहीं हो सकता।

जिस प्रकार संवाद किसी स्थिति से ही विकसित होता है उसी प्रकार संवाद किसी स्थिति तक ले भी जाता है जिसका अर्थ है संभवतः नई स्थिति तक। नाटकीय

संवाद कुछ क्रियाओं, कुछ पीड़ानुभवों, किसी नई स्थिति को जन्म देता है बदले में जिसके द्वारा पुनः नया संवाद संभावित होता है और इस प्रकार क्रम चलता जाता है।

तब भी, मानव बातें करने से कहीं अधिक कुछ करता है। इस तथ्य ने, कि मानव सोचता भी है, या कम से कम उसे सोचना चाहिये, कि वह भावानुभव करता है—हाँ अन्य किसी चीज की अपेक्षा महसूस ही अधिक करता है, और यह कि वह जो कुछ सोचता या अनुभव करता है उसे सदा ही दूसरों के सामने व्यक्त नहीं करना चाहता, एक दूसरी कला-युक्ति एकालाप के उपयोग का मार्ग दिखाया। यह तो संभवतः सच है कि मंच पर अकेले खड़े होकर जोर-जोर से अपने आप से बातें करने वाला व्यक्ति बहुत स्वाभाविक नहीं लगता, और यही बात कहीं अधिक उपयुक्तता के साथ संगीतनाट्य के लंबे गीतों के विषय में भी कही जा सकती है। किंतु एकालाप प्रमाणित करता है कि कोई कलापूर्ण चाल, जिसे सचमुच चलना तो नहीं चाहिये, ऐसा अप्रत्याशित प्रभाव उपलब्ध कर सकती है जिससे जनता उचित ही अक्सर अभिभूत हो जाती है, इतनी अधिक अभिभूत कि हेमलेट का एकालाप 'टुबी आर नाट टुबी' या 'फौस्ट' के एकालाप रंगमंच के अत्यंत प्रिय और अत्यंत प्रसिद्ध टुकड़े हो गये हैं।

किंतु ऐसी हर चीज जो एकालाप लगती है एकालाप होती नहीं। संवाद का उद्देश्य किसी मनुष्य को ऐसे बिंदु तक ले आना मात्र नहीं है, जहाँ उसे पीड़ानुभव या अभिनय करना ही पड़े, किंतु मौके-मौके पर यह उस बिंदु तक भी पहुँचता है जहाँ किसी दृष्टिकोण की व्याख्या के लिए मुख्यतः भाषणनुमा वक्तव्य अनिवार्य हो उठता है। बहुत से लोग तब से भाषण कला का अभिशंसन भूल गये हैं, जब से हिलपर्ट के कथनानुसार किसी ऐसे अभिनेता ने जिसे अपना संवाद ठीक से याद नहीं था, स्वाभाविकतावाद (नेचुरलिज्म) का आविष्कार कर दिया। यह हानि कुछ खेदजनक है। अन्य किसी कलायुक्ति की तुलना में तलबत्तियों (फूटलाइट्स) के पीछे से दिया गया भाषण कहीं अधिक प्रभावशाली हो सकता है।

किंतु हमारे बहुत से आलोचक आज भाषण की उपयोगिता समझने की स्थिति में नहीं हैं। ऐसे लेखक को, जो आज भाषण लिखने का साहस करता है, वही नियति भोगनी पड़ेगी, जो डिकियो पोलिस नामक किसान को भोगनी पड़ी थी। उसे बधिक की बेदी पर अपना मस्तक रख देना पड़ेगा। इसके सिवाय एरिस्टोफैनीज के आपार-नियन्स के बदले आलोचकों का बहुमत ही होगा, जो लेखक पर उतरेगा—दुनियाँ की एक अत्यंत सामान्य बात। किसी आदमी के दिमाग को नष्ट करने के लिए उससे अधिक चिंतित कोई दूसरा नहीं होता, जिसके पास स्वयं इसकी कमी रहती है।

और भी, नाटक में सदा ही कुछ न कुछ वर्णनात्मक तत्त्व अवश्य रहे हैं। यह महाकाव्यात्मक नाटक की खोज नहीं है। अतः उदाहरणार्थ किसी क्रिया की पृष्ठभूमि को सदा ही कहना पड़ता है या संवादवाहक के वर्णन के रूप में किसी घटना की घोषणा करनी पड़ती है। किंतु रंगमंच पर वर्णन खतरों से खाली नहीं है। क्योंकि यह उसी ढंग से सजीव नहीं होता, यह उसी प्रकार ग्रहणीय नहीं होता, जिस प्रकार रंगमंच पर घटित होती हुई कोई क्रिया। इसपर विजय पाने के प्रयास भी हुए हैं—जैसे संदेशवाहक का नाटकीयकरण करके, उसे संकटपूर्ण क्षणों में प्रस्तुत करके या उसे ऐसा जड़बुद्धि बनाकर जिससे बड़ी कठिनाइयों के बाद ही बात निकाली जा सकती है। किंतु यदि वर्णन को रंगमंच पर सफल होना है तो उसमें भाषण कला के कुछ विशिष्ट तत्त्व तब भी रह ही जायेंगे। रंगमंचीय वर्णन कुछ अतिशयोक्ति के बिना नहीं रह सकता। उदाहरण के लिए ध्यान दीजिये, क्लियोपाट्रा की नौका के प्लूटर्क द्वारा किये गये वर्णन को शेक्सपीयर किस भाँति संवर्धित करता है। यह अतिशयोक्ति केवल बरोक शैली की एक विशेषता मात्र नहीं है, बल्कि क्लियोपाट्रा की नौका को रंगमंच पर उतारने का, वहाँ उसे दृश्य रूप में मूर्त करने का एक साधन है। किंतु चूंकि रंगमंच पर अतिशयोक्ति के बिना भाषण ठहर नहीं सकता, यह जानना महत्वपूर्ण है कि कब अतिशयोक्ति की जाय। और सबसे बड़ी बात कैसे की जाय।

और भी, आगे जिस प्रकार रंग-चरित्र कुछ विशिष्ट नियति भोगते हैं, उसी प्रकार उनकी भाषा भी। उदाहरण के लिए देवदूत जो बैबिलोन आया था, वह पृथ्वी के सौंदर्य के प्रति एक-एक अंक करके अधिकाधिक उत्कंठोत्साहित होता जाता है, अतः उसकी भाषा भी इस ऊर्ध्वमान उत्कंठोत्साह के समानांतर चढ़ती जानी चाहिये, जबतक यह स्पष्ट ऋचा के रूप में न बदल जाय। इसी प्रहसन में भिखारी अक्की अपनी जीवन कहानी 'मकामत' की माला के रूप में सुनाता है जो समृद्ध और भव्य गद्य के टुकड़े होते हैं, छंद-तुक से मिश्रित और व्याकरण, काव्यशास्त्र, काव्यात्मक मुहावरे तथा हजार वर्ष पूर्व विकसित अरब की परंपरा की परिष्कृतियों से भरपूर होते हैं। इस प्रकार मैंने इस व्यक्तित्व की अरबी विशिष्टता को, शब्दों से खेलने, लड़ने तथा कहानियाँ गढ़ने में उसके रस लेने को, संप्रेषित करने का प्रयत्न किया है—गाथा नाम की दूसरी विधा में भटके बिना ही। अक्की के मकामत या प्रासंगिक उपकथाएँ उसकी भाषा द्वारा प्रस्तुत आत्यांतिक संभावनाओं से अधिक और कुछ नहीं हैं और इस प्रकार वे उसकी शख्सियत को ही और अधिक सघन करते हैं। मकामत के जरिये अक्की बिल्कुल भाषा बन गया है और इसी के लिए लेखक को सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये, जिससे कि उसके नाटकों में ऐसे विशेष क्षण आ

जायँ, जिनमें वे चीजें जिनका सर्जन उसने लिखित शब्दों द्वारा किया है, सजीव भाषा बन जायँ, और कुछ नहीं।

यहाँ सभवतः एक खतरा भी झाँकता है। भाषा लेखक को भटका भी सकती है। सहसा लिखने में समर्थ होने की खुशी, भाषा-स्वामित्व की खुशी, उदाहरण के लिए जैसा कि 'दि ब्लाइड मैन' लिखते समय मुझे हुई, लेखक को बहुत बकबक करने की ओर ले जा सकती है, उसे विषय से हटाकर भाषा के आश्रय में ले जा सकती है। विषय से नैकटच बनाये रखना स्वयं में एक बड़ी कला है, जो बात करने की प्रेरणा के स्वामित्वपूर्ण नियंत्रण से ही उपलब्ध होती है। शब्दों के साथ खिलवाड़ के समान संवाद भी लेखक को उसके विषय से बार-बार अलग ले सकता है, उसे गलियों में भटका सकता है। तब भी उसके मन में फिर-फिर विचार कौंधते ही रहते हैं, ऐसे विचार जिनका प्रतिरोध उसे नहीं ही करना है, चाहे वे उसकी सावधानी से बनाई पूर्वयोजना को कितना ही अस्त-व्यस्त कर दें। क्योंकि इनमें से कुछ लोभनीय विचार-कौंधों के विरुद्ध अपने को सुरक्षित रखने के साथ ही लेखक को इतना साहस तो रखना ही चाहिये कि उनमें से कुछ का अनुगमन भी वह कर सके।

स्थान, काल और क्रिया की ये समस्याएँ, ये तत्व जो संभवतः आपस में अंतर्ग्रथित हैं और जिनकी ओर यहाँ इशारा मात्र किया गया है, नाटक की आधारभूत सामग्री, कला-युक्तियाँ, उसकी कारीगरी के उपकरणों से संबंध रखते हैं। लेकिन मुझे इसे यहाँ अभी स्पष्ट कर लेने दीजिये कि 'नाटक की कारीगरी' की धारणा विवादास्पद है। यह धारणा कि कोई व्यक्ति जो पर्याप्त रूप से परिश्रम और दृढ़तापूर्वक इस कला में कुछ उपलब्ध कर लेने का प्रयास करता है, अंत में सफल होगा, कि यह कला सीखी भी जा सकती है, बहुत पहले ही तिरष्कृत हो चुकी है। तब भी नाटच-लेखन-कला के संबंध में आलोचनात्मक साहित्य में अब भी अक्सर हमें इसका साक्षात्कार होता है। यह कला ठीक और ठोस, सम्माननीय और स्वाचरित समझी जाती है। इस प्रकार यह भी कि नाटककार और उसकी कला के बीच का संबंध विवाह की तरह का है, जिसमें तब हर चीज बिल्कुल वैध हो जाती है, जब सौंदर्यशास्त्र की संस्कार-क्रियाओं का आशीर्वाद पा लेती है। संभवतः इन्हीं कारणों से कला के दूसरे रूपों की अपेक्षा आलोचक रंगमंच का उल्लेख उस रचना-तंत्र के रूप में कहीं अधिक करते हैं, जिसपर विशिष्ट स्थितियों के अनुसार कम या अधिक अधिकार प्राप्त किया गया होता है। यदि हम इस बात की निकट से खोज करें कि नाटक के रचनातंत्र से आलोचकों का मतलब क्या है तो स्पष्ट हो जाता है कि यह उनके पूर्वाग्रहों के संग्रह से अधिक कुछ नहीं है। रंगमंच की कोई कारीगरी नहीं है। रंगमंच और भाषा द्वारा सामग्री पर केवल अधिकार किया जा सकता है या अधिक सटीक रूप से यह सामग्री को पराजित कर देना है, क्योंकि किसी प्रकार का

भी सर्जनात्मक लेखन एक प्रकार का युद्ध ही है, जिसके साथ विजय-पराजय और अनिर्णीत अंत भी जुड़े रहते हैं। सौंदर्यशास्त्र की उस कल्पना के सिवाय जिसमें सिनेमा की तरह ही केवल पुर्ण नायक ही पाये जाते हैं, पूर्णता प्राप्त नाटकों का कहीं अस्तित्व नहीं। और अभीतक कोई भी नाटककार इस युद्ध से बिना चोट-घाव पाये नहीं निकला। हर एक के पास एकीलीज की दुखती ऐंड़ी है। और नाटककार का प्रतिनायक (उसकी सामग्री) कभी न्यायपर्ण ढंग से नहीं लड़ता। यह धूर्त चीज है, अक्सर इसे मांद से बाहर निकालना मुश्किल होता है और यह अक्सर गुप्त तथा निम्नकोटि की चालें चलता है। यह नाटककार को विवश करता है कि वह भी हर वैध साधन के साथ लड़े। यहाँ तक कि निषिद्ध साधनों को भी लेकर लड़े। फिर बुद्धिमत्तापूर्ण उपदेश इस कारीगरी के स्वामियों और उनके अत्यंत प्रतिष्ठित व्यवसाय के नियम-कहावतों के विषय में चाहे जो कहते रहें। नाटक में श्रेष्ठ चरित्र जब अपने पाँव आगे बढ़ा देता है तब फिर उसकी लेखक से कहीं मुलाकात नहीं होती, यहाँतक कि दरवाजे पर भी नहीं।

नाटक लिखने में कठिनाइयाँ उन स्थानों पर आती हैं जहाँ कोई उनका संदेह भी नहीं करता। कभी-कभी समस्या इससे और अधिक कुछ नहीं होती कि किस प्रकार दो व्यक्तियों से आपस में हलो कहलवायें या पहला वाक्य कैसे लिखें। जिसे कभी-कभी नाटक की कारीगरी समझ लिया जाता है, उसे आधा घंटे के भीतर आसानी से सीखा जा सकता है। किसी सामग्री को पाँच अंकों में बिभाजित कर लेना कितना कठिन है? या ऐसा विषय ही कितना होता है, जिसे इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है? किस प्रकार आयबिंक पेंटामीटर में लिखना आज असंभव सा हो उठा है? इन चीजों की कठिनाई पर चालू लेखकों का ध्यान शायद ही कभी जाता हो, जो बिना कठिनाई के कभी भी नाटक रच डालते हैं, जो किसी भी विषय को सदा ही पाँच अंकों में विभाजित करते हैं, जिन्होंने सदा ही लिखा है और आज भी सरलतापूर्वक पेंटामीटर में लिखते हैं। वे वास्तव में अपनी सामग्री और भाषा उसी प्रकार चुनते हैं, जिस प्रकार कुछ आलोचकों की कल्पनानुसार नाटक लिखा जाता है। वे लोग तब उतने शौकिया नहीं लगते जब कला के संबंध में बातें करते हैं, जितना तब लगने लगते हैं जब अपनी बात के लिए कला की काट-छाँट करते हैं। इससे कोई मतलब नहीं कि सामग्री क्या-कैसी है, वे सदा एक ही जैसा स्नानवस्त्र बनाते हैं जिससे प्रेक्षकों को कहीं सर्दी न लग जाय और कि वे आराम से सो सकें। इस मत से अधिक मूर्खतापूर्ण और कोई चीज नहीं हो सकती कि किसी प्रतिभाशाली को ही उन नियमों के पालन की आवश्यकता नहीं पड़ती, जो क्षमता-शील लेखकों के लिए बनाये जाते हैं। इस स्थिति में मैं प्रतिभाशालियों में गिना जाना चाहूँगा। जिस बात पर मैं मजबूती से बल देना चाहता हूँ, वह यह कि नाटक

लिखने की कला आवश्यक रूप से किसी बच्चे की योजना की तरह या उस तरह से नहीं आरंभ होती, जैसे कोई हिंजड़ा प्रेम करने के विषय में सोचता है। किंतु यह उस प्रकार के प्रेम की तरह आरंभ होती है, हिंजड़ा जिसके सर्वथा अयोग्य है। हालांकि वास्तव में लेखन की कठिनाइयाँ, पीड़ाएँ और सौभाग्य उन चीजों की सीमा में नहीं आतीं, जिनके बारे में हम बातें करना चाहते हैं या कि जिनके बारे में बातें की ही नहीं जा सकतीं। हम लोग केवल नाटक की कारीगरी के बारे में बातें कर सकते हैं। ऐसी कारीगरी जिसका अस्तित्व तभी होता है जब हम बातें करते हैं, किंतु तब नहीं जब हम नाटक लिखते हैं। नाटक की कारीगरी नेत्रभ्रम है। नाटकों के विषय में, कला के विषय में बातें करना उससे कहीं अधिक शेखचिल्ली काम है, जितना सबसे अधिक बातें करने वाले लोग शायद ही कभी समझ पाते हैं।

वास्तव में अस्तित्वहीन इस कारीगरी का उपयोग करते हुए कुछ खास सामग्री को हम आकार देने का प्रयत्न करें। प्रायः संदर्भ का केंद्रबिंदु नायक रहता है। नाटक के सिद्धांतों में त्रासद-नायक अर्थात् त्रासदी के नायक और कामद-नायक अर्थात् कामदी के नायक के बीच अंतर किया जाता है। त्रासद-नायक में जो गुण अनिवार्यतः होने चाहिये, वे सुविदित हैं। उसे हमारी सहानुभूति जगाने में अवश्य समर्थ होना चाहिये। उसके अपराध और उसकी निर्दोषता, उसके गुण और अवगुण अत्यंत सुखदायक, तब भी बिल्कुल सही ढंग से मिश्रित किये जाने चाहिये और सुपरिभाषित नियमों के अनुसार खुराकों में दिये जाने चाहिये। उदाहरणार्थ यदि मैं अपने त्रासद-नायक को बुरा आदमी बनाता हूँ तो मुझे उसकी बुराई के बराबर ही उसे तीव्र बुद्धि की मात्रा भी प्रदान करनी चाहिये। इस नियम के परिणामस्वरूप जर्मन साहित्य में सर्वाधिक सहानुभूतिशील रंग-चरित्र शैतान प्रमाणित हुआ है। नाटक में नायक की भूमिका नहीं बदली है। जो चीज बदली है वह उस चरित्र की केवल सामाजिक स्थिति है, जो हमारी सहानुभूति जगाती है।

प्राचीन त्रासदी और शेक्सपीयर की रचनाओं में नायक समाज के उच्चतम वर्ग के श्रेष्ठजनों से संबद्ध रहता है। दर्शक एक ऐसे नायक को अभिनय, पीड़ानुभव और प्रलाप करते देखता रहता है, जो दर्शकों के अपने सामाजिक स्थानों की अपेक्षा बहुत ऊँचाई पर अवस्थित होता है। दर्शकों को प्रभावित करने के लिए यह आज भी जारी है

तब जब शिलर और लेसिंग ने बुर्जुआ नाटक प्रस्तुत किया तो दर्शकों ने रंगमंच पर पीड़ानुभव करते नायक के रूप में स्वयं को देखा। किंतु नायक का विकास जारी रहा। बुएचनर का वायजक आदिम सर्वहारा है, जो औसत दर्शक की अपेक्षा कहीं नीची सामाजिक स्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। किंतु सटीकतः मानव-अस्तित्व के

इसी आत्यंतिक रूप में इसी अंतिम और अत्यंत पीड़ाजनक रूप में भी मानव को दर्शकों को देखना है, जो वस्तुतः स्वयं ही है।

और अंत में हम पिराँदेल्ली का उल्लेख करते हैं, जो, जहाँतक मैं जानता हूँ, पहला नाटककार है, जिसने रंग-चरित्र नायक को उसी प्रकार पारदर्शिता और महत्वहीनता प्रदान की, जिस तरह वाइल्डर ने नाटकीय स्थान को प्रदान की थी। प्रेक्षक इस प्रकार के प्रस्तुतीकरण को देखता हुआ अपना ही शवच्छेद, अपना ही मनोविश्लेषण देखता है और रंगमंच मानव का आंतरिक परिवेश बन जाता है—संसार का आंतरिक देश।

निश्चय ही रंगमंच ने सदा राजाओं और सेनापतियों का ही उपयोग नहीं किया है, कामदी में हमेशा नायक किसान, भिखारी या साधारण नागरिक ही हुआ करता था—लेकिन यह केवल कामदी में ही होता था। शेक्सपीयर में हमें कहीं भी कामदीय राजा नहीं मिलता, उसके दिनों में शासक केवल खूनी राक्षस के रूप में ही प्रकट हो सकता था, मूर्ख के रूप में नहीं। शेक्सपीयर में दरबारी लोग, कारीगर और श्रमिक लोग ही कामदीय हैं। इस प्रकार त्रासद-नायक के विकास में हम कामदी की ओर की प्रकृति देखते हैं। मूर्ख अधिक से अधिक त्रासद व्यक्ति बनता जाता है। यह तथ्य महत्वशून्य नहीं है। नाटक का नायक न केवल क्रियाओं को आगे की ओर गतिशील करता है, न केवल वह एक खास नियति भोगता है, किंतु वह एक दुनिया भी प्रतिरूपित करता है। इसलिए हमें अपने आपसे पूछना है कि हम अपनी स्वयं की प्रश्नित दुनिया को कैसे प्रतिरूपित करें और किस प्रकार के नायकों को लेकर ? हमें अपने से पूछना है कि इस दुनिया को पकड़ने और प्रतिबिंबित करने वाले दर्पणों को हम कैसे बनायें और स्थापित करें।

एक ठोस प्रश्न पूछें तो क्या हमारे वर्तमान युग की दुनिया शिलर की नाट्य कला द्वारा प्रतिरूपित हो सकती है ? कुछ लेखक दावा करते हैं कि हो सकती है, क्योंकि शिलर अभी भी अपने दर्शकों को अपनी पकड़ में रखे रहता है। निश्चय ही कला में तबतक सब कुछ संभव है, जबतक कला सही है। किंतु प्रश्न है कि यदि कोई कला अपने समय में वैध (संदर्भयुक्त) है तो क्या उसके हमारे युग में भी वैसी ही होने की संभावना हो सकती है ? कला कभी दुहराई नहीं जा सकती। यदि वह दुहराई जा सकती तो शिलर के नियमों के अनुसार न लिखना अनुचित और मूर्खतापूर्ण होता।

शिलर ने वैसा इसलिए लिखा कि वह जिस दुनिया में रहता था उसे, अपने लेखन द्वारा वह जिस दुनिया का सर्जन करता था, इतिहासकार की हैसियत से जिस दुनिया का निर्माण करता था, उसमें तब प्रतिबिंबित किया जा सकता था। किंतु

मात्र मुश्किल से। क्योंकि पुराने अर्थ में क्या नेपोलियन संभवतः अंतिम नायक नहीं था? आज दुनिया का जो स्वरूप हमारे सामने है वह ऐतिहासिक नाटक के उस रूप द्वारा जैसा शिलर लिखा करता था, कठिनाई से रूपायित किया जा सकता है। मात्र इसी कारण से कि अब हमारे पास त्रासद नायक नहीं रह गये हैं किंतु बृहत् त्रासदियाँ रह गई हैं जो विश्व-कसाइयों द्वारा आरंभित होती हैं और हत्या की मशीनों द्वारा प्रस्तुत की जाती हैं। हिटलर और स्तालिन वैलेंस्तइन्स के रूप में नहीं लाये जा सकते। उनकी शक्तियां इतनी विशाल हैं कि वे स्वयं इस शक्ति की आकस्मिक, भौतिक शारीरिक और आसानी से परिवर्तनीय अभिव्यक्ति से अधिक कुछ नहीं रह जाते और प्रथम तथा बड़ी सीमा तक दूसरे के साथ भी संलग्न दुर्भाग्य अत्यधिक विशाल, अत्यधिक जटिल, अतिभयंकर और अतियांत्रिक है और प्रायः सार्थकता से बिलकुल खाली है। वैलेंस्तेइन की शक्ति अभी भी कल्पना-दृष्टि के क्षेत्र में लाई जा सकती है। आज हम जिस शक्ति को जानते हैं वह अपने लघुतम अंश में ही देखी जा सकती है क्योंकि जल पर तैरते हिमखंड की भांति इसका भी सबसे बड़ा हिस्सा अमूर्तता और नामहीनता में डूबा रहता है। शिलर का नाटक एक ऐसी दुनिया की पूर्वकल्पना करता है जो आँखों द्वारा ग्रहण की जा सकती है. जो राज्य के शुद्ध कार्यों को स्वीकृत मान लेता है जैसा कि यूनानी त्रासदी ने किया था। क्योंकि केवल उसी चीज को कला में दृश्य बनाया जा सकता है जिसे आंख ग्रहण कर सकती है। अपनी नौकरशाही और नामहीनता के कारण आज राज्य को कल्पना-दृष्टि में नहीं लाया जा सकता और यह बात न केवल मास्को, वाशिंगटन, बल्कि बर्न पर भी लागू होती है। आज राज्य की क्रियाएं इस न्याय-निष्कर्ष के रूप में व्यंग्यात्मक नाटक बन गई हैं जो पहले गुप्त रूप से क्रियान्वित होकर त्रासदियों के रूप में निकलती थीं। हमारी दुनियां के सच्चे प्रतिनिधि आज मिल नहीं रहे हैं। त्रासद-नायकगण आज नामहीन हो गये हैं। कोई छोटा-मोटा दुष्ट या कोई छुटभैया सरकारी अफसर, पुलिस का सिपाही, किसी विधायक या राष्ट्रपति से कहीं अधिक अच्छी तरह हमारी दुनिया का प्रतिनिधित्व करता है। आज कला यदि मानवों तक पहुँच भी सकती है तो केवल शिकार हुए लोगों को ही रूपायित कर सकती है, अब यह शक्तिशाली के समीप नहीं जा सकती। क्रेयान के सचिवगण एन्टीनी के मामले को बन्द कर देते हैं। राज्य अपनी भौतिक यथार्थता खो चुका है, और जिस प्रकार भौतिक विज्ञान संसार का साक्षात्कार केवल गणितीय फार्मूलों द्वारा ही कर सकता है उसी प्रकार राज्य को भी केवल सांख्यिकी विज्ञान द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है। आज शक्ति उसी समय दिखाई पड़ने योग्य पदार्थमय होती है जब वह विस्फोट करती है। जैसे एटमबम में, इस सुंदर कुकुरमुत्ता के पौधे में जो उसी प्रकार दागहीन उगती फैलती है जैसे धूप, और उसमें जिसमें सामूहिक हत्याकांड और सौंदर्य दोनों मिलकर एक हो गये हैं। एटमबम को

कलात्मक-रूप से पुनर्सर्जित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह समूह-उत्पादित है। इसके सामने मानव की वह सारी कला जो इसे पुनर्सर्जित करेगी अवश्य असफल हो जाएगी, क्योंकि यह स्वयं मानव की सृष्टि है। वे दो दर्पण जो एक दूसरे को प्रति-बिंबित करते हैं, रीते ही रहते हैं।

आज कला का कार्य (यदि कला का कोई कार्य हो सकता है) और इस प्रकार नाटक का भी कार्य किसी ठोस वस्तु का, किसी ऐसी वस्तु का जिसका कोई आकार हो, सर्जन करना है। यह कार्य सर्वोत्तम रूप से प्रहसन (कामदी) द्वारा पूरा हो सकता है। कला की कठोरतम विधा त्रासदी रूपग्रहण कर चुके विश्व की पूर्वकल्पना करती है। कामदी—तब तक जब तक यह किसी विशेष समाज पर उस तरह का व्यंग्य नहीं होता जैसा मोलियर में था—उस दुनिया की कल्पना करती है जिसने रूपग्रहण नहीं किया है, ऐसी दुनिया की जो बनाई जा रही है और उलटी पलटी जा रही है, हमारी दुनिया की ही तरह तह की जाने वाली दुनिया। त्रासदी दूरियां तय कर उन्हें कम करती है, सुदूर अतीतकाल में उद्भूत मिथकों को यह एथेंस निवासियों के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत कर सकती थी मानों वह उसी समय घटित हो रही हों। किंतु कामदी दूरी का निर्माण करती हैं, एथेंस-वासियों का सिसली में पैर जमाने का प्रयास कामदी में इस प्रकार रूपांतरित हुआ कि चिड़ियां अपना ही साम्राज्य बनाने का काम उठाती हैं जिसके सामने मनुष्यों और देवताओं को पराजय स्वीकार करना होगा। कामदी किस प्रकार कार्य करती है इसे अत्यंत आदिम किस्म के मजाक में देखा जा सकता है, उस गंदे किस्से में, जो यद्यपि अत्यंत संदेहास्पद मूल्य का है, फिर भी मैं उसे इसलिये ला रहा हूँ कि दूरी सर्जन करने से मेरा जो तात्पर्य है उसे यह अच्छी तरह उदाहृत करता है। गंदे किस्से का विषय शुद्धरूप से काम संबंधी है जो, चूंकि यह शुद्धरूप से काम संबंधी होता है, रूपहीन और वस्तुगत दूरी से रहित होता है। रूप दिये जाने के लिये शुद्ध काम-वासना को गन्दे मजाक में रूपांतरित किया जाता है, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ। अतः इस प्रकार का मजाक एक प्रकार की मौलिक कामदी है, कामतत्व का कामदी के धरातल पर स्थानांतरण। इस प्रकार आज जान डो द्वारा शासित समाज में शुद्धरूप से कामतत्व के विषय में स्वीकृत प्राप्त तरीके से बातें करना संभव है। गंदे किस्से में यह स्पष्ट हो जाता है कि कामदीय तत्व का अस्तित्व रूपहीन को रूप देने में, अव्यवस्था में व्यवस्था लाने में निहित है।

वह साधन जिसके द्वारा कामदी दूरी का निर्माण करती है, कष्टकल्पना है। त्रासदी कष्टकल्पना से रहित होती है। इसलिये शायद ही ऐसी कोई त्रासदी हो जिसका विषय कल्पित किया गया हो। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन त्रासदी-लेखकों में उस प्रकार के काल्पनिक विचारों का अभाव था जैसे आजकल

लिखे जाते हैं, किंतु उनकी कला का कौतुक यह था कि इन काल्पनिकताओं की उन्हें आवश्यकता ही नहीं थी। यह बहुत बड़ा अंतर पैदा कर देता है। दूसरी ओर एरिस्टोफेनीज कष्टकल्पना पर ही जीवित रहता है। उसके नाटकों का तत्व मिथक नहीं काल्पनिक उत्पादन है जो अतीत में नहीं, वर्तमान में घटित होता है। वे बम-गोलों की तरह उनकी दुनिया पर गिरते हैं जो, गंदगी के विशाल ढूहे बनाकर वर्तमान को कामदीय में बदल देते हैं और इस प्रकार गंदगी को बिखेर देते हैं कि हर कोई देख सके। निश्चय ही, इसका यह अर्थ नहीं कि आज नाटक का रूप एकमात्र कामदीय ही हो सकता है। त्रासदी और कामदी मात्र रूप संबंधी प्रत्यय हैं, नाटकीय वृत्तियां हैं, सौंदर्यमूलक कल्पना के उत्पादन हैं जो एक ही चीज को समाविष्ट करते हैं। केवल वे दशाएं भिन्न होती हैं जिनमें प्रत्येक का सर्जन होता है और कला में इन दशाओं का आधार बहुत कम मात्रा में होता है।

त्रासदी अपराध, निराशा, परिमितता, प्रांजलता, स्वप्न और उत्तरदायित्व की भावना की पूर्वकल्पना करती है। हमारी शताब्दी के 'पंच और जूडों के खेल में, श्वेतपति के इस पीछे खिसकने में अब कोई अपराधी नहीं रह गये हैं और उत्तरदायी व्यक्ति भीं नहीं हैं। हमेशा ही कहा जाता है 'हम इसमें कुछ कर नहीं सके' और 'हम वास्तव में ऐसा होने देना नहीं चाहते थे'। और बास्तव में घटनाएं अपने लिए किसी विशिष्ट व्यक्ति को उत्तरदायी बनाए बिना ही घटती हैं। हर चीज साथ साथ घिसटती है और हर व्यक्ति घटनाओं के प्रवाह में कहीं न कहीं पकड़ लिया जाता है। हम सभी सामूहिक रूप से अपराधी हैं और अपने बाप-दादों के पापों में सामूहिक रूप से धँसा दिये जाते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है किंतु हमारा अपराध नहीं। अप-राध का अस्तित्व केवल व्यक्तिगत उपलब्धि, धार्मिक कार्य के रूप में ही हो सकता है। अकेले कामदी ही हमारे योग्य है। हमारी दुनिया एटमबम की ही तरह विकृत-विरूप के भी करीब पहुंच गई है, और इस प्रकार यह हाइरोनियस बाश्च की दुनिया जैसी हो गई है जिसका इल्हाम भी विरूप हैं। किंतु विरूपता का इल्हाम केवल एक तरीका है—बोधगम्य रूप से व्यक्त करने का, विरोधमय को, अरूपकृत के रूप का, चेहराहीन विश्व के चेहरे को भौतिक रूप से प्रत्यक्षीकृत करने का। और जिस प्रकार अपने चिंतन में हम आज विरोध के प्रत्यय के बिना काम नहीं चला सकते, उसी प्रकार कला में भी। और अपनी दुनिया कभी कभी इसी लिये अब भी अस्तित्व रखती प्रतीत होती है, क्योंकि एटम बम का अस्तित्व है; बम के भय के कारण।

किंतु त्रासदीय की अब भी संभावना है, हालांकि शुद्ध त्रासदी की नहीं। हम कामदी के भीतर से त्रासदीय को पा सकते हैं। हम भयकारी क्षण के रूप में इसे आगे कर सकते हैं, एक अगाध गह्वर की तरह जो सहसा खुल पड़ता है। वास्तव में

शेक्सपीयर की बहुत सी त्रासदियाँ पहले मूलतः कामदियाँ ही हैं, जिनके बीच से त्रासद उभरता है।

इन सबके पश्चात् यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है कि कामदी निराशा की अभिव्यक्ति है, किंतु यह निष्कर्ष अनिवार्य नहीं है। निश्चय ही जो कोई इस दुनिया की अर्थहीनता, इसकी आशाहीनता का अनुभव करेगा, वह उचित ही निराश हो सकता है। किंतु यह निराशा इस दुनिया का परिणाम नहीं है। बल्कि यह एक व्यक्ति द्वारा इस दुनिया को दिया गया उत्तर है। दूसरा उत्तर 'निराश न होना', हो सकता है। व्यक्ति का यह निर्णय हो सकता है कि वह इस दुनिया को झेले, जिसमें हम उसी तरह रह रहे हैं, जिस तरह गुलिवर दैत्यों के बीच रहता था। वह भी दूरी उपलब्ध कर लेता है, जो अपने प्रतिपक्षी की शक्ति को तौलता है। जो अपने प्रतिपक्षी से लड़ने या बच निकलने की तैयारी करता है, वह भी एक-दो कदम पीछे हटता है। मानव को साहसी प्राणी के रूप में दिखाना अब भी संभव है।

सचमुच में यही मेरा मुख्य कार्य है। अँधा आदमी, रोमुलस, उएबिलोही अक्की, ये सभी साहसी मानव हैं। खोई विश्व-व्यवस्था उनमें पुनर्स्थापित की गई है। सार्विक मेरी पकड़ से निकल जाता है। किसी सिद्धांत में सार्विक खोजने से मैं इनकार करता हूँ। सार्विक मेरे लिए अव्यवस्था है। दुनिया (और इस प्रकार रंगमंच, जो इस दुनिया को प्रतिरूपित करता है) मेरे लिए कुछ राक्षसी जैसी चीज है। दुर्भाग्यों की एक पहेली है जिसे स्वीकार तो करना ही है, किंतु जिसके समक्ष समर्पण नहीं करना है। किसी आदमी की तुलना में दुनिया बहुत बड़ी है और जबरदस्ती उसे धमकाती रहती है। यदि कोई बस इस दुनिया के बाहर खड़ा हो सकता तो यह आगे धमकीपूर्ण न रह जाती। किंतु न तो मुझमें इसकी योग्यता न अधिकार है कि मैं इस दुनिया में बाहर का आदमी बन सकूँ। कविता में सांत्वना ढूंढ़ना भी बिल्कुल हल्की बात है। ब्रेश्ट की स्थापना, कि दुनिया एक दुर्घटना है, जिसे उसने अपने सड़क-बाजार के दृश्य में विकसित किया है और दिखाया है कि जिस प्रकार यह दुर्घटना घटती है, किसी भव्य नाट्य को जन्म दे सकती है। वास्तव में उसने जन्म दिया, किंतु उसने ऐसा बहुत से प्रमाणों को छिपाकर किया। ब्रेश्ट का चिंतन निर्दय है, क्योंकि ऐसी बहुत सी चीजें हैं जिन्हें वह सोचने से निर्दयतापूर्वक बचेगा।

और अंत में कष्टकल्पना के द्वारा, कामदी के द्वारा ही नामहीन प्रेक्षक प्रेक्षक के रूप में संभावित होता है, ऐसा तथ्य बन जाता है जिसकी गणना की जा सके और उल्लेखनीय समझा जा सके। अतिकल्पना रंगशाला में आनेवाली भीड़ को सुविधापूर्वक ऐसे समूह में रूपांतरित कर देती है जिसपर आक्रमण किया जा सके, जिसे धोखा दिया जा सके और पराजित करके उन चीजों को सुनने के लिए बाध्य

किया जा सके जिन्हें अन्यथा वह आसानी से न सुनता। कामदी ऐसी चूहेदानी है जिसमें जनता आसानी से पकड़ी जा सकती है और जिसकी पकड़ में वह स्वयं बार-बार आना चाहेगी। दूसरी ओर त्रासदी एक सच्चे समुदाय की अपेक्षा रखती है, एक ऐसे प्रकार के समुदाय की जिसका अस्तित्व हमारे अपने समय में परेशानी पैदा करने वाली कल्पना भर है। उदाहरण के लिए इससे अधिक हास्यास्पद और क्या हो सकता है कि हम नृप्रकृति वैज्ञानिकों के रहस्य नाटकों को बैठे देखते रहें जब कि हममें से कोई उसका सहभागी न हो।

इन सब को स्वीकार कर लेने पर भी एक और प्रश्न पूछने को रह जाता है। क्या सामान्यता से कला के एक विशिष्ट रूप तक जाना, वैसा करना जैसा मैंने अपनी स्थापना कि 'दुनिया रूपहीन है' से आज 'कामदियों के लिखे जाने की विशिष्ट संभावना' तक पहुंच कर की है, औचित्यपूर्ण है? मुझे इसके औचित्य में संदेह है। कला तो कुछ व्यक्तिगत वस्तु है और कोई व्यक्तिगत वस्तु सामान्यताओं द्वारा व्याख्यायित नहीं हो सकती। कलाकृति का मूल्य इस बात पर निर्भर नहीं है कि उसके अस्तित्व के कम या अधिक अच्छे कारण पाये जा सकते हैं अथवा नहीं, इसलिए मैंने कुछ समस्याओं से बचने की कोशिश भी की है। जैसे उदाहरण के लिये यह तर्क जो आज बिल्कुल ताजा है कि नाटक गद्य में लिखा जाना चाहिए या पद्य में। मेरा अपना उत्तर बस गद्य लिखते रहने में निहित है। इससे समस्या पर इस प्रकार अपना निर्णय देने की कोई कामना मुझमें नहीं है। अंततः आदमी को अपने लिए एक रास्ता तो चुनना ही पड़ता है और एक रास्ता दूसरे की अपेक्षा हमेशा खराब ही क्यों हो? जहाँ तक कामदी के संबंध में मेरे विचारों का प्रश्न है, मेरा विश्वास है, यहाँ भी व्यक्तिगत कारण ही तर्क के लिये सदा खुले रहने वाले सामान्य कारणों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हैं। कला के मामलों में किस तर्कपद्धति को चुनौती नहीं दी जा सकती? कला के विषय में तभी व्यक्ति सर्वोत्तम बातें कर सकता है जब वह स्वयं अपनी कला के संदर्भ में बातें करे। जिस कला को व्यक्ति चुनता है वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है जिसके बिना किसी कला का अस्तित्व नहीं रह सकता और साथ ही आवश्यक रूप से जिसके बिना कला भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकती। कलाकार सदा व स्वय को और अपनी दुनियां को प्रतिरूपित करता है। यदि एक समय दर्शन ने मनुष्य को सामान्य से विशिष्ट तक पहुंचना सिखाया तो शिलर, जिसने सामान्य निष्कर्षों पर विश्वास करना आरंभ कर दिया था, के विपरीत मैं उस प्रकार नाटक का निर्माण नहीं कर सकता जैसे वह करता था, क्योंकि मुझे इसमें संदेह है कि सामान्य से कभी भी विशिष्ट तक पहुंचा जा सकता है। किन्तु मेरा संदेह केवल मेरा संदेह है। किसी कैथोलिक की समस्याएँ और संदेह नहीं हैं जिसके लिये नाटक में वे संभावनाएँ निहित हैं जिनमें अकैथोलिक सहभागी नहीं होता। दूसरी ओर यह तब भी ठीक होगा यदि एक ऐसा कैथोलिक जो अपने धर्म को गंभीरतापूर्वक ग्रहण करता है उन संभावनाओं से

वंचित कर दिया जाता है जो दूसरे लोगों को उपलब्ध हैं। इस स्थापना में निहित खतरा इस तथ्य में है कि सदा ही ऐसे कलाकार हुआ करते हैं जो ऐसी सामान्यताओं को जानने के लिए जिनमें वे विश्वास कर सकें, एक ऐसा कदम बढ़ाकर जिसपर और भी आश्चर्य इस खेदपूर्ण तथ्य के कारण होता है कि वास्तव में इससे उन्हें कोई सहायता नहीं मिलेगी, वे बदलाव-रूपांतरण को स्वीकार कर लेते हैं। नाटक लिखने में किसी प्रोटेस्टेंट द्वारा अनुभव की गई कठिनाइयां बिल्कुल उसी प्रकार की कठिनाइयाँ हैं जिन्हें वह अपने धर्म के प्रसंग में अनुभव करता है। अतः मेरा तरीका यह है कि साधारण रूप से जिसे नाटक का स्थापत्य कहा जाता है उस पर अविश्वास करना और किसी सामान्य योजना या धारणा की बजाय अपने नाटकों को किसी अपूर्व आकस्मिक विचार या अतिकल्पना से पाना। अगर अपने ही बारे में बात करूँ तो मैं सीधे नक्शे में ही लिखना चाहता हूँ जिसमें मैं आलोचकों को जूझने के लिए सूत्र दे सकूँ। और बिना अच्छी तरह यह समझे हुए कि इससे मैं चाहता क्या हूँ वे इसका उपयोग भी खूब करेंगे।

लेकिन ये बातें बिल्कुल मेरी, निजी हैं। अतः इसके लिए सारी दुनिया को आहूत करने, और यह सिद्ध करने कि मेरे निजी प्रसंग की बातें सामान्यरूप से कलामात्र के लिए भी प्रासंगिक हैं, की कोई आवश्यकता नहीं (जब तक मैं उस मदहोश शराबी की तरह न हो जाऊं जो अपनी कमजोरियों को न्यायोचित ठहराने के लिये सृष्टि के आरंभ, नौआह, महान प्लावन, और मूलभूत द्वीप तक जा पहुँचता है)। जैसे सर्वत्र सब चीजों के लिये वैसे ही कला के लिये भी यह नियम ठीक है; कृपया बहाने न बनाइये।

तब भी यह तथ्य तो बना ही रहता है (ऊपर जो परिसीमाएं उल्लेख की गई हैं उन्हें दृष्टि में रखते हुए ही) कि जिसे हमने अपनी सामग्री कहा है, उसके सामने अब हम बदले हुए संबंधों को लेकर खड़े हैं। हमारे असंघटित आकृतिहीन वर्तमान की विशेषता है कि यह ऐसी आकृतियों और रूपों से घिरा है जो हमारे कालखंड को महज परिणाम भर बना देता है, बल्कि उससे भी कम, संक्रमणशील स्थिति मात्र बना देता है जिससे पूर्णरूप से निर्मित वस्तु के रूप में अतीत को और संभावनापूर्ण वस्तु के रूप में भविष्य को अतिरिक्त बल प्राप्त हो जाता है। बिल्कुल यही बात राजनीति पर भी लागू होती है। कला के संदर्भ में इसका अर्थ यह है कि कलाकार कला विषयक तमाम तरह के मतों और उन मांगों से घिरा हुआ है जिनका आधार उसकी शक्तियां नहीं बल्कि ऐतिहासिक अतीत और वर्तमान रूप हैं। अतः वह ऐसी सामग्रियों से घिरा है जो संभावनाओं से पूर्ण सामग्री नहीं रह गई हैं बल्कि पहले से ही आकार ग्रहण कर चुकी हैं—परिभाषेय आकार। सीजर अब हमारे लिये विशुद्ध विषय सामग्री नहीं रह गया है, इस सीजर को अब विद्वतावाद ने अनुसंधानों का

विषय बना दिया है। और इस प्रकार हुआ यह कि विद्वत्गण निरंतर वर्धमान शक्ति के साथ न केवल प्रकृति पर बल्कि बौद्धिक जीवन और कला पर भी जुट गए और इस प्रकिया में बौद्धिक इतिहास, साहित्यिक विद्वत्तावाद, दर्शन और ईश्वर जाने क्या क्या की स्थापना करते हुए तथ्यात्मक सूचनाओं की ऐसी राशि एकत्र कर दी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती (क्योंकि कोई इन तथ्यों के प्रति सचेत रहते हुए भी इतना भोला बनने का बहाना नहीं कर सकता कि मानों उसे विद्वत्ता के परिणामों पर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं)। अतः इस प्रकार विद्वानों ने उस कार्य को सामग्रियों से वंचित कर दिया। रिचार्ड फेलर के अधिकारपूर्ण 'बर्न का इतिहास' ने बर्न नगर के विषय में एक ऐतिहासिक नाटक की संभावना को नष्ट कर दिया। किसी साहित्यिक कलाकार के पहले ही इस प्रकार बर्न के इतिहास को एक आकार दे दिया गया। सच है कि यह विद्वत्तावादी रूप है, (कोई मिथकीय रूप नहीं जो त्रासदीकार के लिए रास्ता खुला रखे) एक ऐसा रूप जो कलाकार के क्षेत्र को बहुत सीमित कर देता है और उसके लिए केवल मनोविज्ञान छोड़ देता है जिसने स्वयं बिल्कुल वैज्ञानिक रूप ग्रहण कर लिया है। सर्जनात्मक साहित्यिक ढंग से ऐसे इतिहास का पुनर्लेखन अब पुनरुक्ति मात्र होगी। ऐसे साधनों द्वारा दुहराना जो इनके अनुकूल या योग्य नहीं हैं, विद्वत्तावादी तलदृष्टि का चित्रण मात्र। संक्षेप में यह वही चीज होगी जो विज्ञान साहित्य से चाहता है। शेक्सपीयर के लिये तब यह संभव था कि वह सीजर की रचना प्लूटार्क के आधार पर करे, क्योंकि वह रोमन उस अर्थ में इतिहासकार नहीं था जैसा हम आज समझते हैं। वह तो कहानी कहने वाला था. जीवन-रेखा-कार मात्र। यदि शेक्सपीयर ने मोमसेन को पढ़ा होता तो उसने सीजर के विषय में न लिखा होता क्योंकि तब वह सामग्री पर अपनी आधिपत्य-श्रेष्ठता खो बैठता; और अब यह सभी चीजों के लिए सच है। यहांतक कि यूनानियों के मिथक, भी जिन्हें हम सहज-रूप से जीते नहीं बल्कि केवल अध्ययन-अनुसंधान और मूल्यांकन करते हैं, उन्हें मिथक मात्र समझते हैं और इस प्रकार उन्हें नष्ट करते रहते हैं, अब निर्जीव ममी बनकर रह गए हैं। इन्हें दर्शन और धर्मशास्त्र से कसकर बांधते हुए हम अक्सर सजीव चीजों की जगह ममी स्थानापन्न करते रहते हैं।

इसलिए कलाकार जो कुछ भी विषय पा जाता है, उसे निःशेष कर डालता है और सदा सफलता के विश्वास के साथ उसे वास्तविक सामग्री में रूपांतरित करने के लिए इधर-उधर दौड़ता फिरता है। वह अपनी सामग्रियों की पैरोडी करता है, उनके वास्तविक परिवर्तित रूप के साथ विपर्यस्त करता है। इस साधन से पैरोडी की इस क्रिया द्वारा कलाकार अपने को फिर से मुक्त करता है और इस प्रकार अपनी सामग्री पुनर्लब्ध करता है, और इस प्रकार सामग्री पायी नहीं जाती बल्कि आविष्कृत की जाती है क्योंकि प्रत्येक पैरोडी में कष्टकल्पना और आविष्कार निहित रहता

है। हँसी में मनुष्य की स्वतंत्रता व्यक्त होती है और रुदन में उसकी आवश्यकता। आज हमारा काम स्वतंत्रता का निरूपण करना है। इस ग्रह (पृथ्वी) के तानाशाह कवि की कृतियों से द्रवित नही होते। वे कवि के मातमी गीतों पर उबासियाँ लेते हैं। वीरकाव्य उनके लिए मूर्खतापूर्ण परीकथाएँ हैं और धार्मिक काव्य सुनकर वे सो जाते हैं। तानाशाह केवल एक चीज से डरता है : कवि की ठिठोली-खिल्ली से। तब इसी कारण पैरोडी सभी साहित्यक विधाओं में घुस गई है—उपन्यास में, नाटक में और प्रगीत-काव्य में भी। चित्रकला का अधिकांश और संगीत तक भी पैरोडी द्वारा विजित हो चुका है और अक्सर पैरोडी के पीछे-पीछे विरूप भी छद्मावरण में अनुसरण करने लगा है। विरूप सहसा प्रतिष्ठित हो गया है।

किन्तु हमारा समय इन सबको इनकी सभी कल्पनीय चालों के साथ संभाल सकता है और इसे कुछ भी संत्रस्त नहीं कर सकता। जनता तो कला में कुछ गंभीर, प्रभामंडल युक्त पवित्र और करुण चीज देखने की आदी है। हास्य निकृष्ट, संदेहास्पद और लचर समझा जाता है, इसे तभी स्वीकृत किया जाता है जब यह लोगों को सुअरों के झुंड की तरह पाशविक मजा देता है। किंतु जैसे ही लोग हास्य को खतर-नाक समझ लेते हैं एक ऐसी कला के रूप में पहचान लेते हैं जो उन्हें उघाड़ती है, उनसे मांगें करती है, सिखाती है, वैसे ही वे उसे गर्म आलू की तरह उगल देते हैं, क्योंकि कला तभी तक अपने मनचाहे रूपों को ग्रहण कर सकती है जब तक वह ग्राह्य बनी रहे।

हम लेखकों के ऊपर अक्सर आस्थाहीन कला रचने का दोषारोपण किया जाता है। सच है कि आज आस्थाहीन कला रची जा रही है, किंतु आस्थाहीन प्रतीत होने वाली समस्त कला सचमुच आस्थाहीन नहीं होती। जो कला वास्तव में आस्थाहीन होती है वह ऊपर से ऐसी दिखाई नहीं पड़ती। सामान्यतया इसे विशेष रूप से मानवतावादी समझ लिया जाता है और अधिक परिपक्व युवा लोगों के पढ़ने के लिए इसे श्रेष्ठरूप से योग्य समझा जाता है। बिल्कुल अनाड़ी आस्थाहीन लेखक ही व्यापक रूप से पहचाना जा सकता है। लोग प्राय: उसे ही आस्थाहीन कह बैठते हैं जो मात्र असुविधाजनक होता है। तब लोग यह भी कहते हैं, कलाकार को सर्जन करना चाहिए, बकवाद नहीं। चीजों को रूपायित करना चाहिए, उपदेश नहीं देना चाहिए। बेशक ठीक बात है। लेकिन शुद्ध रूप से सर्जन करना या लोगों की इच्छानुसार सर्जन करना और भी अधिक कठिन होता है। मानवजाति आज उस उतावले चालक की भाँति हो गई है जो राजमार्ग पर लापरवाही के साथ तीव्रतर गति से गाड़ी दौड़ाता जा रहा है और जब भयग्रस्त मुसाफिर चिल्लाते हैं, 'सावधान', 'सामने चेतावनी का बोर्ड है', 'धीमी करो, उस बच्चे को कुचल मत दो' तब वह उन्हें बहुत नापसंद करता है। और बड़ी बात तो यह कि वह तब और भी घृणा प्रदर्शित करता है जब उससे

इस तरह के सवाल पूछे जाते हैं–'गाड़ी की कीमत कौन चुकाएगा ? इस पागल-यात्रा के लिए गैस और तेल कौन देगा ?' और जब उससे चालक के अनुमतिपत्र के बारे में पूछा जाता है तब तो उसके मिजाज का कहना ही क्या ? खोज करने पर इनके उत्तर में कितने कड़ुए तथ्य सामने आ सकते हैं; हो सकता है कि गाड़ी किसी रिश्तेदार के यहाँ से चुराई गई हो, गैस और तेल मुसाफिरों से निचोड़ा गया हो या कि वास्तव में यह गैस-तेल न होकर हम सब का खून-पसीना हो, और बहुत संभव है कि उसके पास चालक का अनुमतिपत्र भी न हो और यह उसका प्रथम चालन-प्रयोग हो। यदि ऐसे निजी प्रश्न पूछे जाएँ तो वे निश्चय ही परेशानी पैदा करने वाले होंगे। चालक को कहीं अधिक पसंद आनेवाली बात यह होगी कि मुसाफिर जिन गाँवों से गुजर रहे हैं उनकी खूबसूरती, नदियों की रजतधारा और सुदूरवर्ती हिममंडित पर्वत शिखरों के सौंदर्य की चर्चा करें, उसे मुसाफिरों के किस्से-कहानियों की फुसफुसाहटें सुनकर भी खुशी होगी। किंतु आज का विवेकशील लेखक प्रकृति-सौंदर्य की प्रशंसा या खुशनुमा किस्सों तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकता। यह भी उसका दुर्भाग्य ही है कि वह इस पगली-दौड़ से बाहर नहीं निकल सकता कि जिससे रास्ते के किनारे बैठकर अकवि लोगों की माँगों के उत्तर में शुद्ध कविता की रचना कर सके। भय और चिंता, और उससे भी आगे बढ़कर क्रोध से वह मुँह बाए हुए हैं।

कितना अच्छा होता कि इस जोरदार उल्लेख के साथ ही हम अपना लेख समाप्त कर देते। यह ऐसा निष्कर्ष होता जो कम से कम आंशिक रूप से सुरक्षित समझा जाता और बिल्कुल असंभव न होता। किंतु यहाँ पहुँचकर ईमानदारी के साथ हमें अपने से यह प्रश्न पूछना चाहिये कि इनमें से किसी का भी आज कोई अर्थ है ? यदि हम मौन ही धारण करते तो क्या यह कहीं अधिक अच्छा न होता ? मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि रंगमंच-निश्चित रूप से अपने सर्वोत्तम अर्थ में आंशिक रूप से तो म्यूजियम है और आंशिक-रूप से प्रयोगों का क्षेत्र। मैंने इतस्ततः यह भी दिखाने की कोशिश की है कि ये प्रयोग हैं क्या। क्या रंगमंच प्रयोगों की अपनी नियति पूरा करने में सक्षम है ? आज न केवल नाटक का लेखन अधिक कठिन हो गया है बल्कि इनका अभ्यास और इनकी प्रस्तुति भी कठिनतर हो गई है। आज समय की कमी का नतीजा यह है कि हम एक सुंदर प्रयास, प्रथम परीक्षण, सही दिशाओं में किंचित प्रगति मात्र करके रह जाते हैं। किसी ऐसे नाटक की समस्या—जिसे परंपरित कृति मात्र बनकर नहीं रह जाना है जिसे सही मानों में प्रयोग बनना है—लिखने की मेज पर नहीं सुलझायी जा सकती। जिरादू के सौभाग्य से उसे जूभ का सहयोग प्राप्त था। खेद की बात है कि ऐसा सौभाग्य यदा-कदा ही घटित होता है। जर्मनी के रिपर्टरी रंगमंच में

प्रयोगों की बहुत कम गुंजाइश है। वह नये प्रयोग से जल्दी से जल्दी छुटकारा पा लेना चाहता है। म्यूजियम के खजाने का पलड़ा बहुत भारी पड़ता है। हमारा रंगमंच बल्कि हमारी पूरी संस्कृति अच्छी पूंजी लगाने वाले उन बौद्धिकों (कालजयी रचनाकारों) के व्याज पर चल रही है जिन्हें कुछ और घटित नहीं हो सकता और जिनके लिये रायल्टी तक नहीं देनी पड़ती। इस आश्वासन के साथ कि हमारे पास गेटे, शिलर, और सोफोक्लीज हैं रंगमंच कभी-कभी आधुनिक कृति को भी मंचित करने को तैयार हो जाता है किंतु मुख्यत: प्रीमियर प्रस्तुति मात्र के लिए। वीरता-पूर्वक इस कर्त्तव्य का प्रतिपालन किया जाता है किंतु दूसरी बार जब शेक्सपीयर की प्रस्तुति की जाती है तब चारों ओर आराम और छुटकारे की साँस ली जाती है। हम कर या कह ही क्या सकते हैं? क्या रंगमंच से बिल्कुल हट जाएँ? कालजयी कृतियों के लिये मंच खाली कर दें? म्यूजियम की दुनियाँ समृद्ध होती जा रही है और अपनी संपत्ति के दबाव से फट रही है।

हम अपनी कला को उस भविष्य के निधिपालों के ऊपर छोड़ें जिसमें हमें अवसर मिलेगा। उस समय यदि इसमें कुछ नया जोड़ा जायेगा या कुछ नया लिखा जायेगा तो उससे कुछ खास फर्क नहीं पड़ेगा। सौंदर्यशास्त्र द्वारा कलाकार से की जाने वाली मांगें दिन पर दिन बढ़ती जा रही हैं। चाही जाने वाली चीज वह पूर्णता है जो काल-जयी रचनाओं में पढ़ी जाती है। कलाकार को कोई गलती करने के, एक कदम पीछे लौटने के संदेह का पात्र बनने दें, बस देखते रहिए कि कितनी जल्दी उसे गिरा दिया जाता है। इस प्रकार एक ऐसा वातावरण बनता है जिसमें साहित्य का अध्ययन तो हो सकता है, उसका सर्जन नहीं। साक्षर और शिक्षित लोगों की दुनियाँ में कलाकार अपना अस्तित्व कैसे बनाये रख सकता है? इस प्रश्न से मैं पीड़ित होता हूँ और मुझे कोई उत्तर नहीं सूझता। शायद लेखक की अस्तित्वरक्षा का सर्वोत्तम उपाय जासूसी कहानियाँ लिखना है, ऐसी कला का सर्जन करना है जिसपर कला होने का कोई संदेह भी न कर सके। साहित्य को इतना ज्यादा हलका हो जाना चाहिए कि आज की साहित्यिक समीक्षा की तुला पर वह कुछ भी न ठहरे, केवल इसी तरीके से वह अपने सच्चे मूल्य को फिर से पा सकता है।

●

त्रासदी का मूलतत्व

मैक्सवेल एंडर्सन

कोई ऐसा व्यक्ति जो त्रासदी की बनावट पर विचार करने का साहस करता है वह अपने को आलोचनात्मक आक्रमणों और सामान्य बाधाओं के सामने कर देता है, क्योंकि सिद्धांतशास्त्री अरस्तू के जमाने से ही त्रासदी के मूलतत्वों की खोज कर रहे हैं जिनमें उन्हें पूरी सफलता कभी नहीं मिली। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि एस्काइलस के समय से ही नाटककारों ने अक्सर सफलतापूर्वक त्रासदियों की रचना की है और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि रेचन पर अपने प्रसिद्ध निबंध में अरस्तू त्रासदी क्या है इसकी परिभाषा बहुत निकटता से कर सका है। किन्तु त्रासदी का आरंगण प्रेक्षकों पर रेचक प्रभाव क्यों डालता है ? क्यों प्रेक्षक त्रासदी देखने को उत्सुक रहते हैं और मानव समुदाय की शिक्षा के लिए त्रासदी का महत्व क्यों है ? जहाँ तक मैं जानता हूँ, इन प्रश्नों पर कभी स्पष्टता और प्रभावी ढंग से नहीं लिखा गया। मैं पहले ही यह कह देना चाहता हूँ कि मैंने स्फिक्स की वह पहेली सुलझा नहीं ली है जिसे कुशल मस्तिष्कों वाली पचासों पीढ़ियों ने धुंधली ही छोड़ दिया है। लेकिन मेरे पास एक सुझाव है जो मेरी समझ से समस्या के हल तक पहुँचा सकता है यदि उसकी जाँच उन लोगों द्वारा की जाए जो दार्शनिक विश्लेषणों और द्वंद्ववाद के विषय में कुछ जानते हों।

इस सुझाव को सामने रखने का इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं है कि नाट्य लेखन में अपनी ही साहस-यात्राओं के संदर्भ दूँ। अत: आप से अनुरोध है कि जब मैं अपने ही उद्धरण बार-बार देने लगूँ तो आप धैर्य रखे रहें। जिस आदमी ने सफल नाटकों की रचना की हो उससे नाट्यलेखन सिद्धांत के विषय में कुछ जानकारी की अपेक्षा सामान्यतया की ही जाती है, और यह ठीक भी है। जहाँ तक मेरा अपना सवाल है, मैं स्वीकार करता हूँ कि रंगशाला में मैं अप्रत्याशित रूप से आया—बिना किसी तैयारी के। और वहाँ मैं टिका रह सका क्योंकि काफी हद तक मुझे आकस्मिक सफलताएँ मिलीं। टटोल टटोल कर बहुत सी सफलताओं तक पहुँचने और बहुत सारी असफलताओं से गुजरने के बाद मैंने अपनी नाट्यवृत्ति की पर्याप्तता पर संदेह करना शुरू कर दिया। और इसपर भी कि ऐसे सामान्य नियम हैं भी या नहीं जो नाट्यरचना को अनुशासित करते हों और जिन्हें सिद्धांत-ग्रहण में दुर्बल मेरा मस्तिष्क पकड़ और प्रयुक्त कर सका हो। नाट्यलेखन की कोशिशों के बहुत पहले ही मैं अरस्तू का काव्यशास्त्र पढ़ चुका था। नाट्यरचना पर लिखी गई कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों पर भी अपनी संदेह-दृष्टि डाल चुका था। किंतु मेरे द्वारा बटोरे गये स्थापित सिद्धांत और सूक्तियां—प्रभामंडल से घिरे हुए चमकदार, सत्य और संदर्भों में गहरे—तब मेरे लिये अर्थहीन हो उठती थीं जब मैं किसी नाटक की योजना बनाता

था या किन्हीं संवेगपूर्ण संवादों को स्पष्ट करने की कोशिश करता था। जहां तक मैं समझ सका, प्रत्येक नाटक एक नई समस्या थी और पुराने नियम अव्यवहार्य हो जाते थे। इतने अधिक नियम, इतने अधिक मार्गचिह्न, इतनी अधिक खाइयां, इतनी अधिक आवश्यक गणनाएं थीं कि इस जंगल में रास्ता पाना तब तक असंभव था जब तक अपने दिशा-बोध पर विश्वास करके और यात्राकाल में अपने को सजग रखते हुए आगे धंस न पड़ा जाए।

किंतु जैसे जैसे मौसम गुजरते गये और मेरी असफल रचनाएं उसी नियमितता से गिरती गईं जैसे पतझड़ की पत्तियां, वैसे वैसे मैं पुराने सिद्धांत-शास्त्रियों में अपनी तलाश शुरू करने लगा क्योंकि बुद्धिमानी का एक शब्द भी नाट्यलेखन में निहित जुए की मात्रा कम कर सकता था। मुझे सबसे अधिक आवश्यकता नाटक की व्यावहारिक परिभाषा की थी कि नाटक क्या है, और उस फार्मूले की भी जिसमें नाट्य-रचना के सभी आवश्यक तत्व समाहित हों। संभवतः नाटक प्रायः सदा ही मनुष्य की स्वप्न-कल्पना की रंगमंच के लिए पुनर्रचना का प्रयास है। किंतु जब आप रंगशाला में कार्य कर रहे हों तब बिना कंपास की सहायता के किसी क्षीण किरण का अनुगमन बड़ा असंतोषप्रद होता है, पहले ही इस बात का निश्चय किये बिना कि आप सीधे हताशा के दलदल में नहीं बढ़े जा रहे हैं उस प्रकाश पर विश्वास करना काफी खतरनाक है जो न तो कभी भूमि पर रहा है और नहीं समुद्र पर। दूसरे शब्दों में आपको अनेक स्वप्न-कल्पनाओं में से चुनाव करना पड़ेगा और चुनी हुई स्वप्न-कल्पना की सावधानी से परीक्षा करने के बाद ही आप को तय करना होगा कि उससे नाटक बन सकेगा। किंतु किसी इलहाम, किसी स्वप्न, किसी प्रेरणा, उपचेतन मन से उसकाई गई ऐसी ही किसी दूसरी चीज जैसे अज्ञेय पदार्थ को किन नियमों, किन नक्शों, किन संदर्भ-क्षेत्रों द्वारा आप परीक्षित करेंगे ?

किसी कसौटी की अपनी तलाश के विवरणों से आपको मैं परेशान नहीं करने जा रहा जिसका आंशिक कारण तो यह है कि मुझे वे विवरण याद ही नहीं। किंतु मैंने अरस्तू के काव्यशास्त्र को अपने कड़ुए अनुभवों के प्रकाश में पुनः पढ़ा और उसके एक विचार से प्रभावित होकर मैं प्राचीन और आधुनिक नाट्यलेखन पद्धतियों की तुलना करने की ओर आकर्षित हुआ। बनावट की चर्चा करते हुए उसने एक सूत्र दिया कि अभिज्ञान-दृश्य त्रासदी का मूलतत्व है। यूनानियों की त्रासदियों में अरस्तू ने जिस अभिज्ञान-दृश्य को खोजा है वह सामान्यतया एक कृत्रिम युक्ति होती थी, एक केंद्रीय दृश्य जिसमें प्रमुख चरित्र छद्मवेश को भेद कर उसमें छिपे अपने मित्र या शत्रु, संभवतः अपने प्रेमी या परिवार के किसी सदस्य को जिसका परिचय छिपा रहता है, पहचान लेता है। उदाहरण के लिये इफिजेनेइया जो अपरिचित देश में पुजारिनी का काम करती रहती है, बलि के लिये एक ऐसे व्यक्ति को पाती है जिसे

वह अपने सगे भाई के रूप में पहचान लेती है। इससे तात्कालिक और गहरी संवेगात्मक प्रतिक्रिया होती है और तुरत नाटक में इफिजेनेइया की दिशा बदल जाती है। किंतु बड़े बड़े नाटकों में अक्सर यह अभिज्ञान ऐसी स्थिति में होता है जो कहीं अधिक विश्वसनीय तो होते हैं फिर भी कम बनावटी नहीं होते। थीबीस पर महामारी लाने वाले अपराधी की खोज में पागल ईडिपस को पता लगता है कि वह स्वयं ही वह अपराधी है—और चूँकि यह अन्वेषण है, इसलिए इसका प्रभाव उसकी शारीरिक भौतिक स्मृति कल्पना पर ही नहीं पड़ता बल्कि उसके जीवन की संपूर्ण संहति पर पड़ता है, स्वयं उसके और कहानी की दिशा के ऊपर इसका प्रभाव इफिजेनेइया के सतही रहस्योद्घाटन की तुलना में गणनातीत रूप से अधिक पड़ता है।

आजकल आधुनिक नाटकों में बिलकुल इसी तरह के दृश्य अत्यंत दुर्लभ हो गये हैं सिवाय रंगमंच के लिए रूपांतरित की जानेवाली जासूसी कहानियों के। किंतु जब मैंने शेक्सपीयर और अपने भी रंगमच की कतिपय स्मरणीय कृतियों की तनिक गहराई के साथ परीक्षा की तो मुझे लगने लगा कि आधुनिक 'अभिज्ञान दृश्य' अपेक्षाकृत सूक्ष्मतर हैं और उन्हें पहचानना अधिक कठिन है। तो फिर भी उन नाटकों में उनका अस्तित्व है ही जिन्हें हमने स्मरण रखने के योग्य चुना है। उनमें छद्मवेश या वैयक्तिक परिचय के उद्घाटन जैसी अपरिष्कृत चीजें तो मुश्किल से ही मिलेंगी। किंतु उनमें अन्वेषण का तत्त्व उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण है, जिस प्रकार पहले था। क्योंकि आधुनिक नाटक के रचनातंत्र का मुख्य संचालन-स्रोत प्रायः अनिवार्य रूप से नायक द्वारा अपने परिवेश या अपने ही व्यक्तित्व में निहित किन्हीं ऐसे तत्त्वों के अन्वेषण में निहित रहता है जिससे या तो वह पहले अपरिचित रहता है या जिनपर पर्याप्त ध्यान नहीं दिये रहता। साथ ही नाट्यलेखन के प्रायः सभी अध्यापकों को इसकी कुछ न कुछ झलक मिली है। यद्यपि जबतक मैंने स्वयं अपना सिद्धांत नहीं बना लिया तबतक इस विषय पर उन्होंने जो कुछ कहा था उसका सटीक अर्थ मैं ग्रहण न कर सका था। मैं अब भी यह सोचता हूँ कि अपने ही पथ-प्रदर्शन के लिए मैंने जो नियम बनाया था वह किसी अन्य की अपेक्षा कहीं अधिक सटीक है, इसलिए मैं उसे यहाँ उपस्थित कर रहा हूँ। नाटक को किसी केंद्रीय चरम बिंदुतक पहुँचकर फिर उससे परे हटना चाहिये और यह चरमबिंदु किसी प्रमुख चरित्र द्वारा किये गये किसी ऐसे अन्वेषण में निहित रहना चाहिये, जो उसके विचार और संवेग के ऊपर अमिट प्रभाव डाल सके और उसकी क्रियाओं की दिशा में परिवर्तन कर दे। मैं फिर कहना चाहता हूँ कि मुख्य चरित्र को अन्वेषण अवश्य करना है...., इससे वह संवेगात्मक रूप से अवश्य प्रभावित हो; और इससे नाटक में उसकी दिशा अवश्य बदल जाय।

इस फार्मूले को किसी भी ऐसे नाटक पर लागू कीजिये जिसे आप अध्ययन के योग्य समझते हैं। तब आप देखेंगे कि प्रायः निरपवाद रूप से वह इसी फार्म-पैटर्न या

इसके किंचित् रूपांतर का ही अनुगमन करता है। उदाहरण के लिए 'द ग्रीन पाश्चर' नाटक में परिवर्तन उस बिंदु पर आता है जहाँ नाटक का मुख्य पात्र ईश्वर यह अन्वेपण करता है कि यदि ईश्वर को बने रहना है तो उसे परिवर्तन के नियमों के अनुकूल बनना पड़ेगा। 'हैमलेट' नाटक का परिवर्तन बिंदु उसके 'अभिनय दृश्य' में हैमलेट की यह खोज है कि उसका चाचा ही उसके पिता का निश्चित रूप से हत्यारा है। 'एब लिंकन इन इलिनोय' में लिंकन का अन्वेषण यह है कि वह कायर है, कि संघ के लिए युद्ध करने से वह इसलिए बचता रहा है कि भयभीत था। प्रत्येक स्थिति में आप देखेंगे ऐसे अन्वेषण का नायक के ऊपर गहरा संवेगात्मक प्रभाव पड़ता है और नाटक में उसकी क्रियाओं को बिल्कुल नई दिशा दे देता है।

मैं नाट्यलेखन पर कोई शोध-प्रबंध नहीं लिख रहा हूँ और न मैं इस योग्य हूँ ही। किंतु नाटक की बनावट की इस कसौटी की सर्वोत्कृष्ट उपयोगिता पर तो बल देना ही चाहता हूँ। जब कोई व्यक्ति नाटक लिखने चलता है तो उसकी पहली समस्या विषय और उस विषय को रंगमंच से कहानी के रूप में प्रक्षेपित करने की संभावनाएँ हैं। और विषयवस्तु का उसका चयन उसकी व्यक्तिगत समस्या है, एक ऐसी समस्या जो लेखक के अपने युग के साथ निजी संबंधों में अपना उत्तर ढूँढ़ती है। किंतु विषय चुन लेने के बाद जब वह उसे संभव नाट्यविषय के रूप में जानना चाहता है, यदि यह जानना चाहता है कि कैसे उस विषय को नाटक के रूप में ढालें तो अरस्तू के जिस आधुनिक संस्करण की ओर मैंने संकेत किया है उसके सिवा कोई दूसरा संतोषप्रद प्रतिमान वह कभी ढूँढ़ सकेगा, इसमें मुझे संदेह है। उसके मन में जो कथावस्तु है यदि उसमें कोई ऐसी नाट्य उपकथा नहीं है जिसमें नायक या नायिका कोई संवेगात्मक अन्वेषण करते, ऐसा अन्वेषण जो व्यावहारिक रूप से नाटक के अंत को अनुशासित करता, तब ऐसी उपकथा ढूँढ़कर उसमें अवश्य जोड़ देना चाहिये और यदि इसके लिए कथावस्तु में जगह न मिल सके तब वह विषय रंगमंच के लिए प्रायः निश्चित रूप से बहुत कमजोर प्रमाणित होगा। यदि ऐसी संवेगात्मक खोज कहानी में मौजूद तो हो किंतु केंद्रीय न हो तो इसे केंद्रीय बना देना चाहिये जिससे सारी क्रियाएँ इसी के गिर्द चक्कर काटें। तीन अंक के नाटक में यह खोज दूसरे अंक के अंत के आसपास होनी चाहिये, हालाँकि इसे अंततक भी खींचा जा सकता है। पाँच अंक के नाटक में सामान्यतया यह तीसरे अंक के आखीर के करीब पाई जाती है, यद्यपि इसमें भी इसे और बाद में रखा जा सकता है। नाटक की दूसरी सारी बातें बस इसी से अनुशासित हों—इस तक ले जाएँ और फिर इससे परे हटाएँ।

इस मुख्य नियम का एक उपनियम भी है जो उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना स्वयं नियम। नायक को, जो नाटक में केंद्रीय अन्वेषण करता है, पूर्णतायुक्त मानव

नहीं होना चाहिए। उसमें उसी प्रकार की कुछ चीज होनी चाहिए जिसे अरस्तू ने त्रादसीय दोष (ट्रैजिक फाल्ट) कहा है। उसमें यह दोष हो ही इसका कारण यह है कि जब वह अन्वेषण कर लेता है तब उसे बदलना है–आंतरिक रूप से और क्रियाओं में भी। और बदलाव अच्छाई की ओर होना चाहिए। यह दोष बहुत मामूली किस्म का भी हो सकता है। उदाहरण के लिए गैर जानकारी मात्र। किंतु यदि उसमें कोई दोष हो ही न तो उसका बदलाव अच्छाई की ओर नहीं बढ़ सकता, बल्कि और खराबी की ओर ही बढ़ेगा और एक ऐसे कारण से जिसकी चर्चा मैं बाद में करूँगा, नाटक के अंत में उसे और भी अधिक प्रशंसनीय बनना चाहिए न कि कम। दूसरे शब्दों में, नायक को ऐसे अनुभव-संसार से गुजरना चाहिए जो अपनी ही गलतियों के प्रति उसकी आँखें खोल दे। अपने झेलने-भुगतने के दौरान उसे सीखना ही चाहिए। त्रासदी में अपने दोष के परिणाम स्वरूप या उसे ठीक करने की कोशिश में उसे स्वयं मृत्यु का ही साक्षात्कार करना होता है किंतु मरने के पहले वह श्रेष्ठतर मानव बन चुका होता है क्योंकि वह अपने दोष को पहचान लेता है और परिणाम स्वरूप अपनी कार्य-सारणी में परिवर्तन कर लेता है। ऐसे गंभीर नाटक में जिसका अंत मृत्यु से नहीं होता, वह हलका दंड भोगता है किंतु ढाँचा वही रहता है। दोनों रूपों में, आरंभ से ही उसमें कोई दोष रहता है। क्रियाओं के दौरान वह उस दोष का अन्वेषण करता है और अंत में वह इसे दूर करने की यथासंभव कोशिश करता है। द ग्रीन पाश्चर्स' नाटक में 'ईश्वर' का दोष यह था कि वह यह विश्वास करता था कि वह पूर्ण है। उसने खोज की कि वह पूर्ण नहीं है, कि वह गलती पर था और उसे सुधारना पड़ेगा। हैमलेट का दोष था कि वह कार्य करने का निश्चय नहीं कर पाता था। वह तब तक अपने अनिश्चय के अनेक कारण देता रहता है जब तक इस बात की खोज नहीं कर लेता कि उसकी हिचकिचाहट का कोई वास्तविक कारण नहीं था और वह केवल कायरता के कारण ही देर कर रहा था। 'एब लिंकन इन इलिनोय' में लिंकन की भी बिल्कुल यही कठिनाई है। चरमबिंदु के दृश्य में वह इस रहस्योद्घाटन का साक्षात्कार करता है कि अपने प्रति परिणामों के भय के कारण ही वह पक्षग्रहण करने में हिचकिचा रहा था। और तब वह बिना इस चिंता के कि उसका क्या होगा वह आगे बढ़ना तय कर लेता है। अतः नाटककार की दृष्टि से त्रासदी या किसी गंभीरनाटक का भी मूलतत्व उसके नायक की आध्यात्मिक जागर्ति या पुनः संस्कार है।

जब कोई नाटककार इस फार्मूले को उलटने की कोशिश करता है, जब उसका नायक कोई ऐसा अन्वेषण करता है जो उसके चरित्र पर बुरा प्रभाव डालता है या जिसे प्रेक्षक बुरा समझते हैं तब वह नाटक रंगमंच पर निश्चित रूप से असफल हो जाता है। 'ट्रायलस ऐंड क्रेसिडा' नामक नाटक में ट्रायलस अन्वेषण करता है कि क्रेसिडा छिछली स्त्री है। उसके द्वारा परित्यक्त होने पर वह यह निष्कर्ष निकालता

है कि सभी स्त्रियाँ अविश्वसनीय होती हैं, कि स्त्रियों पर विश्वास करने वाले मूर्ख होते हैं। परिणामस्वरूप वह जीवन से हट जाता है और अपनी छोड़ी हुई प्रेमिका वेश्या हेलेन जैसे अर्थहीन उद्देश्य के लिये मौत ढूँढता है। शेक्सपीयर के काव्य की सारी भव्यताएँ मिलकर भी इस नाटक को प्रेक्षकों के लिए प्रभावपूर्ण नहीं बना पातीं। और मैकबेथ के सिवा शेक्सपीयर ने इतनी समृद्धि, इतनी बुद्धिमता, और प्रतिभापूर्ण उपमानों के ऐसे प्रवाह के साथ और कहीं नहीं लिखा है।

प्रेक्षक हमेशा इस बात परऔर जोर देते हैं कि नायक में होने वाला परिवर्तन अच्छाई की ओर हो—या ऐसा हो जिसे वे अच्छा समझें। जैसे-जैसे प्रेक्षक बदलते हैं अच्छाई और बुराई के प्रतिमान भी बदलते जाते हैं, हालाँकि यह परिवर्तन धीरे-धीरे अलक्ष्य रूप से होता है और नाटकों के अर्थ तो शताब्दियों में परिवर्तित होते हैं। केवल एक चीज निश्चित है, कि नाटक देखते हुए प्रेक्षक तभी इसके साथ बहेंगे जब उसका मुख्य पात्र कहानी के आरंभ की तुलना में अंत में कहीं ऊँची नैतिक प्रेरणाओं से संचालित होगा। हालाँकि प्रेक्षक नैतिकता की परिभाषा अवश्य ही अपनी इच्छानुसार और अपने युग के संदर्भ में ही करेंगे। यह बात भले ही ठीक हो कि इस संसार में निरपेक्ष रूप से उत्थान-पतन जैसी कोई चीज नहीं है, किंतु मानव जातियाँ उसके अस्तित्व में विश्वास करती हैं और इसकी अस्वीकृति की बात सुनने को तैयार नहीं।

और अंत में मैं उस बिन्दु पर आता हूं जिसके लिये इतने परिश्रम के साथ मैं अब तक संघर्ष करता रहा हूं। प्रेक्षक रंगशाला में यह देखने के लिये क्यों आते हैं कि किस प्रकार कोई काल्पनिक नायक काल्पनिक परीक्षा में डाला जाता है और वह स्वयं अपने और अपनी जाति के लिये गौरव के साथ विजयी होकर निकलता है? इसी प्रश्न ने मुझे यह निबंध लिखने को प्रेरित किया, और यदि मैं अपने ही किसी पक्षपात के कारण भटक न गया होऊं तो उसका एक बहुत संभव उत्तर नाटचलेखन के उन्हीं नियमों में है जिसका मैंने अभी उल्लेख किया है। रंगमंच का जन्म दो परस्पर पूरक धार्मिक अनुष्ठानों से हुआ है। एक तो मनुष्य में निहित पशु की अर्चना करता है और दूसरा देवता की। प्राचीन यूनानी कामदी कामुकता, ऐय्याशी और पार्थिवता की भावनाओंको समर्पित है। जाति के स्वास्थ्य और सातत्य के लिये ये भावनाएँ निश्चय ही आवश्यक हैं। यूनानी त्रासदी मानव की उच्चाकांक्षाओं, देवताओं के साथ उसकी समशीलता, अपनी वासनाओं और अपनी नितांत पाशविकता से अपने को उठाकर ऐसे लोक में ले जाने की उसके अनंत अदृष्ट प्रयास को समर्पित थी जहां मात्र अस्तित्वरक्षा और सुख के अतिरिक्त दूसरे ऊँचे मूल्य स्थापित थे। इससे चाहे जितना अनजान भले ही हो, एरिस्टोफेनीज और यूरीपिडीज से लेकर आज तक हमारे रंगमंच ने मूलतत्व में बिना किसी परिवर्तन के इसी ढाँचे का अनुसरण

किया है। हमारी अधिक अभद्र संगीतात्मक कामदियां पुरानी कामदी के मदिरा-देवता के अनुष्ठानों के ही करीब पहुँच कर रह जाती हैं। अपने रंगमंच के शेष भाग में हम कभी तो सौफौक्लीज का अनुसरण करते हैं जिसकी त्रासदी सदा मानवीय भावना का उदात्तीकरण होती है, और कभी यूरीपिडीज का अनुसरण करते हैं जिसकी त्रासद-कामदी कष्टभोग द्वारा उपलब्ध गुणवत्ता के उसी ढाँचे का अनुसरण करती है। त्रासदी और कामदी, दोनों रूपों के गौण तत्वों में बहुत हद तक परिवर्तन हुआ है, किंतु मूलतत्वों में, विशेषकर प्रेक्षकों को प्राप्य अर्थसार में मुख्य रूप से वही धार्मिक अनुष्ठान हैं जो सुदूर अतीत में वेदी के चतुर्दिक विकसित हुए थे।

यही कारण है कि जब आप रंगमंच के लिये लिखें तब प्राचीन कामोत्सव के अपने संस्करण और मानवजाति के भविष्य की अपनी स्वप्नकल्पना के बीच चुनाव करें। आपकी स्वप्न-कल्पना दोषपूर्ण, छिछली या भावुक भले ही हो किंतु उसे प्रेक्षकों की किसी उच्चाकांक्षा के अनुकूल अवश्य होना चाहिए अन्यथा वे इसे अस्वीकृत कर देंगे। हममें निहित पशुता की पूजा करने वाली पुरानी कामदी का हमारे रंगमंच पर अब भी स्थान है, जैसा कि ऐथेन्स में था। किंतु जैसा उस समय था उसी प्रकार अब भी मानवीय गुण और संकट के क्षणों में उसका पुनर्निर्माण अधिक महत्वपूर्ण कार्य के रूप में स्वीकृत किया जाता है। हमारी कामदी अधिकांशतः यूनानी नवकामदी है जो यूरीपिडीज की त्रासद-कामदी से विकसित हुई है और त्रासदी से यह इसी अर्थ में भिन्न है कि अधिक सुखदायक दृश्य उपस्थित करती है और अपने नायक को ऐसी अग्निपरीक्षा से गुजारती है जो प्राणघातक नही होती। और चूँकि हमारे नाटक जो तात्विक रूप से पुरानी कामदियाँ ही नहीं हैं—मानवीय भावनाओं का उन्नयन है, और चूंकि प्रेक्षक जब रंगशाला में आते हैं, इसी बात की आशा करते हैं, नाटककार जैसे-जैसे अपने नाटक प्रेक्षकों के समक्ष उपस्थित करता जाता है, वैसे-वैसे वह अनुभव करता है कि उसे अरस्तू के प्राचीन नियम का ही पालन करना चाहिये। उसे अपना संविधानक (प्लाट) ऐसे दृश्य के चतुर्दिक बुनना चाहिये जिसमें नायक को अपने में किसी घातक दुर्बलता या अज्ञानता का पता लगे और वह जीवन का साक्षात्कार नई चेतना से सुसज्जित होकर करे। उसे अपनी कहानी इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिये कि वह प्रेक्षकों को यह प्रमाणित करे कि कष्ट-भोग से गुजरकर आदमी निर्मल हो जाता है। कि यद्यपि हमारे अंदर पशु भी है कि यद्यपि अनेक रूपों में हम निकृष्ट भी हैं, तब भी हम सबमें कुछ ऐसी दैवी, अगम्य आग है जो हमें उससे अच्छा बनने को प्रेरित करती है जो हम हैं।

यह कहा जा सकता है कि दर्शक तो केवल यह चाहते हैं कि नायक बस सामुदायिक नैतिकता का अनुगमन मात्र करे, ऐसे नैतिक नियमों का जो प्रेक्षकों को

समुदाय की अस्तित्व रक्षा के लिए आवश्यक लगें। अनेक स्थितियों, खास तौर से कामदियों, और स्पष्ट ही मोलिएर की कामदियों के संदर्भ में यह सच है। किंतु प्राचीन और आधुनिक काल के अधिकांश नाटकों के संदर्भ में मुझे ऐसा लगता है कि प्रेक्षक वास्तव में यह विश्वास करना चाहते हैं कि मानव में अपने पार्थिव बंधनों को तोड़ने की आकांक्षा रहती है और वे उसकी अपेक्षा कहीं उच्चतर नैतिकता से नातेदारी बनाना चाहते हैं जो उन्हें चारों ओर से घेरे रहती है। उस अन्तिगनी का विद्रोह जो प्रेम के उच्चतर नियमपालन के लिए मानवीय मर्यादाओं को तोड़ देती है। उस प्रामिथ्यूज का विद्रोह जो मनुष्य को अग्नि उपलब्ध कराने के लिए देवताओं की मर्यादा तोड़ देता है। 'द ग्रीन पाश्चर्स' नाटक में 'ओल्ड टेस्टामेंट' के कठोर रूढ़ नियमों के विरुद्ध ईश्वर का विद्रोह, 'दे न्यू ह्वाट दे वान्टेड' नाटक में व्यभिचारी संतान से प्रतिशोध की मांग करनेवाली रूढ़ि के विरुद्ध टोनो का विद्रोह, लिलियम नाटक में उस दैवी नियम के विरुद्ध लिलियम का विद्रोह जो उसके प्रेम को छल बनाने की और उसके अपने ही संतुलन को नष्ट करने की मांग करता था। यहां तक कि इब्सन और शा के नायकों द्वारा पुराने रूपों से प्रतिशोध और नये की स्थापना भी। मेरे लिये ये सब अपरिभाषेय से लगने वाले, धुंधलके में छिपे किसी उत्कर्ष की ओर मानव को टटोल कर बढ़ने के उदाहरण हैं। मेरे लिये वे इस बात के प्रमाण हैं कि रंगमंच अपने सर्वोत्तम रूप में धार्मिक अभिपुष्टि है, युगों पुराना ऐसा कर्मकांड है जो मानव की अपनी नियति, अपनी मूलभूत आशा में उसकी आस्था का पुनर्कथन करते हुए उसे दृढ़ करता है। विकासवाद के सिद्धांत की तुलना में रंगमंच बहुत पुराना है, किंतु इसका एक मात्र विश्वास—प्रत्येक युग में बार बार शक्तिकृत होता हुआ—विकास का विश्वास है, ऐसे सुदूरवर्ती लक्ष्य की ओर बढ़ने और उस तक पहुंचने का विश्वास है जो अपनी झलक तो देता है किंतु साफ दिखाई नहीं पड़ता। जिसे शायद कभी पाया न जा सके और यदि कभी पाया भी जा सके तो और भी सुदूरवर्ती क्षितिज के मार्ग में उसके पास से अधीरता पूर्वक गुजर जाना पड़े।

■

त्रासदी और साधारण आदमी

आर्थर मिलर

इस युग में तो त्रासदी नाटक नहीं के बराबर लिखे जाते हैं। अक्सर यह मान लिया जाता है कि यह कमी हमारे बीच नायकों की दुर्लभता के कारण है। अथवा यह कि विज्ञान की संदेहशीलता के कारण आधुनिक मानव से विश्वास की शक्ति जाती रही है और जीवन के प्रति नायकोचित रुख सावधानी की हिचकिचाहट और अलगाव की प्रवृत्ति पर नहीं पल सकता। कारण कोई भी हो, हमें त्रासदी से नीचे स्तर का, या त्रासदी को हमसे ऊपर समझा जाता है। निश्चय ही इसका अपरिहार्य निष्कर्ष यह है कि त्रासदीय शैली पुरानी पड़ गई है और यह राजाओं और राजन्य व्यक्तियों जैसे केवल अत्यंत उच्चवर्ग के लोगों के लिये ही अनुकूल है। जहाँ यह बात विस्तारके साथ स्पष्ट शब्दों में नहीं कही जाती वहाँ भी निहितार्थ यही रहता है।

मेरा विश्वास है, त्रासदी के उच्चतम अर्थों में भी सामान्य आदमी उसका उतना ही अनुकूल विषय है, जितना राजा था। मनोचिकित्सा-विज्ञान अपने विश्लेषणों के आधार के रूप में इडिपस और औरेस्टिज ग्रंथियों जैसे क्लासिकी स्थापनाओं को स्वीकार करता है जो शाही घराने के लोगों द्वारा क्रियान्वित होते थे, किन्तु समान संवेगात्मक स्थितियों में जो सब पर लागू हो सकते हैं।

बात को और सरल करने के लिए, जब विचार का विषय 'कला में त्रासदी का प्रश्न' नहीं रहता तब हम अच्छी स्थिति वाले ऊँचे लोगों में भी वही मानसिक प्रक्रियाएँ लागू करने में नहीं हिचकिचाते जो निम्नलोगों में पाई जाती हैं। और सबसे बड़ी बात तो यह कि यदि त्रासदीय क्रियाओं का उच्च स्वरूप सचमुच एकमात्र उच्च-कुल के चरित्रों का ही विशिष्ट गुण है, तो यह बात समझना मुश्किल है कि क्यों मानवसमुदाय कला के अन्य रूपों की अपेक्षा त्रासदी को इतना ऊँचा महत्त्व देता आ रहा है, साथ ही वह इसे समझाने में असमर्थ भी कैसे होता रहा है?

सामान्य नियम के अनुसार, जिसके अपवाद का मुझे कोई ज्ञान नहीं, हमारे अंदर त्रासदीय भावनाएँ तब उत्पन्न होती हैं जब हम किसी ऐसे चरित्र का साक्षात्कार करते हैं जो आवश्यकता पड़ने पर अपने आत्मसम्मान की भावना की रक्षा के लिए अपना जीवन दे देने को प्रस्तुत हो जाता है। औरिस्टीज से हेमलेट और मीडिया से मैकबेथ तक अंतर्निहित संघर्ष यही रहा है कि व्यक्ति अपने समाज में अपने अधिकारिक स्थान को पाने का प्रयत्न करता है।

कभी तो वह ऐसा व्यक्ति होता है जो इससे स्थानच्युत कर दिया गया होता है और कभी वह ऐसा व्यक्ति होता है जो उसे पहली बार पाने का प्रयत्न करता है। किंतु वह भाग्यनियामक आघात, जिससे अपरिहार्य घटनाएँ उद्भूत होती हैं, अपमान का आघात होता है, और इसकी नियन्त्रक शक्ति क्रोधाग्नि होती है।

तब त्रासदी अपना न्यायपूर्ण मूल्यांकन करने की व्यक्तित्व की पूर्ण विवशता का परिणाम है।

नाटक की कहानी जो स्वयं नायक द्वारा आरम्भ होती है, सदा उस तत्व को व्यक्त करती है, जिसे 'त्रासदीय त्रुटि' कहा जाता है। यह एक ऐसी त्रुटि है जो केवल भव्य या उच्चासीन चरित्रों में ही नहीं पाई जाती। यह भी आवश्यक नहीं कि यह कोई दुर्बलता ही हो। चरित्र का दोष या उसकी दरार वस्तुतः कुछ नहीं है और कुछ होने की आवश्यकता भी नहीं है। यह तो जिसे वह अपने आत्मसम्मान की चुनौती समझता है उसके, अपनी न्यायपूर्ण स्थिति की उसकी कल्पना पर प्रहार के विरुद्ध, निष्क्रिय रहने की उसकी जन्मजात अनिच्छा है। केवल निष्क्रिय लोग, केवल वे जो अपनी नियति बिना प्रतिरोध के स्वीकार कर लेते हैं, 'दोषरहित' होते हैं। हममें से अधिकांश इसी श्रेणी के हैं।

किन्तु सदा की भाँति आज भी हमारे बीच ऐसे लोग हैं जो उस विधान के विरुद्ध कार्य करते हैं जो उन्हें अपमानित करता है। और कार्य की प्रक्रिया में वे सारी चीजें जिन्हें हमने भय, संवेदनहीनता या अज्ञान के कारण स्वीकार कर रखी हैं, हमारे समक्ष हिलने और परीक्षित होने लगती हैं। और हमारे चतुर्दिक के स्थिर से लगने वाले जगत के विरुद्ध एक व्यक्ति की सम्पूर्ण उत्क्रांति से, अपरिवर्तनीय परिवेश के इस सम्पूर्ण परीक्षण से वह त्रास और भय उत्पन्न होता है जो क्लासकीय रूप से त्रासदी के साथ संयुक्त है।

पहले जो कुछ प्रश्नहीन रह चुका है, उसे इस प्रकार पूर्ण रूप से प्रश्नित किये जाने से हम सीखते हैं, जो अधिक महत्वपूर्ण है। और ऐसी प्रक्रिया सामान्य आदमी से परे की नहीं है। पिछले तीस वर्षों में विश्वभर में फैली क्रान्तियों में सामान्य आदमी ने बार-बार त्रासदी की इस आंतरिक गतिमयता को दर्शित किया है।

त्रासदीय नायक की श्रेणी अथवा चरित्र की श्रेष्ठता पर जोर देना यह सूचित करता है कि वास्तव में हम त्रासदी के बाह्य रूपों से चिपके हुए हैं। यदि चरित्र की श्रेष्ठता अपरिहार्य है तो इससे लगी हुई यह बात भी है कि श्रेण्य लोगों की समस्याएँ ही वास्तव में त्रासदी की विशिष्ट समस्याएँ हैं। किंतु निश्चय ही दूसरे की भूमि हड़पने के किसी अधिपति के अधिकार से अब हममें भावावेगों का उदय नहीं हो सकता और हमारी न्याय की कल्पना आज वह नहीं है जो एलिजाबेथ युगीन राजाओं के मन में थी।

तब भी इन नाटकों का वह गुण जो हमें हिला देता है, स्थानच्युत हो जाने के अंतर्निहित भय से, इस जगत में हम क्या और कौन हैं, इसकी चुनी हुई अपनी कल्पना से कट जाने में निहित संकट से उद्भूत होता है। आज हममें यह भय उतनी ही शक्ति के साथ, बल्कि कहीं अधिक शक्तिशाली रूप में व्याप्त है जितना

पहले कभी था। तथ्य तो यह है कि सामान्य आदमी ही इस भय को सर्वोत्तम रूप में जानता है।

अब, यदि यह सत्य है कि त्रासदी स्वयं का न्यायपूर्ण रूप से मूल्यांकन करने की किसी व्यक्ति की पूर्ण विवशता का परिणाम है, इस प्रयास में उसका विनाश उसके परिवेश की किसी गलती या बुराई को स्थापित करता है। और संक्षिप्त रूप में यही त्रासदी का नैतिक निष्कर्ष या उसकी शिक्षा है। नैतिक नियमों की खोज, जिसमें त्रासदी का प्रबोधीकरण निहित है, किसी अमूर्त या आध्यात्मिक खुराक की खोज नहीं है।

त्रासदीय अधिकार जीवन की एक शर्त है, एक ऐसी स्थिति है जिसमें मानव-व्यक्तित्व कुसुमित होता है और अपना साक्षात्कार कर सकता है। गलती वह स्थिति है जो मानव को दमित करती है, उसके प्रेम और उसकी सर्जनात्मक मूल-वृत्ति के कुसुमित होने की प्रक्रिया को विकृत करती है। त्रासदी प्रबोधन करती है—और इसे ऐसा करना ही चाहिए क्योंकि यह मानवमुक्ति के शत्रु की ओर वीरतापूर्ण अंगुलिनिर्देश करती है। मुक्ति की प्यास त्रासदी का वह गुण है जो ऊँचाइयों तक उठता है। स्थिर परिवेश का क्रांतिकारी प्रश्नांकन वह तत्व है जो त्रास उत्पन्न करता है। इस प्रकार की क्रियाओं या विचारों से सामान्य आदमी किसी प्रकार पृथक नही रखा जा सकता।

इस प्रकाश में देखे जाने पर त्रासदियों का हमारा यह अभाव आंशिक रूप से उस मोड़ के मत्थे मढ़ा जा सकता है जो आधुनिक साहित्य में जीवन के प्रति बिलकुल मनोचिकित्सात्मक या बिलकुल समाजशास्त्रीय दृष्टि के कारण आया। यदि हमारे सारे संकट, हमारी सारी अप्रतिष्ठाएँ हमारे मनों में ही उत्पन्न और पोषित होती हैं तो सारी क्रियाएं--अकेले नायकोचित क्रियाओं की तो बात ही दूर—स्पष्टत: असम्भव हो जाती हैं।

और यदि अकेले समाज ही हमारे जीवन को दमित करने का उत्तरदायी है तब तो नायक इतना अधिक शुद्ध और निर्दोष होगा कि चरित्र के रूप में हमें उसे स्वीकार करना ही कठिन हो जाएगा। इनमें से कोई भी दृष्टि त्रासदी को जन्म नहीं दे सकती जिसका सीधा-सादा कारण यह है कि इनमें से कोई जीवन की संतुलित कल्पना नहीं उपस्थित करता। और सब बातों से ऊपर त्रासदी में कार्य और कारण को लेखक से सूक्ष्मतम समझदारी की अपेक्षा होती है।

अत: तब तक किसी त्रासदी का जन्म नहीं हो सकता जब तक उसका लेखक प्रत्येक वस्तु को पूर्ण रूप से प्रश्नांकित करने से डरता रहेगा, जब तक वह किसी संस्था, आदत, या रूढ़रीति को या तो शाश्वत, अपरिवर्तनीय या अपरिहार्य मानता रहेगा। त्रासदीय दृष्टि में पूर्णरूप से आत्म-साक्षात्कार करने की मानवीय आवश्यकता

ही एक मात्र ध्रुवतारा है। और यह चाहे जो हो, जो कुछ आदमी की प्रकृति को कांटों से घेरता है, उसे नीचे गिराता है वह आक्रमण और परीक्षण के लिये तैयार है। अब यह कहने की आवश्यकता नहीं कि त्रासदी क्रांति का उपदेश देती ही है।

यूनानी अपने तौर तरीकों के बिल्कुल स्वर्गीय स्रोत को जानते थे और कानूनों के औचित्य को स्वीकृति देने की ओर उन्मुख थे। और जब-तब अपने क्रोध में देवता के सामने अपनी अधीनता के अधिकार और उद्देश्य की माँग वे कर सकते थे। किंतु क्षण भर के लिए हर चीज ठहराव की स्थिति में हो जाती है, कोई चीज स्वीकार नहीं की जाती और सुव्यवस्थित जगत के इस तनाव और विच्छेदन में, ऐसा करने की क्रिया में ही चरित्र आकार प्राप्न कर लेता है। वह त्रासदीय ऊँचाई प्राप्त कर लेता है जिसे हमारे मन ने भ्रष्ट तरीके से केवल शाही व्यक्तित्वों या उच्चकुल के व्यक्तियों से संयुक्त कर रखा है। अत्यंत सामान्य व्यक्ति भी उस सीमा तक इस ऊँचाई को प्राप्त कर सकता है जिस सीमातक वह अपने विरोधी तत्वों को उखाड़ फेंकने के लिये, जगत में अपने औचित्यपूर्ण स्थान को प्राप्त कर लेने के लिए संघर्ष करने को तत्पर होगा।

त्रासदी के संबंध में एक गलत धारणा है जिसे मैं अनेक समीक्षाओं तथा लेखकों एवं पाठकों के साथ विचार-विमर्श में बराबर पाता रहा हूँ। वह यह कि त्रासदी आवश्यक रूप से निराशावाद के साथ संबद्ध है। यहाँतक कि शब्दकोश भी त्रासदी के संबंध में इससे अधिक कुछ नहीं कहते कि यह अवसादपूर्ण या दुःखद अंत वाली कहानी है। यह धारणा इतनी अधिक दृढ़ हो चुकी है कि मुझे इस स्थापना को व्यक्त करने में संकोच का अनुभव होता है कि वास्तव में त्रासदी कामदी से कहीं अधिक आशावाद की मांग अपने लेखक से करती है और इसका अन्तिम परिणाम यही होना चाहिये कि मानव-प्राणी के प्रति प्रेक्षकों की उज्ज्वलतम धारणाएं और भी अधिक दृढ़ हो उठें।

क्योंकि, यदि यह कथन सत्य है कि मूलतः त्रासदीय नायक व्यक्तित्व के रूप में अपने सभी प्राप्य अधिकारों को पाने के लिये उद्यत होता है, और यदि इस संघर्ष को पूर्णतः और बिना किसी छूट के ही होना है तो इससे अपनी मानवीयता प्राप्त करने की मानव की अटूट निष्ठा स्वतः प्रमाणित हो जाती है।

त्रासदी में विजय की संभावना अवश्य रहनी चाहिए। जहां अवसाद शासन करता है, जहां अन्तिम रूप से अवसाद ही उपलब्ध होता है वहां चरित्र ऐसी लड़ाई लड़ता है जिसे वह संभवतः जीत नहीं सकता था। अवसादपूर्ण स्थिति तब आती है जब नायक अपनी बुद्धिहीनता, संवेदनहीनता या स्वनिर्मित वायुमंडल के कारण अधिक

श्रेष्ठशक्ति के साथ संघर्ष करने में असमर्थ हो जाता है। अवसाद वास्तव में निराशा-वादी की शैली है। किंतु त्रासदी के लिये संभव और असंभव के बीच सूक्ष्मतर एवं श्रेष्ठतर संतुलन की आवश्यकता पड़ती है। और यह आश्चर्यजनक है, हांलाकि नैतिक उन्नति का कारण भी है, कि जिन नाटकों का हम शताब्दियों से सम्मान करते रहे हैं वे त्रासदी ही हैं। उनमें, और मात्र उनमें ही, निहित है विश्वास—आशावादी विश्वास।

मैं समझता हूँ, यह समय है जब राजाओं से रहित हम लोग अपने इतिहास के इस उज्ज्वल सूत्र को ग्रहण करें और उस दिशा का अनुगमन करें जहां यह हमारे युग में हमें ले जा सकती है—औसत आदमी के हृदय और उसकी भावना की ओर।

टेनेसी विलियम्स का आत्मसाक्षात्कार



प्रश्न : क्या हम लोग निःसंकोच बातें कर सकते हैं ?

उत्तर : और दूसरे तरीके से बातें हो ही नहीं सकतीं ।

प्रश्न : शायद आपको मालूम है कि आपका पहला सफल नाटक "द ग्लास मिनेजरी" इस बार जब दुबारा खेला गया तो बारह वर्ष पुराना होने पर भी अधिकांश समीक्षकों ने अनुभव किया कि यह अब भी आपका सर्वोत्तम नाटक है ।

उत्तर : हां, मैंने अपने नाटक के सभी विज्ञापन और समीक्षाएं पढ़ी हैं । मैंने उन्हें भी नहीं छोड़ा है जिनमें यह लिखा गया है कि मैं धन कमाने की गरज से लिखता हूँ या कि मैं मुख्य रूप से मनुष्य की पाशविक और गन्दी प्रवृत्तियों को जगाता हूँ ।

प्रश्न : जहाँ कि इतना ज्यादा धुआँ है..........?

उत्तर : आग से सबसे ज्यादा धुआँ तब निकलने लगता है जब आप उसे पानी से बुझाने की कोशिश करते हैं ।

प्रश्न : लेकिन आप इतना तो अवश्य स्वीकार करेंगे कि आपकी इधर हाल की कृतियों में कठोरता और संवेगहीनता तथा हिंसा और क्रोध का एक ऐसा स्वर रहा है जो मन को काफी परेशान करता है ।

उत्तर : मेरा खयाल है कि एक व्यक्ति और लेखक की हैसियत से अपने निरन्तर बढ़ते हुए तनाव के साथ मैं जिस संसार और युग में रहता हूँ उसी की बढ़ती हुई हिंसा और क्रोध तथा तनाव का मैंने अनुसरण किया है । लेकिन इस तरह की मैंने कोई पूर्व योजना नहीं बनाई थी ।

प्रश्न : तब आप यह स्वीकार करते हैं कि यह 'विकासशील तनाव' आपके कथनानुसार आपके व्यक्तित्व में एक स्थिति का प्रतिबिम्ब है ?

उत्तर : हां ।

प्रश्न : एक विकृत स्थिति का ?

उत्तर : हाँ ।

प्रश्न : शायद ऐसी विकृति जो मनोविकृति के करीब पहुंच गई है ?

उत्तर : मेरा खयाल है कि मेरी कृतियाँ मेरे लिए हमेशा ही एक प्रकार की मनोचिकित्सा रही हैं ।

प्रश्न : लेकिन आपने यह कैसे सोच लिया कि दर्शकगण उन नाटकों और दूसरी रचनाओं से प्रभावित होंगे जिनका सृजन पागल होते जा रहे एक व्यक्ति द्वारा अपने तनावों से मुक्ति पाने के लिए किया गया है ?

उत्तर : इससे उनको भी तो मुक्ति मिलेगी ।

प्रश्न : उन्हें किस चीज से मुक्ति मिलेगी ?

उत्तर ; बढ़ते हुए तनावों से, जो मनोविकृति के किनारे तक पहुंच गये हैं ।

प्रश्न : आपका खयाल है कि सारी दुनियां पागल होने जा रही है ?

उत्तर : जा रही है ? मैं तो कहता हूँ करीब करीब जा चुकी है । जैसा कि "कैमिनोरीयल" में जिप्सी ने कहा है, 'संसार ऐसे कौतुकपूर्ण अखबार की तरह है जिसे उलटे तिथि-क्रम की ओर पढ़ा जाता है और इस प्रकार से पढ़ने पर यह उतना कौतुकपूर्ण नहीं रह जाता ।'

प्रश्न : दुनियाँ के बारे में इस विकृत दृष्टिकोण को लेकर आप कितनी दूर तक चल सकते हैं ?

उत्तर : उतनी दूर तक जितनी दूर तक दुनियाँ अपनी स्थिति में जा सकती है । बस उतनी ही दूर तक, उससे आगे नहीं ।

प्रश्न : आप यह आशा तो नहीं ही करते कि दर्शक और समीक्षक भी आपके साथ चलेंगे । क्या ऐसी आशा है आपके मन में ?

उत्तर : नहीं ।

प्रश्न : तब आप क्यों जबर्दस्ती उन्हें उस रास्ते पर खींचने ढकेलने की कोशिश करते हैं ?

उत्तर : मैं अपने रास्ते पर चलता हूँ । अपने साथ किसी को खींचने ढकेलने की कोशिश नहीं करता ।

प्रश्न : हाँ । लेकिन आप यह तो आशा करते ही हैं कि लोग आपकी बात सुनते रहें । क्या इस प्रकार की आशा आपके मन में नहीं है ?

उत्तर : इस प्रकार की आशा होना स्वाभाविक है ।

प्रश्न : तब भी आप अपनी कृतियों के आतंक और हिंसा से लोगों को दूर फेंक देते हैं ?

उत्तर : क्या आपने इस बात पर गौर नहीं किया है कि हम जिस युग और दुनियाँ में रह रहे हैं उसमें फैली हुई हिंसा और आतंक की वर्तमान महामारी के फलस्वरूप बरसाती कीड़ों की तरह किस कदर लोग हमारे चारों ओर गिरे पड़ रहे हैं ?

प्रश्न : लेकिन आपका काम तो अपनी कला से लोगों का मनोरंजन करना है । और अब लोगों का मनोरंजन टीन की गर्म छतों पर की बिल्लियों और बेबी डाल्स और क्रेजी स्ट्रीटकार के यात्रियों द्वारा नहीं होता ।

उत्तर : तब उनसे संगीत रूपक और प्रहसन देखने जाने को कहिए । मैं अपना मार्ग बदलने वाला नहीं । जो मैं लिखना चाहता हूँ उसे ही लिखने में मुझे काफी मुश्किल होती है और आप चाहते हैं कि मैं वह लिखूं जिसे आपके

मतानुसार लोग मुझसे लिखवाना चाहते हैं और जिसे लिखना मैं पसन्द नहीं करता।

प्रश्न : अपने मतानुसार आपका कोई पाजिटिव संदेश भी है ?

उत्तर : अपनी समझ से सचमुच मेरे पास है।

प्रश्न : किस प्रकार का है वह संदेश ?

उत्तर : अपने आपको और दूसरे को और भी खूब अच्छी तरह से जानने के विश्व व्यापक महान् मानवीय प्रयत्न की अत्यन्त तीव्र आवश्यकता, इतनी अच्छी तरह जानने की कि सभी को विश्वास हो जाय कि 'गुण' और 'औचित्य' पर उसी प्रकार किसी का एकाधिपत्य नहीं है जिस प्रकार धोखेबाजी और बुराई इत्यादि पर। यदि मानव जातियाँ और राष्ट्र इस स्वयंसिद्ध सत्य को आधार मानकर अपने जीवन का निर्माण आरम्भ करें तो मेरे विचार से तभी विश्व उस किस्म के भ्रष्टाचार से बच सकता है जिसे मैंने अनायास रूप से अपने नाटकों की आधारभूत और साध्यावसानक थीम के रूप में चुना है।

प्रश्न : आपकी बात से तो ऐसा लगता है कि समाज में भ्रष्टाचार की जो प्रक्रिया चल रही है उससे आप अपने को बिलकुल मुक्त और ऊपर उठा हुआ मानते हैं।

उत्तर : मैंने आजतक किसी ऐसी बुराई के बारे में नहीं लिखा है जिसे मैंने खुद अपने में महसूस न किया हो।

प्रश्न : लेकिन एक ओर तो आप पूरे समाज पर यह दोषारोपण करते हैं कि उसने जान बूझ कर बेइमानी के प्रति अपने आपको समर्पित कर दिया है और दूसरी ओर लेखक के रूप में आप अपने को इससे अलग भी मानते हैं।

उत्तर : जी हाँ, लेखक के रूप में अलग हूँ, व्यक्ति के रूप में नहीं।

प्रश्न : क्या आप समझते हैं कि लेखक के रूप में आपकी यह एक विलक्षण विशेषता है ?

उत्तर : मैं लेखकों के बारे में भावुक नहीं हूँ। लेकिन मैं ऐसा सोचता हूँ कि अधिकांश लेखक, और दूसरे क्षेत्रों के भी अधिकांश कलाकार अपने निराशापूर्ण व्यवसाय में मुख्यरूप से एक विशेष इच्छा से संचालित होते हैं जो उन्हें सत्य का पता लगाने तथा उन्हें झूठों की जटिलताओं एवं जिन अतृप्तियों के बीच वे रहते हैं उनसे अलग करने के लिए प्रेरित करती है। मेरे विचार से यही वह भावना है जो उनके कार्य को मात्र व्यवसाय से ऊपर उठा कर एक वास्तविक 'आह्वान' के रूप में बदल देती है।

प्रश्न : आप भले चंगे आदमियों के बारे में क्यों नहीं लिखते ? अपने जीवन में आपने कभी भले चंगे आदमियों को देखा ही नहीं है ?

उत्तर : भले आदमियों के बारे में मेरे सिद्धान्त इतने सीधे-सादे हैं कि उन्हें कहने में परेशानी महसूस करता हूँ।

प्रश्न : कृपा कर कह दीजिये ?

उत्तर : अच्छी बात है। मैं अब तक किसी ऐसे आदमी से नहीं मिला हूँ जिसे मैंने प्यार न किया हो यदि मुझे उसको पूर्णतया जानने और समझने का अवसर मिला है। और अपने काम में मैं कम से कम जानकारी और समझ-दारी तक पहुँचने की कोशिश तो करता ही हूँ। मैं मूलपाप में विश्वास नहीं करता। मैं अपराध में विश्वास नहीं करता। मैं केवल उन गलत या सही तरीकों में विश्वास करता हूँ जिन्हें व्यक्ति अपना लेता है; चुनकर नहीं, अनिवार्य आवश्यकता या अपने में निहित अबतक अज्ञात किन्हीं विशेष प्रभावों के कारण। मैं व्यक्ति की परिस्थितियों और पूर्वस्थितियों में विश्वास करता हूँ।

यह सब इतना सरल है कि इसे कहने में मैं संकोच अनुभव करता हूँ। लेकिन मेरा विश्वास है कि यह सही है। मैं तो इसके लिए अपने जीवन की बाजी लगाने को तैयार हूँ। और यही कारण है कि मैं यह नहीं समझ पाता कि हमारे प्रचार के साधन क्यों हमेशा शिक्षा देते रहते हैं और प्रेरित करते रहते हैं कि इसी छोटी सी दुनियाँ में, जिसमें हम रहते हैं, दूसरे लोगों से भय और घृणा करें।

हम इन लोगों से मिलकर क्यों नहीं उन्हें उसी प्रकार जानने का प्रयत्न करते जैसे मैं अपने नाटकों में लोगों से मिलने और उन्हें जानने की कोशिश करता हूँ। मेरी बात बहुत आडम्बर और अहंकारपूर्ण लग रही होगी। लेकिन मैं अपना वक्तव्य ऐसी बात पर समाप्त नहीं करना चाहता। तब मुझे क्या कहना चाहिए ? यह कि अपनी समझ से मैं एक साधारण कलाकार हूँ जिससे दो एक उत्कृष्ट कृतियाँ लिख गई हैं ? मैं तो यह भी नहीं कह सकता कि वे कृतियाँ कौन सी हैं ? इसका कोई महत्व भी नहीं है। मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका। मैं इसे फिर से कह सकता हूँ या चुप्पी भी साध सकता हूँ। यह आप पर निर्भर नहीं करता। यह पूर्ण रूप से या तो मुझपर निर्भर करता है अथवा मेरे जीवन में भाग्य या संयोग के दखल पर।

●

मिथक गढ़नेवाले

ज्याँ पाल सार्त्र

ज्याँ एनुई के 'एन्टीगोनी' की कैथेराइन कार्नेल द्वारा की गई प्रस्तुति की समीक्षा समाचारपत्र में पढ़ते समय मुझे ऐसा महसूस हुआ कि न्यूयार्क के नाट्यालोचकों के मन में इस नाटक ने कुछ बेचैनी पैदा कर दी है। बहुतों ने आश्चर्य व्यक्त किया कि इतने प्राचीन मिथक का भी मंचन किया जा सकता है क्या। अन्य दूसरों ने आरोप किया कि 'एण्टीगोनी' न तो जीवन्त है और न विश्वसनीय; और रंगमंच की बोली में जिसे "चरित्र" कहा जाता है वह तत्व भी उसमें नहीं। मेरा विश्वास है, गलतफहमी का कारण यह तथ्य है कि फ्रांस के बहुत से युवा लेखक बिना किसी सामूहिक पूर्व-योजना के अपने अलग अलग ढंग से जो कुछ करने की कोशिश कर रहे हैं उसका पता इन आलोचकों को नहीं।

"त्रासदी की ओर वापसी" और दार्शनिक नाटकों के पुनर्जन्मों को लेकर फ्रांस में बहुत वादविवाद हुआ है। ये दोनों लेबुल भ्रामक हैं। अतः इन्हें अस्वीकृत कर देना चाहिए। हमारे लिये त्रासदी एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है जिसका विकास सोलहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के बीच हुआ। इसे फिर से शुरू करने की हमारी कोई इच्छा नहीं। और यदि दार्शनिक नाटक का अर्थ उन कृतियों से है जो आपत्ति पूर्वक रंगमंच पर मार्क्स, सेन्ट टामस या अस्तित्ववाद का दर्शन उपस्थित करना चाहती हैं, तो हम उन्हें भी प्रस्तुत करने के उत्सुक नहीं हैं। तब भी इन दो लेबुलों के साथ कुछ सत्य जुड़ा हुआ है। पहले तो यही तथ्य कि परम्परा की ओर मुड़ने की अपेक्षा नवीनीकरणों में हमारी रुचि कम है। उसी प्रकार यह भी सत्य है कि आज हमें रंगमंच की जिन समस्याओं से उलझना पड़ रहा है, वे सन् १९४० के पूर्व जिन समस्याओं का हम आदतन सामना करते रहे हैं, उनसे काफी अधिक अलग किस्म की हैं।

दो महायुद्धों के बीच जिस रंगमंच की कल्पना की गयी और संयुक्तराज्य अमेरिका में कदाचित् जैसा आज भी समझा जा रहा है, वह चरित्रकेंद्रित रंगमंच है। चरित्रों का विश्लेषण और उनका सामना रंगमंच का मुख्य व्यापार था। तथाकथित 'स्थितियों' का अस्तित्व भी इसी प्रयोजन से था कि चरित्रों को काफी स्पष्टता से उभारा जा सके। इस युग के सर्वोत्तम नाटक वे हैं, जिनमें किन्हीं कायर, प्रवंचक, महत्त्वाकांक्षी या निराश-प्रताड़ित व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। कभी-कभी कोई नाटककार किसी भावावेग, जो प्रायः प्रणय हुआ करता था—की क्रियाओं की रूपरेखा देने अथवा आत्महीनता ग्रंथि के विश्लेषण का भी प्रयास करता था।

इन सिद्धांतों के आधार पर निर्णय किये जाने पर एनुई की 'एण्टिगोनी' बिल्कुल ही चरित्र नहीं ठहरती। वह उस खूँटी मात्र का भी काम नहीं करती जिसपर तत्कालीन फैशन में प्रचलित मनोविज्ञान की सरणि पर चलने के लिए संयोजित भावावेग टांगा जा सके। वह तो एक नंगी इच्छा, शुद्धमुक्तवरण का प्रतिरूपण करती है, उसमें क्रिया और भावावेग का पृथकीकरण नहीं है। फ्रांस के युवा नाटचकार इसमें विश्वास नहीं करते कि मनुष्य किन्हीं बने-बनाये ऐसे मानवस्वभाव के सहभागी होते हैं जो किसी निश्चित स्थिति के दबाव से बदल जाता है। वे यह नहीं सोचते कि व्यक्ति ऐसे भावावेग या सनक से ग्रस्त हो सकते हैं, जिन्हें नितांत वंशपरंपरा, परिवेश या स्थितियों के आधार पर समझाया जा सकता है। उनके सोचने की शैली के अनुसार सार्विक प्रकृति नहीं है बल्कि वे स्थितियाँ हैं जिनमें मनुष्य अपने को पाता है, अर्थात् मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं का कुल मीजान नहीं, बल्कि वे सीमाएँ जो व्यक्ति को चारों ओर से घेरे रहती हैं।

उनके मतानुसार मानव की परिभाषा 'चिन्तनशील प्राणी' या 'सामाजिक प्राणी' के रूप में नहीं होनी चाहिये, बल्कि स्वतंत्र सत्ता के रूप में होनी चाहिये जो पूर्णतया पूर्व-अनिश्चित ह और जो किन्हीं विशिष्ट आवश्यकताओं का सामना होने पर अपने स्वरूप को स्वयं चुन सके। ऐसे प्राणी के रूप में होनी चाहिये, जो आतंकपूर्ण और अनुकूल दोनों प्रकार के तत्वों तथा दूसरे ऐसे व्यक्तियों से भरे हुए संसार के प्रति पूर्वप्रतिबद्ध हो जो उसके पहले ही अपना चयन कर चुके हैं और पहले से ही उन तत्वों का अर्थ निर्णीत कर चुके हैं। उसे काम करने और मर जाने की अनिवार्यता का सामना करना पड़ता है, एक ऐसे जीवन में उछाल दिये जाने की अनिवार्यता का सामना करना पड़ता है, जो पहले ही पूर्ण हो चुका है, जो उसके अपने लिए एक चुनौती है और जिसमें उसे कोई दूसरा मौका नहीं मिल सकता, जहाँ उसे अपने पत्ते बिछाने ही हैं, जोखिमें उठानी ही हैं, फिर उनकी कोई भी कीमत उसे क्यों न चुकानी पड़े। यही कारण है कि हम रंगमंच पर उन विशिष्ट स्थितियों को प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, जो मानव की दशा के मुख्य पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं और जो इन स्थितियों में मानव द्वारा किये गये स्वतंत्रवरण में दर्शकों को भी सहभागी बनने को आमंत्रित करती हैं।

ऐसी स्थिति में, एनुइ की 'एंटीगोनी अमूर्त प्रतीत हुई होगी, क्योंकि वह विशिष्ट प्रभावों और कुछ-कुछ भयंकर स्मृतियों से निर्मित यूनान की युवती राजकुमारी के रूप में नहीं चित्रित की गई है, बल्कि वह तो एक ऐसी स्वतंत्र नारी के रूप में चित्रित की गई है जो तब तक किन्हीं भी विशिष्टताओं से रहित है जब तक उन क्षणों में वह उन्हें स्वयं अपने लिए वरण नहीं कर लेती जिनमें विजयी निर्दय-निरंकुश के बावजूद

वह मरने की अपनी स्वतंत्रता स्थापित करती है। इसी प्रकार सिमौनी द व्यूवौ की कृति में जब यह निर्णय करना पड़ता है कि वह घेरे में पड़े हुए अपने नगर की रक्षा उसके आधे निवासियों (स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों) की हत्या करके करे अथवा सभी को बचाने की कोशिश में सभी को नष्ट हो जाने देने का खतरा उठाए, तब हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि वह इंद्रियपरायण या भावशून्य है, कि वह इडिपस ग्रंथि से ग्रस्त है, या कि वह चिड़चिड़े अथवा खुशगवार मिजाज का है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि वह जल्दबाज, असावधान, आडंबरपूर्ण या कायर स्वभाव का है तो वह गलत निर्णय लेगा। किंतु हमारी इसमें कोई रूचि नहीं है कि उसके चुनाव पर अनिवार्य प्रभाव डालने वाले कारणों-अभिप्रायों की हम पहले से ही कोई संयोजना करें। किंतु हम तो एक ऐसे व्यक्ति की तीव्र पीड़ा प्रस्तुत करना चाहते हैं, जो स्वतंत्र है और सद्भावना से भी भरा है, जो अपनी पूरी ईमानदारी के साथ यह जानना चाहता है कि वह कौन सा पक्ष ग्रहण करे, और जो यह जानता है कि जब वह दूसरों की नियति का चुनाव करता है तब वह अपने भी व्यवहारों का पैटर्न निश्चित कर डालता है और अंतिम रूप से यह निर्णीत कर देता है कि उसे निरंकुश होना है या प्रजातांत्रिक।

यदि हममे से कोई कभी रंगमंच पर चरित्र प्रस्तुत भी कर देता है तो वह बस केवल इसी उद्देश्य से कि जल्दी से जल्दी उससे पीछा छुड़ाया जा सके। उदाहरण के लिए अल्बेयर कामू के 'कैलीगुला' नाम नाटक के आरंभ में इसी नाम के नायक का अपना एक 'चरित्र' है। लोग विश्वास करने लग जाते हैं कि वह सज्जन और व्यवहार-शील युक्त है और निःसंदेह उसमें ये दोनों गुण हैं भी। किन्तु वह सज्जनता और विनम्रता संसार के ऊलजलूलपन की राजकुमार की त्रासजनक खोज के सामने गलने लग जाती है। उस क्षण से वह ऐसा आदमी बनना चाहता है जो दूसरों को भी इस ऊलजलूलपन का विश्वास दिलाने का प्रयत्न करता रहेगा, और इस प्रकार यह नाटक बस इसी बात की कहानी बन जाता है कि वह अपना अभिप्राय किस प्रकार पूरा करता है।

ऐसा व्यक्ति जो अपनी ही स्थितियों की परिधि में स्वतंत्र है, जो जब स्वयं अपने लिये वरण करता है तब सभी दूसरों के लिए भी वरण कर लेता है, फिर भले ही वह इसे चाहे या न चाहे : ऐसा व्यक्ति ही हमारे नाटकों की विषय-वस्तु है। चरित्रों के रंगमंच के उत्तराधिकारी के रूप में हम स्थितियों के रंगमंच का निर्माण करना चाहते हैं, हमारा उद्देश्य उन सभी स्थितियों का अनुसंधान करना है जो मानव के अनुभवों में सर्वाधिक बार गुजरती हैं या अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में कम से कम एक बार तो आती ही हैं। हमारे नाटकों में व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न होंगे— उस तरह नहीं जैसे कोई कायर कंजूस से अलग होता है या कंजूस बहादुर से, बल्कि

उस तरह जैसे क्रियाएँ विभिन्न तरह की और टकराने वाली होती हैं या जैसे उचित उचित से संघर्ष कर सकता है। इस प्रसंग में यह बात अच्छी तरह कही जा सकती है कि हमलोग कार्नेली की परंपरा से जुड़े हैं।

इसलिये अब यह समझना आसान है कि हमलोग मनोविज्ञान के बारे में इतना अधिक आग्रह क्यों नहीं करते। हम लोग उस सही 'शब्द' की खोज में नहीं लगे हैं जो किसी भावावेग के रहस्य को सहसा प्रकट कर देगा, उस 'कार्य' की खोज में भी नहीं, जो प्रेक्षकों को सर्वाधिक जीवंत और अनिवार्य प्रतीत होगा। हमलोगों के लिये तो मनोविज्ञान सर्वाधिक अमूर्त विज्ञान है क्योंकि यह हमारे भावावेगों की क्रियाप्रणाली का अध्ययन उन्हें सच्चे मानवीय परिवेशों में पुनः वापिस रखे बिना ही करता है; यह भावावेगों का अध्ययन उनके धार्मिक और नैतिक समाज के प्रतिबन्धों और आदेशों, राष्ट्रों, वर्गों, अधिकारों, कामनाओं, और क्रियाओं के संघर्षों के बिना ही करता है। हमारे लिये मनुष्य अपने आपमें पूरी तरह से जोखिम है। और भावावेग उस जोखिम का एक अंश है।

इसी तरह हम त्रासदी की उस धारणा की ओर मुड़ते हैं जो यूनानियों के मन में थी। उनके लिए भाव भावावेग का साधारण तूफान मात्र नहीं था, जैसा कि हीगेल ने भी बताया है, बल्कि आधारभूत रूप से किसी अधिकार की नित्य-स्थापना था। सोफोक्लीज और एनुई के लिए क्रेयान की तानाशाही और एन्टीगोनी की जिद, कामू के लिए कैलीगुला का पागलपन, उन भावनाओं का रूपांतरण है जिनके मूलस्रोत हमारी गहराइयों में हैं; और साथ ही अमोघ कामना की ऐसी अभिव्यक्तियां भी हैं जो अधिकारों और मूल्यों की प्रणालियों की स्वीकृतियाँ हैं—उदाहरणार्थ, नागरिकता के अधिकार, परिवार का अधिकार, व्यक्तिगत नीतिशास्त्र, समुदायगत नीतिशास्त्र, हत्या का अधिकार, मानवों के समक्ष उनकी दयनीय स्थिति को व्यक्त करने का अधिकार, आदि-आदि। हम मनोविज्ञान का तिरस्कार नहीं करते, ऐसा करना तो मूर्खता है। हम जीवन का समन्वय करते हैं।

फ्रांस में पिछले पचास वर्षों में प्रबंधलेखन के सर्वाधिक प्रिय विषय में से एक को इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है : ला ब्रूयी के इस कथन की समीक्षा कीजिये : रासीं मनुष्य का चित्रण उसके यथार्थरूप में करता है, कार्नीले उसे जैसा होना चाहिए के रुप में करता है। हमारा विश्वास है, इस कथन को उलट देना चाहिए। रासीं मनोवैज्ञानिक मानव का चित्रण करता है। प्रेम, ईर्ष्या की यंत्रप्रणालियों का अध्ययन वह शुद्ध और अमूर्तरुप में करता है। अर्थात् उनके विकास की अनिवार्यता को वह नैतिक मान्यताओं और मानवीय कामनाओं द्वारा कभी प्रभावित होने नहीं देता। उसके नाटकीय चरित्र उसके मानस-प्रसूत जीव हैं, बौद्धिक विश्लेषण के निश्चित परिणाम। दूसरी ओर कार्नीले भावावेग की प्रत्येक गाँठ में इच्छा की स्थिति को दिखलाकर

मानव को उसकी संपूर्ण जटिलताओं के साथ, उसके पूर्ण यथार्थ में स्थित कर हमारे सामने उपस्थित करता है।

जिन युवा लेखकों की मैं चर्चा कर रहा हूँ, वे कार्नीले का पक्ष ग्रहण करते हैं। उनके मत से रंगमंच उतनी ही दूर तक मानव को उसकी पूर्णता के साथ उपस्थित करने में सक्षम हो सकता है जितनी दूर तक वह 'नैतिक' होने का इच्छुक होगा। इससे हमारा यह अर्थ नहीं है कि आचार-व्यवहार के नियमों को दिखलाने वाले या बच्चों को सिखाये जाने वाले व्यावहारिक नैतिकता के उदाहरणों को हम प्रस्तुत करें। बल्कि यह कि चरित्रों के संघर्ष के अध्ययन के स्थान पर अधिकारों के संघर्ष की प्रस्तुति प्रतिष्ठित की जानी चाहिये। स्तालिनवादियों और ट्राटस्की-वादियों के बीच चरित्र के विरोध का प्रश्न नहीं था। सन् १९३३ के नाजी विरोधियों और एस० एस० गार्ड के बीच हुए संघर्षों का कारण उनके चरित्रों में नहीं निहित था। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की कठिनाइयाँ हम लोगों का नेतृत्व करने वाले लोगों के चरित्रों से नहीं उत्पन्न होतीं। संयुक्तराज्य अमेरिका में होने वाली हड़तालें उद्योगपतियों और मजदूरों के बीच चरित्रों के संघर्ष को नहीं सूचित करतीं। इन सभी स्थितियो में, विभिन्न स्वार्थों के बावजूद, अंतिम विश्लेषण तक पहुँचने पर यही सिद्ध होता है कि मूल्यों, नैतिकताओं और मानव की अवधारणाओं की प्रणालियाँ ही एक दूसरे के विरुद्ध पंक्तिबद्ध खड़ी हैं।

इसलिए हमारा नया रंगमंच निश्चित रूप से अपने पुराने तथाकथित 'यथार्थवादी' रूप से अलग खिच आया है; क्योंकि यथार्थवाद ने ऐसे ही नाटक प्रस्तुत किये हैं जो पराजय, पूर्णउन्मुक्तता और मार्गभ्रष्टता की कहानियों से बने हैं। इसने हमेशा ही यह दिखाना पसंद किया है कि किस प्रकार वाह्य शक्तियाँ मानव को आघातों से तोड़ देती हैं, थोड़ा-थोड़ा करके उसे नष्ट कर डालती हैं, और अंततः उसे वायुध्वज के समान बना डालती हैं, जो हवा के प्रत्येक रुख-परिवर्तन के साथ मुड़ जाता है। किंतु हम अपने यथार्थवाद को ही सच्चा यथार्थवाद घोषित करते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि दैनंदिन जीवन में तथ्य और उचित, यथार्थ और आदर्श, मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र को अलगाना असंभव है।

यह नाट्य किसी एक 'स्थापना' को अपना समर्थन आधार नहीं प्रदान करता और किसी पूर्वकल्पित विचार से प्रेरित भी नहीं है। जो कुछ करना यह चाह रहा है, वह यही कि मानव की समग्रता में उसकी स्थिति का अन्वेषण करे और आधुनिक मानव के सामने उसकी खुद की तस्वीर, उसकी समस्याओं, उसकी आशाओं, उसके संघर्षों को प्रस्तुत करे। हमारा विश्वास है, हमारा रंगमंच तब अपने संकल्पित उद्देश्य के प्रति वंचक प्रमाणित होगा, जब वह खास व्यक्तित्वों का चित्रण करेगा, फिर

भले ही ये व्यक्तित्व किसी कंजूस, मानवद्रोही या प्रवंचितपति जैसे सार्विक वर्ग के ही क्यों न हों। क्योंकि यदि नाट्य समूह को संबोधित करना चाहता है तो उसे सर्वसामान्य की निरंतर समस्याओं की भाषा में बोलना चाहिये, उन मिथकों के रूप में उनकी चिंताओं को दूर करते हुए, जिन्हें कोई भी समझ और गहराई से अनुभव कर सकता है।

नाट्य का मेरा प्रथम अनुभव विशेष रूप से सौभाग्यपूर्ण था। सन् १९४० में जब मैं जर्मनी में बन्दी था, मैंने एक क्रिसमस नाटक लिखा, मंचन किया और उसमें अभिनय भी किया। इसमें साधारण प्रतीकों द्वारा जर्मनी के सेंसर की आँखों में धूल झोंककर अपने साथी बंदियों को संबोधित किया गया था। केवल ऊपरी रूप से बाइबिलीय लगने वाला यह नाटक एक कैदी द्वारा लिखा और प्रस्तुत किया गया था जिसमें कैदियों ने ही अभिनय और दृश्यसज्जा रंगने का भी काम किया था, यह पूर्ण रूप से कैदियों को ही संबोधित करके लिखा गया था (इतना अधिक कि मैंने तब से उसे अभिनीत करने तो क्या, छपने तक की भी अनुमति नहीं दी) और संबोधन भी ऐसे विषय को लेकर किया गया, जो कैदियों के रूप में ही उनकी रुचि के हो सकते थे। निस्संदेह न तो वह अच्छा नाटक था और न उसे खेला ही अच्छी तरह गया था। आलोचकों की दृष्टि में वह शौकिया लोगों का काम होता, एक विशिष्ट परिस्थिति की उपज मात्र। तब भी, इस मौकेपर, जब मैं तलबत्तियों (फुटलाइट्स) के पार बैठे अपने साथियों को संबोधित कर रहा था, कैदियों के रूप में उनकी स्थिति के विषय में उनसे बातें कर रहा था, सहसा मैंने लक्ष्य किया कि वे उल्लेखनीय रूप से मौन और ध्यानमग्न हैं। तब मैंने अनुभव किया कि रंगमंच को एक महान् सामुदायिक और धार्मिक प्रक्रिया बनाना चाहिये।

निश्चय ही उस स्थिति में विशिष्ट परिस्थितियों ने मेरे अनुकूल प्रतिक्रियाएँ दी थीं। रोज-रोज तो यह बात नहीं हो सकती कि बहुत बड़ी हानि या आशा के एक बड़े सामान्य स्वार्थ से बँधी जनता आप तक खिंच आये। नियम तो यह है कि प्रेक्षक समूह अत्यंत विभिन्न प्रकार के तत्वों से बना होता है। किसी बहुत बड़े व्यापारी की बगल में पर्यटकविक्रेता या प्राध्यापक बैठा होता है। किसी महिला की बगल में कोई पुरुष बैठा होता है। और सब अपने-अपने विशिष्ट पूर्वपरिवेश में डूबे रहते हैं। तब भी यह स्थिति नाटककार के लिए एक चुनौती है। उसे अपने प्रेक्षक समाज का निर्माण करना पड़ता है, उसे प्रेक्षक समूह की भावनाओं के अंतराल में उन चीजों को जगाकर जिन्हें उस युग और समुदाय के सभी व्यक्ति महत्व देते हैं, प्रेक्षागार के विभिन्न तत्वों को समन्वित कर एक इकाई के रूप में ढालना पड़ता है।

इसका मतलब यह नहीं कि हमारे लेखकगण प्रतीकों का उपयोग इसलिए करना चाहते हैं कि प्रतीक ऐसे यथार्थ की परोक्ष या काव्यात्मक अभिव्यक्ति हैं, जिसे लोग

प्रत्यक्ष रूप में या तो ग्रहण कर नहीं सकेंगे या करना चाहेंगे नहीं। हम लोग आज 'प्रसन्नता' को उस प्रकार तुरत हाथ से निकल जाने वाले नीलपंछी की तरह प्रस्तुत करने में, जिस प्रकार मैतरलिंक ने किया था, गहरी अरुचि का अनुभव करेंगे। बच्चों के उस तरह के खिलवाड़ के लायक हमारा यह युग उतना मधुर नहीं रह गया है। तब भी यदि हम प्रतीकों के रंगमंच को अस्वीकृत कर देते हैं तो हम अपना रंगमंच मिथकों का बनाना चाहते हैं, हम जनता को मृत्यु, निर्वासन, और प्रणय के महान मिथक दिखलाना चाहते हैं। अल्वेयर कामू के 'गलतफहमी' के पात्र प्रतीक नहीं हैं। वे हाड़मांस के बने हैं। 'कोई' मां, 'कोई' लड़की, 'कोई' पुत्र जो लंबी यात्रा से लौटकर आता है। उनकी त्रासदीय अनुभूतियां अपने आप में पूर्ण हैं। तब भी वे इस अर्थ में मिथकीय हैं कि वह गलतफहमी जो इन्हें अलग कर देती है, उन समस्त गलतफहमियों का पुंजीभूत रूप बन जाती है जो मनुष्य को अपने आप से, दुनियाँ से, दूसरे मनुष्यों से अलग कर देती है।

इस संबंध में फ्रांस की जनता कोई गलती नहीं करती। कुछ नाटकों द्वारा उठाई गई बहसों द्वारा यह प्रमाणित भी हो चुका है। उदाहरण के लिए, बेकार के मुख' की आलोचना नाटक की उस कहानी की बहस तक ही सीमित नहीं थी जो मध्ययुगों में प्रायः होने वाली वास्तविक घटनाओं पर आधारित थी। इस आलोचना ने नाटक में निहित तानाशाही प्रक्रियाओं की अभिशप्तता को भी पहचाना। दूसरी ओर साम्यवादियों ने इसमें अपनी ही प्रक्रियाओं की अभिशप्तता देखी। अतः उन्होंने अपने समाचारपत्रों में लिखा, 'निष्कर्ष को पेटी बुर्जुआ आदर्शवाद की भाषा में बैठाया गया है।' नगर को बचाने के लिये सभी बेकार के मुखों का बलिदान कर देना चाहिए था। अपने 'अन्तिगोनी' द्वारा एनुई ने भी बहस का एक तूफान खड़ा कर दिया था। उस पर एक ओर तो नाजी होने का आरोप किया गया था, दूसरी ओर अराजकतावादी होने का। इस प्रकार की तीव्र प्रतिक्रियाएँ प्रमाणित करती हैं कि हमारे नाटक जनता को ठीक वहीं छू रहे हैं जहाँ छूना महत्वपूर्ण है। तब भी ये नाटक रूखे-कड़ुए हैं। शुरू करने के तौर पर हम कह सकते हैं, चूंकि स्थिति वही होती है जिसकी हम सबसे ज्यादा परवाह करते हैं, हमारा रंगमंच उसे ठीक उसी बिन्दु से दिखाता है जहाँ वह चरमावस्था पर पहुँचने को होती है। हम विद्वत्तापूर्ण अन्वेषण में समय नहीं लगाते, किसी चरित्र अथवा संविधानक के अलक्ष्य विकासक्रम को पंजीकृत करने की कोई आवश्यकता हम अनुभव नहीं करते। क्रम-क्रम से कोई मृत्यु तक नहीं पहुंचता, उसे इसका साक्षात्कार सहसा करना पड़ता है—अथवा यदि कोई राजनीति या प्रणय तक मंदक्रम से पहुंचता भी है, तब भी, तीखी समस्याएँ, जो सहसा उठ खड़ी होती हैं, विकास के लिये ठहरती नहीं। अपने नाटकीय पात्रों को, बिल्कुल पहले ही दृश्य में, उनके संघर्षों के

उच्चतम स्तर की ओर तीव्रता से गतिशील करते हुए हम उस कालजयी त्रासदी के प्रसिद्ध ढंग की ओर झुक जाते हैं, जो हमेशा क्रिया को ठीक उसी क्षण पकड़ती है जब वह संकट की ओर बढ़ने लगती है।

हमारे नाटक आक्रामक और संक्षिप्त होते हैं। एक अकेली घटना के चतुर्दिक केन्द्रित अभिनेता कम होते हैं, और कहानी लघु काल-सीमा में संश्लिष्ट होती है। यह सीमा कभी-कभी कुछ ही घंटों की होती है। परिणामस्वरूप ये नाटक एक प्रकार के 'संकलनत्रय के नियम' का पालन करते हैं, जो तनिक संशोधित और पुनर्यौवनीकृत कर दिया गया है। केवल एक दृश्यपीठ, थोड़े से प्रवेश, थोड़े से प्रस्थान, चीजों के बीच सघन तर्क-वितर्क जो अपने व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा भावावेग के साथ करते हैं। यही वह चीज है, जो हमारे नाटकों को ब्राडवे के चमत्कारी कल्पनालोक से अलग कर देती है। तब भी उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनकी सघनता और रूखाई पेरिस में उनके अभिशंसन को बाधित नहीं करती। न्यूयार्क भी उन्हें पसन्द कर सकेगा ? यह प्रश्न है।

चूंकि हमारे नाटककारों का उद्देश्य मिथक गढ़ना है, प्रेक्षकों के अपने पीड़ा-भोग के विस्तारकृत और सघनीकृत बिम्ब को उन तक पहुँचाने के लिये प्रदर्शित करना है; वे यथार्थवादियों की सतत पूर्वव्यस्तता से मुँह मोड़ लेते हैं। जिसका अर्थ है, जहाँ तक संभव हो सके, उस दूरी को कम करना जो दर्शक को भव्य दृश्य के कारण अलग करती है। सन् १९४२ ई० में 'टेमिंग आव द श्रियु' की गैस्टन बेटी द्वारा की गई प्रस्तुति में मंच से प्रेक्षागार की ओर जाती हुई सीढ़ियाँ बनाई गई थीं जिससे कुछ चरित्र नीचे आर्केस्ट्रा में बैठे दर्शकों के बीच पहुँच सकें। हमलोग इस प्रकार की पद्धतियों और धारणाओं से बहुत दूर हैं। हमलोगों के मतानुसार नाटक बहुत अधिक 'परिचित' नहीं प्रतीत होना चाहिये। नाटक की महानता उसके सामाजिक, और एक विशेष अर्थ में, उसके धार्मिक कार्यों से प्राप्त होती है। इसे कर्मकांड बने ही रहना चाहिए। यहाँ तक कि यदि यह दर्शकों से उनके ही बारे में कुछ कहे तो वह कुछ ऐसे स्वर में, कुछ ऐसी सतत संयत भंगिमा के साथ कहे कि परिचिति की भावना बढ़ना तो अलग, नाटक और प्रेक्षकसमाज की दूरी ही बढ़े।

इसलिये हमारी एक समस्या संवाद की एक शैली का अन्वेषण भी रही है जो, बिल्कुल सादी और हर एक की जीभ पर चढ़े शब्दों से निर्मित होने के बावजूद हमारी भाषा के प्राचीन गौरव के कुछ तत्वों को संजोये हो। हम सबने अपने नाटकों से विषयान्तर और बंधे-बंधाये भाषणों को अलग कर दिया है। यह सब ढीलीढाली बातें भाषा को निम्नस्तरीय बना देती हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम प्राचीन त्रासदियों के साजसंभार के कुछ अंश पुनः प्राप्त कर सकेंगे, यदि हम शब्दों की अत्यंत कठोर मितव्ययिता का अभ्यास करें। जहाँ तक मेरा संबंध है, अपने नवीनतम

नाटक 'मौत दफन के बिना' में मैंने वाक्यखंडों की परिचित भंगिमा, कसम के शब्द तक के व्यवहार से अपने को वंचित नहीं किया—जब कभी मैंने उन्हें किन्हीं चरित्रों के लिये बिल्कुल प्रासंगिक समझा। किंतु संवाद की गति द्वारा कथन की आत्यंतिक संक्षिप्ति भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न मैंने किया—जिनमें छूट, आकस्मिक हस्तक्षेप, और वाक्यखंडों में एक प्रकार का आंतरिक तनाव जो उन्हें रोजमर्रा की बातचीत की ध्वनि से तुरंत अलग कर देती है, भी शामिल थे। कैलीगुला में कामू की शैली प्रकार में भिन्न है, किंतु यह भव्यरूप से गंभीर और कसी हुई है। सिमोनी दे ब्यूवो की भाषा इतनी निरावृत है कि कभी-कभी उस पर रूखेपन का आरोप भी किया जाता है।

नाटक, जो संक्षिप्त और आक्रामक हैं, जो कभी-कभी एक ही लंबे अंक तक सीमित होते हैं (एन्टीगान डेढ़ घंटे तक चलता है, मेरा अपना नाटक 'नर्क' मध्यांतर के बिना एक घंटा बीस मिनट तक चलता है), नाटक जो एक ही घटना पर पूर्णतया केंद्रित हैं—जिसमें प्रायः किसी अति सामान्य स्थिति पर आधारित अधिकारों का संघर्ष होता—जो विरल और अत्यंत तनावपूर्ण शैली में लिखे गये होते हैं, जिनमें पात्र बहुत थोड़े होते हैं, और वे अपने व्यक्तिगत चरित्रों के लिए नहीं प्रस्तुत किये जाते बल्कि ऐसी द्विधामूलक स्थिति में झोंक दिये जाते हैं जहाँ वे चुन लेने के लिए विवश हो जाते हैं। संक्षेप में यही वह रंगमंच है—अपने पहलुओं में कठोर, नैतिक, मिथकीय और धर्मोत्सवपरक, जिसने नाजी अधिकार और विशेष रूप से युद्धोपरांत के पेरिस में नवीन नाटकों को जन्म दिया है। वे ऐसी जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल हैं जो थकी हुई किंतु तनावपूर्ण है। जिसके लिये मुक्ति का अर्थ समृद्धि की ओर वापिसी नहीं हो सका है और जो केवल अति मितव्ययिता के साथ रहकर ही जीवन बिता सकती है।

इन नाटकों की कठोरता फ्रांसीसी जीवन की कठोरता के ही अनुकूल है। उनके नैतिक और आधिभौतिक विषय एक ऐसे राष्ट्र की चिंतन-व्यस्तता प्रतिबिंबित करते हैं, जिसे एक साथ ही पुनर्निर्माण और पुनर्सर्जन करना है और जो नये सिद्धांतों की खोज कर रहा है। क्या वे स्थानीय परिस्थितियों के उत्पादन मात्र हैं या उनके रूप की कठोरता ही उन्हें अधिक सौभाग्यशाली देशों की व्यापक जनता तक पहुँचाने में सहायक हो सकती है? किसी दूसरी जगह इसे स्थापित करने का प्रयत्न करने से पहले हमें अपने आप से यह प्रश्न निःसंकोच रूप से पूछना चाहिए।

●

नाटच का अनुभव

यूजीन आयोनेस्को

जब मुझसे यह प्रश्न पूछा जाता है, "तुम नाटक क्यों लिखते हो ?" तब हमेशा मैं बहुत अजीब सा अनुभव करता हूँ और समझ नहीं पाता कि क्या उत्तर दूँ। कभी कभी मुझे ऐसा लगता है कि मैंने रंगमंच के लिये लिखना शुरू किया, क्योंकि मैं इससे घृणा करता था। साहित्य और निबंधों को पढ़ने में मुझे मजा आता था और फिल्में देखने भी जाया करता था। कभी कभी संगीत सुन लिया करता था और चित्र-दीर्घाओं (आर्ट गैलेरीज) में भी चला जाया करता था, लेकिन रंगशाला में मैं शायद कभी नहीं गया।

कभी मैं गया भी तो वह बिल्कुल आकस्मिक था, किसी का साथ देने के लिये, या किसी निमंत्रण को अस्वीकार करने की अपनी असमर्थता के कारण, अथवा मुझे जाना ही पड़ता था इसलिये।

इसने मुझे कोई आनंद या सहभोक्ता होने का अनुभव नहीं दिया। अभिनय मुझे परेशान करता था। अभिनेताओं के लिये मैं परेशान हो उठता था। स्थितियाँ मुझे बिल्कुल यों ही सी मालूम होती थीं। मुझे लगता था इन सब में कुछ छद्म या धोखा जैसा है।

रंगमंचीय प्रस्तुतीकरणों में मेरे लिये कोई जादू नहीं था। हर चीज मुझे कुछ हास्यास्पद सी, कुछ पीड़ाजनक सी लगती थी। उदाहरण के लिये यह मेरी समझ के बिल्कुल बाहर था कि अभिनेता बनने का स्वप्न कोई कैसे देख सकता है। मुझे ऐसा लगता था कि अभिनेता कुछ ऐसा कर रहे हैं जो अस्वीकार्य और वर्जित सा है। उन्होंने अपना व्यक्तित्व त्याग दिया, अपने आपको अस्वीकार कर दिया, अपनी चमड़ी ही बदल डाली। कोई और होना वे स्वीकार कैसे कर सके और अपने से भिन्न चरित्र को वे पहन कैसे सके ? मेरे लिये तो यह अभद्र चाल थी—साफ दिखाई पड़ने वाली और अकल्पनीय।

साथ ही अभिनेता कोई बिल्कुल दूसरा बन भी नहीं पाता। वह तो बस छल करता है जिसे मैं और भी खराब समझता था। मुझे यह आपत्तिजनक और एक प्रकार से बेइमानी भरा भी लगता था। "कितना अच्छा अभिनेता है !" दर्शक कहा करते। मेरी दृष्टि में वह खराब अभिनेता था और अभिनय खराब चीज थी।

मेरे लिये सार्वजनिक नाटकों में जाना, बाह्यतः गम्भीर लोगों द्वारा सार्वजनिक रूप से किये गये आत्मप्रदर्शनों को देखने जाने के बराबर था। और तब भी मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो बिल्कुल यथातथ्यवादी किस्म के होते हैं। मैं काल्पनिक जगत का विरोधी नहीं हूँ। उलटे मैं तो हमेशा यह सोचता रहा हूँ कि 'काल्पनिक सत्य' दैनिक जीवन के यथार्थ की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा और महत्वशीलता से भरा होता है।

यथार्थवाद–चाहे वह सामाजिक हो अथवा नहीं–यथार्थ को भेदकर कभी नहीं देख पाता। वह इसे संकीर्ण कर डालता है, इसे छोटा कर देता है, इसे झूठ बना देता है और प्रेम, मृत्यु, एवं आश्चर्य जैसे हमारे लिये सर्वाधिक आधारभूत महत्व के ग्रसनशील सत्यों को अनछुआ ही छोड़ देता है। यह मानव को एक ऐसे परिप्रेक्ष्य से प्रस्तुत करता है जो संकीर्ण और अजनबी है। सत्य हमारी कल्पनाओं, हमारे स्वप्नों में निहित रहता है। हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण इस कथन की ताईद करता है। कल्पना विज्ञान की पूर्वगामिनी है। हर एक चीज जिसका हम सपना देखते हैं, मेरा मतलब है हमारी कामना की प्रत्येक वस्तु, सच है (उड्डयन के पूर्व आइकैरस का मिथक अस्तित्व में आ चुका था और यदि एडर और ब्लेरियट ने उड़ना शुरू किया तो इसलिये कि सभी आदमियों ने उड़ने का स्वप्न देखा था)। मिथक से अधिक सच्ची और कोई चीज नहीं है। मिथक से सत्योपलब्ध करने के प्रयत्न में इतिहास उसे विकृत कर देता है, आधे रास्ते में ही रोक देता है। जब इतिहास सफल होने का दावा करता है, तब वह निरर्थकता तथा रहस्यीकरण के सिवा और कुछ नहीं होता। वह हर चीज, जिसका हम सपना देखते हैं, उपलब्ध की जा सकती है। यथार्थ को आगे कुछ होना नहीं, वहाँ तो बस जो है, है। यह स्वप्नद्रष्टा, चिंतक या वैज्ञानिक ही है जो क्रांतिकारी बनता है; संसार को बदलने की कोशिश करने वाले ये ही हैं।

उपन्यास के काल्पनिक तत्व ने मुझे जरा भी परेशान नहीं किया और सिनेमा में भी मैंने इसे स्वीकार कर लिया। कल्पना में निहित शक्तिशाली यथार्थ में मैं उसी सहजता के साथ विश्वास कर सकता हूँ जिस प्रकार मैं अपने स्वप्नों में विश्वास करता हूँ। फिल्म का अभिनय मुझ में उस प्रकार की अव्याख्येय रुग्णता की भावना, वह परेशानी नहीं भरता था जिस प्रकार रंगमंच का अभिनय।

रंगमंचीय यथार्थ के सत्य को मैं क्यों नहीं स्वीकार कर सका? यह मुझे झूठा क्यों प्रतीत हुआ? और क्यों झूठ मेरे सामने सच्चाई का आग्रह करता आया और सत्य का स्थान लेता प्रतीत हुआ? क्या यह अभिनेताओं की गलती थी? नाट्यरचना की गलती थी? या मेरी अपनी ही गलती थी? अब मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि रंगशाला में जो चीज मुझे परेशान करती थी वह रंगमंच पर चरित्रों की रक्तमांस युक्त सदेह उपस्थिति थी। उनकी सशरीर उपस्थिति काल्पनिक भ्रम को खंडित कर देती थी। ऐसा लगता था मानो यथार्थ के दो धरातल हों। मंच पर घूमते, बोलते, जीवनयापन करते इन साधारण मानवों का ठोस, सशरीर, अकिंचन, रीता और सीमित यथार्थ और आमने-सामने एक दूसरे पर छाता हुआ, समझौताहीन कल्पना का यथार्थ, दो ऐसे परस्पर विरोधी जगत जो समीप आकर एकीकृत होने में असफल हों।

हाँ यही बात थी। प्रत्येक मुद्रा, प्रत्येक भावस्थिति, मंच पर बोला गया प्रत्येक संवाद मेरे लिये उस जगत को विनष्ट कर देता था जिसकी सृष्टि के लिये ही ये मुद्राएँ, भावस्थितियाँ और संवाद निर्मित और अभिप्रेत थे, बल्कि सृष्टि के पहले ही उसे ध्वस्त कर देते थे। मुझे तो यह बिल्कुल गर्भपात, सांघातिक गलती, निरी मूर्खता प्रतीत होता था। यदि आप किसी नृत्य के साथ बजाए जाने वाले वाद्यवृंद को न सुनने के लिए कानों को अंगुलियों से बंद कर लें किंतु नृत्य देखते जाएँ तो वह कितना हास्यास्पद लगेगा, नर्तकों की गतियाँ कितनी स्वप्निल लगेंगी। इसी प्रकार यदि कोई किसी धार्मिक कर्मकांड के अवसर पर पहली बार उपस्थित हो तो उसे सारा धार्मिक उत्सव बेमानी और निरर्थक सा लगेगा।

आप जिसे शायद अपावन भावना कहेंगे उसी के वशीभूत होकर मैं कभी कभी रंगशाला में चला जाया करता था, और इसी कारण मैं इसे पसंद नहीं कर सका, इसके अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं दे सका, इसमें विश्वास नहीं कर सका।

उपन्यास में आप से कोई कहानी कही जाती है। इससे कुछ नहीं होता कि वह गढ़ी हुई है या नहीं। इसपर विश्वास करने से कोई चीज आपको रोकती नहीं। फिलम में काल्पनिक कथा दिखाई जाती है। यह तसवीरों से बना उपन्यास है, चित्रित उपन्यास। अतः फिलम भी कहानी कहती है। निश्चय ही यह तथ्य कि यह दृश्य है, स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं लाता और तब भी आप उसमें विश्वास कर सकते हैं। संगीत स्वरों का सम्मेलन है, स्वरों से बनी कहानी है, ध्वनिक्षेत्र में नव-साहस-यात्रा है। चित्र आकारों, रंगों और धरातलों का संघटन या असंघटन है, और विश्वास अविश्वास का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। प्रमाण रूप में वह स्वयं उपस्थित है। आवश्यक केवल यह है कि ये विविध तत्व चित्रात्मक अभिव्यक्ति और संरचना की कठोर माँगों को पूरा करें। उपन्यास, संगीत और चित्र शुद्ध रूप से संघटनात्मक विधाएँ हैं जिनमें कोई बाहरी तत्व नहीं रहता। यही कारण है कि वे अकेले खड़े हो सकते हैं। उन्हें स्वीकृति मिल जाती है। सिनेमा तक भी स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि यह चित्रों का अनुक्रम है जिसका अर्थ है कि यह मिलावटहीन है। जब कि रंगमंच तात्विक रूप से मुझे मिलावटी प्रतीत होता था। काल्पनिक तत्व के साथ दूसरे तत्व भी मिले थे जो उसके लिये विजातीय थे। यह अपूर्णरूप से काल्पनिक था। हाँ, बिल्कुल कच्चामाल था जो अभी तक उस रूपांतर या परिवर्तन से नहीं गुजरा था जो अपरिहार्य है। संक्षेप में रंगमंच से संबंधित हर चीज मुझे कुपित कर देती थी। उदाहरण के लिये, जब कभी मैं अभिनेताओं को अपनी भूमिकाओं के साथ पूर्णरूप से तादत्मीकरण करते और उन्हें रंगमंच पर सच्चे आँसू बहाते देखता तो यह मुझे निश्चित रूप से अभद्र और असहनीय लगता।

दूसरी ओर, जब मैं ऐसे अभिनेता को देखता जो अपनी भूमिका पर पूरा नियंत्रण रखता, चरित्र से बाहर रहता, उसपर अधिकार रखता, उससे असंपृक्त रहता, जैसा कि दिदरो और जूभ और पिस्केटर तथा उसके बाद ब्रेश्ट सभी चाहते थे, तब भी वैसे ही असंतुष्ट रहता। यह भी मुझे सच और झूठ का अग्राह्य मिश्रण प्रतीत होता क्योंकि मैं एक ऐसे यथार्थ के तात्विक रूपांतरण या स्थानांतरण की आवश्यकता का अनुभव करता था जिसे केवल कल्पना या कलात्मक सर्जन ही और भी अधिक अर्थपूर्ण, सघनतर, अधिक 'सत्य' बना सकता है। कि यथार्थवाद के उपदेश-सिद्धांत बस बोझिल बनाते हैं, अकिंचन बनाते हैं, और दूसरे दर्जे के आदर्श तक ले आते हैं। मैं मंच-अभिनेताओं, सितारों को कभी पसंद नहीं कर पाता था क्योंकि मेरी दृष्टि में वे अराजकता के सिद्धांत प्रस्तुत करते थे—अपने लाभ के लिए वे रंगमंच की संघटित एकता को तोड़कर नष्ट कर डालते थे, लोगों के सारे ध्यान को अपनी ही ओर आकर्षित करके वे नाटक के तत्वों की समन्वित एकात्मता को क्षतिग्रस्त कर देते थे। किन्तु पिस्केटर या उसके शिष्य ब्रेश्ट ने अभिनेता के अमानवीकरण का जो अभ्यास शुरू किया उससे भावोत्तेजना, सहयोगिता या व्यक्तिगत नई सूझों का मार्ग बंद हो गया। ये नाटक के शतरंज में अभिनेता को मात्र पैदल बना कर छोड़ देते थे। इस बार यह सब प्रस्तुतीकरण को लाभान्वित करने के लिए किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि अब सारा ध्यान इसी ने अपनी ओर खींच लिया। संघटित एकात्मता को दी गई यह प्रमुखता भी मुझे उसी प्रकार कुपित कर देती थी और मुझमें अक्षरशः यह अनुभूति जागती थी कि किसी चीज का गला घोंटा जा रहा है। अभिनेता के प्रेरक उपक्रम को कुचल देना, अभिनेता की हत्याकर देना, जीवन और नाटक दोनों की हत्या कर देना है।

बाद में, यों कहें कि अभी हाल ही में, मैंने अनुभव किया कि ज्यां विलार अपने प्रस्तुतीकरणों में आवश्यक संतुलन को पकड़ सका है; अभिनेता का अमानवीकरण किये बिना ही रंगमंच पर समन्वय की आवश्यकता का आदर कर सका है; और इस प्रकार नाटक को उसकी एकात्मता तथा अभिनेता को उसकी स्वतंत्रता उसने पुनः प्रदान की है। उसने ओडियन शैली, और ब्रेश्ट या पिस्केटर मार्का अनुशासन के बीच का रास्ता पकड़ा। तब भी विलार के लिये यह रंगमंचीय सिद्धांतों की अभिव्यक्ति अथवा कठोर सिद्धांतवादिता नहीं है। यह तो पटुता और रंगमंच की सहज चेतना का प्रश्न है।

किंतु अब भी मैं यह नहीं समझ सका कि अभिनीत नाटक की 'अशुद्धता' की मेरी चेतना से उत्पन्न रुग्णता की निश्चित अनुभूति से अपना पीछा कैसे छुड़ाऊं। मैं किसी भी प्रकार अनुकूल रंगदर्शक नहीं कहा जा सकता था। बल्कि इसके विपरीत

विरोधी, शिकायती और सदा असंतुष्ट रहा। क्या यह सब केवल मेरी अपनी कुछ कमी का नतीजा था? अथवा रंगमंच में ही कहीं कोई कमी थी?

मैं तो उन नाटकों से भी असंतुष्ट था जिन्हें किसी प्रकार पढ़ सका था। उन सभी से तो नहीं क्योंकि सोफोक्लीज, एस्काइलस अथवा शेक्सपीयर के गुणों के प्रति मैं अंधा नहीं था। कुछ बाद में क्लीस्ट और बूश्नर की कुछ कृतियाँ भी मुझे अच्छी लगीं। क्यों? इसलिये कि मैं सोचता था, ये सब नाटक अपने उन साहित्यिक गुणों के कारण ही असाधारण रूप से सुपाठ्य हैं जिनका रंगमंचीय विशिष्टता से भले ही कोई संबंध न हो। किसी भी स्थिति में शेक्सपीयर और क्लीस्ट के बाद मैं समझता हूँ मुझे और कोई नाटक पढ़ने में मजा न आ सका। स्ट्रिंडवर्ग मुझे अस्पष्ट और अपर्याप्त लगता था। मोलिएर तक से मैं ऊब उठता था। कंजूसों, पाखंडियों और बदचलनों की उन कहानियों में मुझे कोई रुचि नहीं थी। उसके अदार्शनिक मस्तिष्क से मुझे घृणा सी थी। शेक्सपीयर ने मनुष्य की संपूर्ण स्थिति और उसकी नियति के संबंधमें प्रश्न उठाए हैं। आगे चल कर मोलिएर की छोटी-छोटी समस्याएँ मुझे सापेक्ष रूप से कम महत्व की लगीं। निश्चय ही कभी कभी वे कुछ अवसादपूर्ण हो उठती थीं, नाटकीय भी थीं, किंतु त्रासदीय कभी नहीं हो सकीं, क्योंकि वे सुलझायी जा सकती थीं। समानता की असहनीय स्वीकृतियाँ, और केवल असहनीय ही गहराई के साथ त्रासदीय हो सकता है, गहराई के साथ कामदी और तात्विक रूप से रंगमंचीय हो सकता है। दूसरी ओर प्रस्तुतीकरण की स्थितियों में शेक्सपीयर के नाटकों की महानता मुझे मंद होती प्रतीत हुई। हैमलेट, ओथेलो, जूलियस सीजर आदि के अध्ययन के समय जिस प्रकार मेरी कल्पना वशीभूत हो जाती थी उस प्रकार शेक्सपीयर का कोई प्रस्तुतीकरण मुझे वशीभूत न कर सका। चूंकि मैं रंगशाला में कभी कदाच ही जा पाता था, संभवतः इसलिये मैं शेक्सपीयर के नाटकों का कोई सर्वोत्तम प्रस्तुतीकरण कभी न देख सका। जो भी हो, प्रस्तुतीकरण में मुझपर ऐसा प्रभाव पड़ता था कि असहनीय को सहनीय बना दिया गया है। तीखे दर्द को पालतू बना दिया गया है।

अतः सचमुच मैं कोई भावप्रवण रंगदर्शक नहीं हूँ और नाटचविद् तो बिल्कुल ही नहीं। मैं सचमुच रंगमंच से घृणा करता था। यह मुझे उबा देता था। और तब भी............मुझे अभी तक याद है, जब मैं बालक था तो मेरी माँ लक्जेमबोर्ग गार्डेन्स में होने वाले पंच और जूडी के खेलों से मुझे किसी प्रकार घसीट कर नहीं ले जा पाती थीं। मैं वहाँ रोज रोज जाता, और मंत्रमुग्ध सा दिनभर वहीं रहता। लेकिन मैं हंसता नहीं था। कठपुतलियों को बातें करते, चलते फिरते और डंडे से एक दूसरे को पीटते देखते हुए पंच और जूडी के प्रदर्शनों में मैं मुँह बाये रहता। मुझे तो यह दुनियाँ का सही बिंब प्रतीत होता था—अपरिचित—अनोखा

और असंभाव्य, किंतु सत्यता से भी अधिक सत्य। कैरीकेचर के रूप में गहराई के साथ सरलीकृत। मानों सत्य की जंगली और ऊलजलूल प्रकृति पर बल देने के लिये ही ऐसा किया गया हो। और तब से पंद्रह वर्ष की अवस्था तक किसी भी प्रकार का नाटक मुझमें समसनी पैदा कर देता और अनुभव कराता कि दुनियाँ बड़ी अपरिचित, अनोखी है। यह भावना मुझमें इतनी गहरी जड़ें जमा गई कि मैं इससे कभी मुक्त न हो सका। प्रत्येक सजीव प्रदर्शन मुझमें दुनियां के अपरिचित अनोखेपन की यह भावना जगा देता और यह भावना मुझे रंगशाला में जितनी प्रभावित करती उतनी और कहीं नहीं। और तब भी जब मैं तेरह वर्ष का था, मैंने एक नाटक लिखा था, यह मेरी पहली रचना थी और इसमें कहीं कुछ अनोखा-अपरिचित नहीं था। यह देशभक्ति का नाटक था। चढ़ती हुई जवानी में कोई कुछ भी कर सकता है।

रंगमंच को पसंद करना मैंने बंद कब किया ? उस क्षण से जब से दृष्टि के निर्मल होने और तर्कशील मन के विकास के कारण रंगमंचीय चालों और स्पष्ट नाटकीय युक्तियों के प्रति सचेत हो गया। मतलब यह कि जब से मेरा भोलाभालापन खत्म हुआ। रंगमंच के वे देवता कहाँ हैं जो हमारे खोये हुए भोलेभालेपन को वापस दे दें। हमें अपने जादू में बाँधने की रंगमंच की चुनौती को कौन सा संभव मंत्र साकार कर सकता है ? अब तो मंत्र नहीं हैं। कोई चीज पवित्र नहीं रह गई है। कोई ऐसा उपयुक्त कारण नहीं दीखता जिससे यह हमें पुनः प्राप्त हो सके।

साथ ही, रंगमंच के लिये लिखने से अधिक कठिन काम कोई दूसरा नहीं। उपन्यास और कविताएँ काफी समय तक चल जाती हैं। शताब्दियों के गुजर जाने के बाद भी उनका प्रभाव भोथरा नहीं होता। उन्नीसवीं, अठारहवीं, और सत्रहवीं शताब्दियों की बहुत सी गौण कृतियों में हम अब भी रुचि लेते हैं। और क्या इससे भी अधिक पुरानी कितनी ही कृतियों में हमें अब भी आनंद नहीं आता ? चित्रकृतियाँ और संगीत कालगत अंतर का अवरोध करते हैं। असंख्य गिरजाघरों पर लगी हुई अत्यंत गौण महत्व की भी मस्तक-मूर्तियों की प्रभावी सादगी अब भी ताजी और सजीव बनी है—ज्यों की त्यों। अत्यंत सुदूरकालवर्ती सभ्यताओं के महान स्मारकों के उन स्थापत्यकलागत लयों से हम बराबर प्रभावित होते जायेंगे जो स्पष्ट और उद्घाटक भाषा में हमसे प्रत्यक्ष बातें करती हैं। किंतु रंगमंच की स्थिति क्या है ?

आज कुछ लोगों का आरोप है, रंगमंच समकालीन जीवन से जुड़ा हुआ नहीं है। मेरी दृष्टि में तो यह बहुत अधिक जुड़ा हुआ है। इसी कारण तो यह इतना कमजोर और क्षणभंगुर हो गया है। मेरा तात्पर्य है, रंगमंच अपने समकालीन जीवन से संबंध रखता तो है किंतु बिल्कुल पर्याप्त रूप से नहीं। प्रत्येक युग को इस बात की आवश्यकता होती है कि युग से 'परे' की असंप्रेषणीय कुछ चीज युगीन और संप्रेषणीय के साथ मिला दी जाय। संभवतः प्रत्येक चीज इतिहास का कोई परि-

सीमित क्षण है। किंतु इतिहास के प्रत्येक क्षण में पूरा इतिहास भरा रहता है। इतिहास का वह कोई भी क्षण विहित है, जो इतिहास का अतिक्रमण करता है। विशिष्ट में सार्वजनीन निहित रहता है।

बहुत से लेखकों द्वारा चुनी गई वस्तुएँ (थीम्स) बस किसी वैचारिक फैशन मात्र से उद्भूत होती हैं, जो संबद्ध युग की अपेक्षाओं की तुलना में बहुत कम होती हैं। अथवा ये वस्तुएँ किसी विशिष्ट राजनीतिक सम्मान की अभिव्यक्ति होती हैं। और जो नाटक इनका चित्रण करते हैं, इन विचारधाराओं की मृत्यु के साथ वे भी मर जायेंगे क्योंकि विचारधाराओं का फैशन तो बदलता ही रहता है। कोई ईसाई मकबरा, कोई यूनानी अथवा 'एट्रुस्कनस्टील', परिश्रमपूर्वक लिखे गये उन नाटकों की अपेक्षा हमें मनुष्य की नियति के संबंध में अधिक बताता है और प्रभावित करता है जिनका निर्माण एक ऐसी विचारधारा की सेवा के लिए, एक ऐसी भाषा में हुआ था, जो उनके अपनेपन से अलग थी।

यह सच है कि सभी लेखकों ने प्रचार करने की कोशिश की है। इनमें महान वे हैं जो असफल हुए हैं, जिन्होंने सचेतन अथवा अचेतन रूप से अधिक गहरे और अधिक सार्वभौम यथार्थ में प्रवेशलाभ किया है। नाटक से अधिक खतरनाक कोई चीज नहीं। एक छोटी सी अवधि तक वह अपनी स्थिति बनाये रख सकता है किंतु शीघ्र ही यह बिखर जाता है; तब रचना-युक्तियों के अलावा और कुछ व्यक्त नहीं होता।

ईमानदारी की बात, कार्नीले से मैं अब ऊबता हूँ। शायद हम उसे आदतन पसंद करते हैं (उसमें बिना विश्वास किये ही)। इससे हम बच नहीं सकते। पाठशाला में यह हम पर लाद दिया गया है। मैं शिलर को असहनीय पाता हूँ। बहुत पहले से ही मारिवा के नाटक मुझे बेकार की छोटी कामदियाँ लगते रहे हैं। मुसे की कृतियाँ हल्की हैं और विग्नी की अनभिनेय। विक्तर ह्यूगो के खूनखराबी वाले नाटकों से हमें हँसी छूटने लगती है जबकि लैबिशे के अधिकांश मजाकिया नाटकों पर लोगों की चाहे जो राय हो, मुझे तो हँसना मुश्किल हो जाता है। ड्यूमा के फिल्स और डैमैसो कमोलिया हास्यास्पद रूप से भावुकतापूर्ण हैं। और दूसरों के विषय में? आस्कर वाइल्ड? सरल। इब्सन? गंवारू। स्ट्रिंडबर्ग? अटपटा। एक हाल का नाटककार जिराद्रू, जिसे मरे बहुत दिन नहीं हुए, अब अक्सर रंगमंच पर नहीं अभिनीत होता। काक्तो की ही भाँति उसके नाटक भी हमें सतही और जोड़-तोड़ वाले लगते हैं। यह अपनी चिनगारी खो चुका है। काक्तो की रंगमंचीय युक्तियाँ बहुत स्पष्ट हैं। जिराद्रू की युक्तियाँ और भाषा की कारीगरी विशिष्ट होने पर भी कारीगरी मात्र ही लगती है।

स्वयं पिरांदेलो भी युग के पीछे छूट गया है क्योंकि उसका रंगमंच व्यक्तित्व के ऐसे सिद्धांतों अथवा सत्य की विविध-रूपताओं पर बना है जो मनोविश्लेषण और मनोविज्ञान के गहराई में प्रवेश कर जाने के बाद अब दिन के प्रकाश की तरह स्पष्ट प्रतीत होते हैं। मानव-मन के अनुसंधान में अनिवार्यतः पिरांदेलो से कहीं आगे जाने वाला आधुनिक मनोविज्ञान यद्यपि पिरांदेलो के सिद्धांतों का परीक्षण करते हुए निश्चय ही उसकी उपलब्धियों को स्वीकार करता है किंतु साथ ही यह भी दर्शित करता है कि वह कितना सीमित और अपर्याप्त है। क्योंकि जो कुछ पिरांदेलो द्वारा कहा गया था, वह अब अधिक पूर्णता और वैज्ञानिकता के साथ कहा जाता है। अतः उसके रंगमंच का मूल्य मनोविज्ञान के क्षेत्र में उसकी देन पर निर्भर नहीं है बल्कि उसके नाटक के गुणों के ऊपर है जो अनिवार्यतः कहीं अन्यत्र स्थित हैं। इस लेखक में हमारी रुचि को आकर्षित करने वाली चीज अब मानव-व्यक्तित्व के परस्पर विरोधी तत्वों की उसकी खोज नहीं रह गई है। उसका उसने नाटकीय उपयोग कैसा किया है, यह हो गई है। उसकी कृतियों की रंगमंचीय विशिष्टताएँ विज्ञान के बाहर स्थित हैं, उसकी अपनी विचारधाराओं की सीमा से भी परे। पिरांदेलो के कृतित्व के रूप में अब जो कुछ अवशिष्ट रह गया है वह नाटकीय तकनीक, रंगशिल्प है। यह इस तथ्य को पुनः प्रमाणित करता है कि विचारधारा या दर्शन पर आधारित, एकमात्र उसी से अनुप्रेरित नाटक बालू की भीत है, जो तुरंत ढह जाता है। यह केवल पिरांदेलो का नाटकीय मुहावरा, उसकी शुद्ध रंगप्रकृति है जो उसे आज भी हमारे लिए सजीव बनाये हुए है।

इसी प्रकार भावोत्तेजनाओं में रासां की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि उसके रंगमंच को नहीं सहेजे है बल्कि कवि या रंगकर्मी के रूप में उसका उपयोग उसने कैसा किया है, यह उसके कृतित्व को विशिष्ट बनाता है।

यदि शताब्दियों की यात्रा कर हम ऐसे नाटककारों की गणना करें जो अब भी प्रेक्षक समुदाय को प्रभावित कर सकते हैं तो वे बीस के करीब मिलेंगे या अधिक से अधिक तीस। किंतु हमारे लिए अब भी अर्थपूर्ण बने रहने वाले चित्रों, कविताओं और उपन्यासों की संख्या हजारों में जायेगी। कलाकृति के लिए आवश्यक सहजता की रंगमंच में कमी है। मैं यह नहीं कहता कि महान सादगी वाले नाटककार का उदय ही नहीं होगा, किंतु उसका कोई चिह्न अभी मैं क्षितिज पर नहीं देखता। मेरा तात्पर्य ऐसी सादगी से है जो सुबोध हो, हमारे अस्तित्व की आंतरिक गहराइयों से उद्भूत हुई हो और उन्हें उद्घाटित करे। उन्हें स्वयं हमारे समक्ष उद्घाटित करे। हमारी अपनी सादगी, हमारी छिपी आत्माओं को पुनः स्थापित करे। अभी तो न प्रेक्षक, न लेखक, किसी में सहजता नहीं है।

नाटककारों और उनके नाटकों में तब दोष कौन से हैं ? मैं कह रहा था उनकी चालें अर्थात् उनके अत्यंत स्पष्ट कौशल। नाट्य, साहित्य का गौण, दूसरे दर्जे का रूप प्रतीत हो सकता है। यह हमेशा मोटे दानों वाला प्रतीत होता रहता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह एक ऐसी कला है जो प्रभावों का व्यापार करती है। उनके बिना इसका काम ही नहीं चल सकता और इसके विरोध में लगाया जाने वाला आरोप भी यही है। और इन प्रभावों को विस्तृत भी होना है। आदमी पर प्रभाव यह पड़ता है कि संहति खुरदुरी कर दी गई है। साहित्य की पाठगत परिष्कृतियाँ निकाल-बाहर कर दी गई हैं। साहित्यिक सूक्ष्मताओं वाला नाटक शीघ्र ही चुक जाता है। हाफटोन चित्र या तो गाढ़ी स्याही में डूब जाते हैं या अत्यंत तीव्र प्रकाश में उड़ जाते हैं। प्रकाश-छाया-संयोजन द्वारा विवरणों को स्पष्ट रखना संभव नहीं। समस्या-नाटक मोटे-मोटे तौर से काटे गए टुकड़े हैं जो शायद ही नाटक के करीब पहुँच पाते हैं। नाटक विचारों की अभिव्यक्ति के उपयुक्त माध्यम नहीं है। जब कभी यह विचारधाराओं का वाहन बनने की कोशिश करता है, बस उसे गंवारू बना कर रह जाता है। यह खतरनाक रूप से अति सामान्यीकरण कर देता है। यह विचारधाराओं को बहुत अधिक प्रारंभिक बनाकर उनका अवमूल्यन कर देता है। यह प्रकृत है, किंतु खराब अर्थों में। विचारधाराओं का वहन करने वाले सभी नाटक संकीर्ण होने का खतरा उठाते हैं। नाटक की उपयोगिता नहीं, उसके औचित्यपूर्ण कार्य तब क्या होंगे यदि यह दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीति या शिक्षाशास्त्र को दुहराने के कार्य तक ही सीमित रह जाए ? मनोवैज्ञानिक नाटक पर्याप्तरूप से मनोवैज्ञानिक नहीं होता। उसकी जगह कोई मनोविज्ञान पर प्रबंध क्यों न पढ़ ले ? विचारधाराओं वाला नाटक पर्याप्त रूप से दार्शनिक नहीं होता। इस या उस राजनीतिक विश्वास का नाटकीय चित्रण देखने जाने की बजाय मैं या तो अपना दैनिक समाचारपत्र पढ़ना पसंद करूंगा या अपने राजनीतिक दल के नेता का व्याख्यान सुनूंगा।

रंगमंच की अपरिष्कृति और उसकी अविकसित स्थिति से असंतुष्ट होकर दार्शनिक, साहित्यकार, विचारक और परिष्कृत रुचि के कवि, सभी बुद्धिशील व्यक्ति अपने नाटक को बुद्धियुक्त बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे मेधा, सुरुचि और सुयोग्यता के साथ लिख रहे हैं। वे उसमें अपने विचार भरते हैं। जीवन और जगत के संबंध में अपनी धारणाओं की अभिव्यक्ति करते हैं। और यह विश्वास करते हैं कि नाटक लिखने का अर्थ होना चाहिये ऐसी स्थापना की प्रस्तुति जिससे समस्याएँ रंगमंचपर अपने हल खोज सकें। कभी कभी वे अपनी कृतियों का निर्माण तर्क-न्याय-सरणि पर करते हैं जिसके अनुसार प्रथम दो अंकों में दो आधार-स्थापनाएं रहती हैं और अंतिम तीसरे अंक में निष्कर्ष।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ऐसी रचना कभी कभी प्रथम श्रेणी की होती है। किंतु तब भी नाटक से हम जिस चीज की मांग करते हैं उसकी पूर्ति यह

नहीं करती, क्योंकि यह रंगमंच को उस मध्यवर्ती क्षेत्र से ऊपर नहीं उठा पाती जो चिंतन के उच्च लोकों और उस स्थिति के बीच पड़ता है जिसमें अस्थिर तर्क एक तत्वमात्र बन कर रह सकता है।

यदि कोई रंगमंच को संकीर्णता के स्तर तक उतारना या इसे उस मानवीय भावना की प्रक्रियाओं के अधीन करना अस्वीकृत कर दे जो इस पर अभिव्यक्ति के अन्य रूप और शैलियाँ लादना चाहती हैं तो क्या उसे रंगमंच छोड़ कर हट ही जाना चाहिए ? संगीत और चित्रकला की तरह क्या यह अपना स्वतंत्र अस्तित्व पा सकता है ?

नाटक प्राचीनतम कलाओंमें से एक है। और मैं इस विचार को दबा नहीं सकता कि इसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। मैं अपनी इस इच्छा को रोक नहीं सकता कि रंगमंच को ऐसे सजीव चरित्रों से भर दूं जो एक साथ ही कल्पनोद्भूत और वास्तविक, दोनों हों। हम अपनी इस आवश्यकता से इनकार नहीं कर सकते कि वे हमारी आँखों के सामने जिएँ और बोलें। काल्पनिक वायवीय मूर्तियों को सजीव करना, मांसमज्जा और रक्त प्रदान करना, असाधारण साहसिक कार्य है—इतना विलक्षण कि अपने प्रथम नाटक के पूर्वाभ्यासों के दौरान जब मैंने सहसा स्वयं अपने द्वारा सर्जित चरित्रों को रंगमंच पर चलते फिरते देखा तो बिल्कुल विस्मय बिजड़ित हो उठा। यह एक भयावह अनुभव था। ऐसी कोई चीज करने का मुझे क्या अधिकार था? क्या यह अवर्ज्य था ? और अभिनेता निकोलस बैटाइली कैसे मिस्टर मार्टिन में बदल गया ? यह तो करीब-करीब शैतानी काम था। और इस प्रकार जब मैंने बिल्कुल आकस्मिक रूप से और मजाकों का सामना करने की इच्छा के साथ रंगमंच के लिये कुछ लिख लिया तभी मैंने इसे प्यार करना शुरू किया। अपने में इसका पुनर्नुसंधान करने लगा, इसे समझने लगा और इससे मुग्ध होने लगा। और तभी मैंने जाना कि मुझे क्या करना है।

मैंने अपने आपसे कहा कि बहुत बुद्धिमान नाटककार पर्याप्त रूप से बुद्धिमान नहीं थे। कि दार्शनिक प्रबंधों के लिए विचारकों का रंगमंच-माध्यम के उपयोग की बात सोचना बेकार था। कि जब उन लोगों ने रंगशाला में बहुत अधिक सूक्ष्मता और परिष्कार लाने का यत्न किया तो वह न केवल अनुपातहीन हो गया बल्कि अपर्याप्त भी हो उठा। कि यदि रंगमंच केवल परिष्कृत सूक्ष्मताओं की खेदपूर्ण परिवृद्धि मात्र है जो मुझे इतनी परेशानीपूर्ण लगी तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि यह परिवृद्धि भी पर्याप्त नहीं थी। अतिवृद्धि पर्याप्त वृद्धि नहीं थी, असूक्ष्म अतिसूक्ष्म था।

अतः यदि रंगमंच का मूलतत्व इसके प्रभावों के विशालीकरण में निहित है तो इनका और भी अधिक विशालीकरण होना चाहिए था। अधिकतम रूप से

इन पर बल दिया जाना चाहिए था और इन्हें रेखांकित होना चाहिए था। नाटक को उस मध्यवर्ती क्षेत्र से बाहर निकालने के लिये जहाँ न तो यह साहित्य है और न रंगमंच, इसे अपनी स्वाभाविक सीमाओं में, इसके अपने राज्य में, पुनर्स्थापित करना होगा। मुझे रंगमंच की कारीगरी को छिपाना नहीं था बल्कि उसे और भी अधिक प्रत्यक्ष बनाना था—जानबूझ कर साफ साफ दिखलाई पड़ने वाला। सब कुछ को व्यंग्यचित्रण और हास्यास्पद ऊलजलूल विकृतियों के लिये बैठकखाने के व्यंग्यों और हाजिरजवाबी वाली कामदियों के बाहर ले आना था। बैठकखाने की कामदियाँ नहीं, बल्कि भंड़ैती, पैरोडी की आत्यंतिक अतिशयोक्ति। मजाक भी, किंतु विदूषण की पद्धतियों का उपयोग करते हुए। वे हास्यप्रभाव जो विस्तृत, दृढ़ और आक्रामक हों। नाटकीय कामदियाँ भी नहीं। बल्कि असहनीय की ओर वापिसी। प्रत्येक वस्तु को उस आकस्मिक तीव्र अनुभूति तक ले आना जिसमें त्रासदी का स्रोत निहित है। हिंसा-आक्रमण का रंगमंच। हिंसक हास्य, हिंसक नाटकीय।

मनोविज्ञान की उपेक्षा कर देनी चाहिए अथवा उसे अतिभौतिक (मेटाफिजिकल) आयाम दे देना चाहिए। नाटक भावनाओं की आत्यांतिक अतिशयोक्ति में निहित है। ऐसी अतिशयोक्ति में, जो रोजमर्रा जीवन के सपाट यथार्थ को स्थानच्युत कर देती है। भाषा की भी स्थानच्युति और उच्चारणच्युति।

साथ ही अभिनेताओं ने यदि मुझे इसलिये परेशान किया कि वे पर्याप्तरूप से स्वाभाविक नहीं प्रतीत हो रहे थे तो शायद इसका कारण यह था कि या तो वे बहुत अधिक स्वाभाविक थे या होने का प्रयत्न कर रहे थे। शायद यदि वे स्वाभाविक न होने का प्रयत्न करें तब भी वे स्वाभाविक प्रतीत होंगे, किंतु दूसरे रूप में। अभिनेताओं को इसके लिए भयभीत होने की आवश्यकता नहीं कि वे स्वाभाविक नहीं लग रहे हैं।

सचमुच हमें इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि अपनी रोजमर्रा जिन्दगी, अपनी आदतों, और अपने मानसिक आलस्य से धकियाकर बिल्कुल बाहर निकाल दिये जाएँ क्योंकि ये विश्व का अजनबीपन हमसे छिपा लेते हैं। मन के ताजे कौमार्य के बिना, अस्तित्ववादी यथार्थ की नवीन और स्वस्थ सचेतनता के बिना न तो रंगमंच हो सकता है और नहीं और कोई कला हो सकती है। इसके पूर्व कि वह पुनर्समन्वित हो, यथार्थ को एक प्रकार से स्थानच्युत होना ही है।

इस असर को पाने के लिए एक प्रकार की चाल कभी कभी काम में लाई जा सकती है। पाठ्यसामाग्री के विरुद्ध अभिनय करना। हास्यजनक, ऊलजलूल, और निरंकुश पाठ्यसामग्री के आधार पर औपचारिक, गंभीर और नीरस प्रस्तुति या व्याख्या की जा सकती है। दूसरी ओर आँसू ढालने वाली कृति की हास्यास्पद भावुकता से

बचने के लिए ऐसी नाटचकृति की पाठचसामग्री को विदूषण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है और नाटक की त्रासदीय भावनाओं को प्रहसन द्वारा रेखांकित किया जा सकता है। प्रकाश छाया को और भी गहरा कर देता है तथा छाया प्रकाश की उज्ज्वलता बढ़ा देती है। जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं यह कभी नहीं समझ सका हूँ कि लोग कामदीय और त्रासदीय में क्यों अंतर करते हैं। चूंकि कामदी ऊल-जलूलपन का अंत:प्रेरणात्मक प्रत्यक्षीकरण है; यह मुझे त्रासदी की अपेक्षा अधिक निराशाजनक लगता है। कामदीय बच निकलने का कोई मौका नहीं देता। मैं कहता हूँ निराशाजनक, किंतु यह तो आशा या निराशा की सीमाओं से भी परे है।

कुछ लोगों को त्रासदी एक अर्थ में शांतिदायक प्रतीत हो सकती है क्योंकि किसी प्रताड़ित, भाग्य द्वारा टूटे व्यक्ति की असहायावस्था को व्यक्त करने के प्रयत्न में त्रासदी भाग्य अथवा नियति के यथार्थ को स्वीकृत करती है। कभी-कभी विश्व को अनुशासित करने वाले अगम्य किंतु विषयनिष्ठ नियमों को भी। और मनुष्य की असहायावस्था, हमारे प्रयत्नों की व्यर्थता भी एक अर्थ में कामदीय प्रतीत हो सकती है।

मैंने अपनी कामदियों को अनाटक या हास्य नाटक और अपने नाटकों को नाटकाभास या भँड़ैती कहा है। कारण, मुझे ऐसा प्रतीत होता रहा है कि कामदी त्रासदी है, और यह कि मानव की त्रासदीय स्थिति बिल्कुल उपहास है, मजाक। समकालीन आलोचक-मन न तो किसी चीज को बिल्कुल गंभीरता से लेता है और न बिल्कुल हल्केपन से। 'कर्त्तव्य के शिकार' में मैंने कामदी को त्रासदी में भिगोने की कोशिश की है और 'कुर्सियाँ' में त्रासदी को कामदी में, अथवा चाहें तो कह लें, कामदी और त्रासदी को आमने-सामने करने की कोशिश की है जिससे वे एक नवीन नाटकीय संश्लेषण से सग्रंथित हो सकें। किंतु यह सच्चा संश्लेषण नहीं है। क्योंकि ये दोनों तत्त्व आपस में शृंखलित नहीं होते, मात्र सहस्थित रहते हैं। वे लगातार एक दूसरे को धकियाते रहते हैं। एक दूसरे को दृष्टिपथ में लाते रहते हैं। एक दूसरे की आलोचना करते रहते हैं। अस्वीकृत करते रहते हैं। उनके इस विरोध को ही इस बात का श्रेय है कि तनाव सर्जित करने और संतुलन कायम रखने में इस प्रकार गत्यात्मक रूप से वे सफल होते हैं। मेरे विश्वास में इस स्थिति को सर्वोत्तम रूप से तुष्ट करने वाले दो नाटक—'कर्त्तव्य के शिकार' और 'नया किरायेदार' हैं।

इसी प्रकार कोई गद्यात्मक और काव्यात्मक, अनोखे-अजनबी और सामान्य को भी आमने-सामने कर सकता है। 'जैक' और 'समर्पण' नाटकों में मैं यही करना चाहता था। इन्हें मैं प्रकृतवादी कामदी कहता था क्योंकि प्रकृतवादी स्वर में आरंभ करने के बाद मैंने प्रकृतवाद से परे जाने की कोशिश की है।

इसी तरह 'अमेडी' या 'इससे कैसे पीछा छुड़ायें' नामक नाटक जिसमें दृश्यस्थल छोटे बुर्जुआ दंपति का फ्लैट रखा गया है, ऐसा यथार्थवादी नाटक है जिसमें कल्पना-तरंग के तत्त्व भी संजोये गये हैं। एक ऐसा विरोध स्थापित किया गया है जिसका अभिप्रेत एक साथ ही यथार्थ को निर्वासित और नियंत्रित दोनों करना है।

'द बाल्ड सोप्रैनो' नामक अपना पहला नाटक मैंने रंगमंच की, और इस प्रकार एक खास तरह के मानवीय व्यवहार की भी, पैरोडी करने की कोशिश में लिखना शुरू किया था। इसमें तुच्छता में डूबकर, रोजमर्रा भाषा की अति खोखली रूढ़ियों को बिल्कुल अर्थहीन कर मैंने एक ऐसा अजनबीपन लाने की कोशिश की, जो हमारे संपूर्ण अस्तित्व पर छाया हुआ प्रतीत होता है। त्रासदीय और भँड़ैतीमूलक गद्यात्मक-काव्यात्मक, यथार्थमूलक और स्वप्न-कल्पनाजन्य, अजनबी और सामान्य, संभवतः ये ही वे परस्पर विरोधी सिद्धांत हैं (संघर्ष के बिना रंगमंच हो ही नहीं सकता) जो एक नवीन नाटकीय बनावट के लिए आधार प्रस्तुत कर सकते हैं। इस प्रकार अप्रकृत, अपने आक्रामक जोर के बल पर ही प्रकृत प्रतीत हो सकता है और अतिप्रकृत प्रकृतवादी होने से बचा रह सकता है।

क्या मैं इसमें यह भी जोड़ सकता हूँ कि 'आदिम अनगढ़' नाटक तात्त्विक नाटक नहीं है। किनारों को घिसकर गोल कर देने से इनकार कर देना स्पष्ट रूपरेखा तथा अधिक शक्तिशाली प्रस्तुत करने का एक ढंग है। यह आवश्यक नहीं है कि सादे प्रभावों पर निर्भर रहने वाला नाटक सरलीकृत ही हो।

यदि कोई यह विश्वास करता है कि 'रंगमंच' का अर्थ केवल शब्दों का नाटक है तो यह स्वीकार करना कठिन होगा कि यह अपनी स्वतंत्र भाषा पा सकता है। तब यह शब्दों द्वारा व्यक्त दर्शन और नीतिशास्त्र जैसे विचार के दूसरे रूपों का गुलाम बनकर रह जायेगा। जब कि यदि कोई शब्द को अभियान के लिए रंगमंच द्वारा संचालित प्रभाव-आघात की सैन्यटुकड़ियों के एक सदस्य मात्र के रूप में देखता है तो स्थिति बिल्कुल बदल जाती है। पहली बात तो यह कि रंगमंच एक विशिष्ट ढंग से शब्दों का प्रयोग करता है—संवादों के रूप में, क्रियाशील शब्दों के रूप में, संघर्षरत शब्दों के रूप में। यदि इनका उपयोग कोई लेखक केवल वाद-विवाद के लिये करता है तो वह बहुत बड़ी गलती करता है। शब्दों को अधिक रंग-मंचीय बनाने के और दूसरे साधन भी हैं; उन्हें सुनिर्मित करते हुए इतने ऊँचे सुर तक ले जाना कि वे नाटक के उस वास्तविक तेवर को उद्घाटित कर दें जो सान्निपातिक उत्तेजना में निहित रहता हैं। वाग्भंगिमा पर जहाँ तक संभव हो सके अधिक से अधिक दबाव डालना चाहिए, कि भाषा करीब टूट सी जाय, या कि बहुत अधिक अर्थों को संजोने के निष्फल प्रयास में इसमें विस्फोट हो जाय।

किंतु रंगमंच शब्दों से अधिक कुछ और है। नाटक एक ऐसी कहानी है जो प्रत्येक प्रस्तुतीकरण के साथ संजीवित और पुनर्संजीवित होती है और हम सजीव रूप में इसका आदर्शन कर सकते हैं। रंगमंच जिस प्रकार कानों को प्रभावित करता है उसी प्रकार आँखों को भी। यह सिनेमा की तरह चित्रों का क्रम नहीं है, बल्कि स्थापत्य है, दृश्यात्मक बिंबों की सचल निर्मिति है।

रंगमंच पर कुछ भी मना नहीं है। चरित्रों को जीवन प्रदान किया जा सकता है, किंतु हमारे आंतरिक भयों की अदृश्य उपस्थिति भी स्थूल रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। अतः लेखक को न केवल इस बात की अनुमति है बल्कि उसके लिये हितकर भी है कि वह मंचसामग्री को भी अभिनेता बनाये, पदार्थों में जीवन-संचार करे, दृश्यों को सजीव करे, और प्रतीकों को स्थूल रूप प्रदान करे।

जिस प्रकार शब्दों की अनुपूर्ति अंगभंगिमाओं, मुद्राओं, अभिनय और अभिनटन द्वारा होती है जो उस समय प्रभावसृष्टि करते हैं, जब शब्द पर्याप्त नहीं रह जाते, उसी प्रकार रंगमंच के दृश्यतत्व भी शब्दों को संवर्धित कर सकते हैं। रंगसामग्री का उपयोग तो एक अलग ही प्रश्न है। (आर्तो ने इस संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण विचार दिया है।)

जब लोग यह कहते हैं कि रंगमंच को शुद्ध रूप से सामाजिक होना चाहिए तो क्या उनका वास्तव में यह अर्थ नहीं होता कि रंगमंच को राजनीतिक अथवा इस या उस दिशा में झुका हुआ होना चाहिए? सामाजिक होने का एक मतलब है, किंतु समाजवादी, मार्क्सवादी अथवा फासिजमवादी होने का दूसरा मतलब है। यह तो एक प्रकार से स्टाक मिलाने जैसी अभिव्यक्ति है जो दूर तक नहीं जा सकती। ब्रेश्ट के नाटकों को मैं जितना ही अधिक देखता हूँ मेरे ऊपर यह प्रभाव उतना ही अधिक पड़ता है कि युगबोध, और उसका अपना युगबोध, उसके हाथ से निकल गया है। ब्रेश्ट का मानव एक आयाम ही से कटा हुआ है। लेखक का युगबोध उसकी विचारधारा के कारण सचमुच झूठा पड़ गया है। और इस प्रकार उसका दृष्टि-क्षेत्र संकीर्ण हो गया है। यह एक ऐसा दोष है जो किन्हीं विचारधाराओं के सभी अनुयायियों और संप्रदायोन्माद से परिसीमित सभी लोगों में पाया जाता है।

तब अपनी सीमाओं के बाहर जाकर भी कोई सामाजिक प्राणी बन सकता है। क्योंकि हम सभी एक प्रकार की ऐतिहासिक जटिलता में बँधे हुए हैं और इतिहास के एक विशिष्ट क्षण से संदर्भित हैं जो पूर्णरूप से हमें अपने में निमज्जित तो नहीं ही करता है, बल्कि हमारे सबसे कम मौलिक उपादानों को ग्रहण और अभिव्यक्त करता है।

मैंने मुख्यरूप से एक खास तरह की तकनीक, ऐसे रंगमंचीय मुहावरे के संबंध में बातें कही हैं जो बिल्कुल इसकी अपनी हैं। सामाजिक कथावस्तु और विषय नाटक

की भी कथावस्तु और विषय अच्छी तरह बन सकते हैं यदि वे इस मुहावरे की सीमाओं के अंतर्गत रहें। संभवतः केवल व्यक्तिनिष्ठता से ही हम वस्तुनिष्ठता पा सकते हैं। व्यक्ति मानवों की सामान्यता से जुड़ा हुआ है और स्पष्ट ही समाज एक वस्तुनिष्ठ तथ्य है। और तब भी इस सामाजिक तत्व:को—और इससे मेरा मतलब उस इतिहास की अभिव्यक्ति से है जो हमारे युगजीवन से संबद्ध है, यदि यह केवल हमारे अपने मुहावरे में भी प्रकट होता है—मैं देख पाता हूँ। (और मुहावरा भी ऐतिहासिक होता है—अपने युग से परिसीमित, इससे इनकार नहीं किया जा सकता) मैं इतिहास की अभिव्यक्ति को सभी कलाकृतियों में स्वाभाविक रिक्थ के रूप में निहित पाता हूँ। किसी की सचेतन वांछाएँ चाहे जो भी हों, किंतु वे जीवन्त और स्वत:स्फूर्त हों न कि सायास और विशिष्ट विचारधारा परक।

साथ ही समकालीनता कालहीनता और सार्विकता से संघर्ष नहीं करती: इसके विपरीत यह उनके अधीन है।

कुछ ऐसी मनःस्थितियाँ हैं, अंतःप्रेरणाएँ हैं, जो निश्चित रूप से कालसीमा के बाहर हैं, इतिहास से परे हैं। जब सौभाग्य के किसी दिन प्रातःकाल मैं जगता हूँ— न केवल रात्रिगत निद्रा से, बल्कि आदतों की अपनी मानसिक निद्रा से भी, और सहसा अपने अस्तित्व तथा एक सार्विक उपस्थिति के प्रति सचेत हो उठता हूँ, जब सब कुछ अजनबी और तब भी परिचित प्रतीत होता है, मैं जीवित रहने के आश्चर्य में डूब जाता हूँ। यह एक ऐसी अनुभूति या अन्तः प्रेरणा है जो किसी भी व्यक्ति को कभी भी प्राप्त हो सकती है। सचेतनता की इस भावना की अभिव्यक्ति आप उन कवियों, रहस्यवादियों, दार्शनिकों में व्यवहारतः बिल्कुल एक ही रूप में पा सकते हैं जो इसे ठीक मेरी ही भांति अनुभव करते हैं। और जिस भाँति इसे निश्चय ही सभी लोगों ने अनुभव किया होगा यदि वे आध्यात्मिक रूप से मृत अथवा राजनीति के साथ अपनी अतिव्यस्तता के कारण अंधे न हो गए हों। आप बिल्कुल वही भावना समानरूप से प्राचीन और मध्य युगों, दोनों में और साथ ही तथाकथित ऐतिहासिक शतियों में स्पष्टतः अभिव्यक्त पा सकते हैं। काल के इस कालहीन क्षण में दार्शनिक और मोची, स्वामी और दास, पुरोहित और सामान्यजन पुनः मैत्रीबद्ध और स्वीकृत हो जाते हैं।

काव्य और चित्रकला में भी ऐतिहासिक और अनैतिहासिक परस्पर संबद्ध हो जाते हैं। अपने बालों को संवारती हुई स्त्री की छवि कुछ फारसी लघु चित्रों, यूनानी और एट्रुस्कन स्टील और मिस्र के भित्तिचित्रों में समान रूप से अंकित पाई जाती है; रेनुआ, माने जैसे अथवा सत्रहवीं अठारहवीं शती के चित्रकारों को इसलिये दूसरे युगों की चित्रकला से परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ी कि वे

उसी भंगिमा को ढूंढ़ और पकड़ सके, जो अव्यर्थ संवेदनात्मक चारुता में डूबी हो और उसी प्रकार का संवेग जगाने वाली हो। अपने पहले उदाहरण की ही भाँति यहाँ भी हमलोग स्थायी संवेगों के ही संबंध में बातें कर रहे हैं। जिस चित्रशैली में छवि अंकित होती है, वह युग के अनुसार बदलती तो है (यद्यपि अक्सर बहुत कम) किंतु यह अंतर जो गौण महत्व का है, एक स्थायी मूल्य को उठाये और प्रकाशित किये रहता है। इस बात को स्थापित करने के सारे प्रमाण मौजूद हैं कि किस प्रकार समकालीनता, और यदि प्रचलन के शब्द का प्रयोग करें तो ऐतिहासिकता, कालहीनता, सार्विकता के साथ एक दूसरे से मिलते और आपस में एकीकृत हो जाते हैं, किस प्रकार एक दूसरे को सहारा देते हैं।

हम अपने ही क्षेत्र से एक बड़ा उदाहरण चुनें: पतन के बाद रिचार्ड द्वितीय जब रंगमंच पर तहखाने में तिरस्कृत और एकाकी कैद कर दिया जाता है, तब हम वहां रिचार्ड द्वितीय को नहीं देखते बल्कि संसार के सभी पतनप्राप्त राजाओं को देखते हैं, और केवल पतित राजाओं को ही नहीं, बल्कि अपने विश्वासों और मूल्यों, अपने अपावन, भ्रष्ट और घिसे सत्यों, सभ्यताओं की लड़खड़ाहट, नियति के प्रयाण को भी देखते हैं। जब रिचार्ड द्वितीय मरता है तो यह वास्तव में उन सब की मृत्यु होती है जो आदर्शनकाल में मुझे प्रिय हो उठे थे। रिचार्ड द्वितीय के साथ मरने वाला मैं हूँ। रिचार्ड द्वितीय मुझे उस शाश्वत सत्य के प्रति तीखे रूप से सजग कर देता है जिसे हम ऐसी कहानियों में भूल जाया करते हैं, जिस सत्य के विषय में हम सोच नहीं पाते, हांलाकि यह सीधासादा और बिलकुल सामान्य होता है—मैं मरता हूँ, वह मरता है, तुम मरते हो। अतः शेक्सपियर जो कुछ लिखता है वह अन्ततः इतिहास नहीं है, यद्यपि वह इतिहास का उपयोग करता है। वह हमें जो कुछ दिखलाता है, वह इतिहास नहीं है, किन्तु मेरी कहानी है, हमारी कहानी है। मेरा सत्य है जो मेरे समय से स्वतन्त्र है, और समय के उस वर्णक्रम में है, जो समय के परे जाता है। यह एक सार्विक और निर्दय सत्य को दुहराता है। बास्तव में यह किसी नाटकीय श्रेष्ठ कृति की प्रकृति में ही निहित है कि वह शिक्षण की उच्चस्तरीय प्रणाली प्रस्तुत करे। यह एक दर्पण है। यह हमारे अपने बिम्ब को प्रतिबिम्बित करता है। यह आत्मा का अन्वेषक है। यह इतिहास है जो इतिहास के परे जाकर अति गहरे सत्य की ओर दृष्टि को केंद्रित करता है। लड़ाइयों, गृहयुद्धों और शक्ति के लिए संघर्षों के इस या उस लेखक द्वारा दिये गये कारणों को कोई झूठ या सत्य समझ सकता है, इन व्याख्याओं से कोई सहमत हो या नहीं भी हो सकता है। किंतु इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि वे सब राजे दृश्य से तिरोहित हो गये हैं, कि वे मर गये हैं। और यह यथार्थ के प्रति मानव की क्षणभंगुर प्रकृति के इस स्थायी प्रमाण के प्रति सजगता, शाश्वत जीवन की उनकी

कामना के विरोध से समन्वित होकर, स्पष्ट ही अत्यन्त गहरे संवेग से, उत्तेजक रूप से अनुभूत त्रासदी की अत्यन्त तीखी चेतना से, संयुक्त हो जाती है। कला भावावेग का राज्य है, शिक्षणशास्त्र का नहीं। त्रासदियों की इस त्रासदी में हमारा सम्बन्ध भी पीड़ाजनक यथार्थ के उद्घाटन से होता है। मैं उसी चीज को सीख सकता हूँ या उस पर पुनर्विचार कर सकता हूँ जो मेरे मन से होकर गुजरी हो। इसे मैं केवल उसी तरीके से सीख सकता हूँ जो काव्य द्वारा सीखने में सम्भव है। उस संवेगात्मक सहयोगिता द्वारा जो रहस्यीकरण द्वारा विकृत न हुई हो और विचारवाद या संकीर्ण आलोचनात्मक अथवा वैज्ञानिक चेतना का बाँध तोड़कर फूट पड़ी हो। जब मैं ऐसा नाटक देखता हूँ जो सबूत या प्रमाण अर्पित करने की बजाय सिद्ध करने के लिए कोई प्रमेय प्रस्तुत करता है; जो विचारधारा-प्रधान या प्रतिबद्ध नाटक होता है, ऐसा नाटक जो झूठा होता है, जो उस प्रकार गहराई और काव्यात्मक रूप से सत्य नहीं होता जिस प्रकार त्रासदी या काव्य हो सकता है, तब मैं बस धोखा खाने का खतरा उठाता हूँ।

हर आदमी एकाकी मौत मरता है। सभी मूल्य तिरस्कृत हैं। शेक्सपीयर मुझे यही बताता है। "रिचार्ड का तहखाना वास्तव में हम सबके एकाकीपन का तहखाना है।" संभवत: शेक्सपीयर रिचार्ड द्वितीय की कहानी कहना चाहता था। यदि जो उसने कहा है बस केवल यही होता— किसी और की कहानी, तो वह मुझे प्रभावित न कर पाता। किंतु रिचार्ड द्वितीय का जेलखाना एक ऐसा सत्य है, जो इतिहास के साथ ही तिरोहित नहीं हो गया है। इसकी अदृश्य दीवारें अब भी खड़ी हैं। जब कि असंख्य दर्शन और विचारधाराएँ हमेशा के लिए गायब हो गयीं। और यह सत्य अब भी लागू होता है, क्योंकि यह सजीव प्रमाण के मुहावरे में निहित है, न कि संकेतात्मक और तार्किक निर्णय में। नाटक यही शाश्वत और सजीव उपस्थिति है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह त्रासदीय सत्य और रंगमंचीय यथार्थ को पुनर्सर्जित कर सकता है। यह जो प्रमाण प्रस्तुत करता है उसका, अमूर्त विचारों के, अनिश्चित सत्यों के तथाकथित "विचारधाराप्रधान रंगमंच" के साथ कोई संबंध नहीं। हमारा संबंध अब रंगमंच के मूलतत्त्व, रंगमंचीय बिंबों, रंगमंचीय मुहावरे के साथ है। ऐसे मुहावरे के साथ है, जो हमारे इस युग में आकर खो गया है। जिसमें सत्य के सजीव बिंब की जगह साध्यावसानात्मकता और अकादमीय चित्रण लेता प्रतीत हो रहा है। हमें इस मुहावरे को अवश्य फिर से ढूंढ़ निकालना चाहिये। प्रत्येक मुहावरा विकास करता है, किंतु विकास और नवीनीकरण का अर्थ आत्मसमर्पण या प्रकार में परिवर्तन नहीं है। इसका अर्थ है, कालप्रवाह के प्रत्येक ऐतिहासिक क्षण में आत्म का सतत पुनर्संधान। विकास अपने ही व्यक्तित्व के चौखटों के भीतर होता है। रंगमंच का मुहावरा रंगमंच के मुहावरे के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता।

संगीत और चित्रकला के मुहावरे अपने विकास के साथ-साथ अपने युग की सांस्कृतिक शैली के साथ समायोजित होते रहे हैं, किंतु उन्होंने अपनी संगीतात्मक या चित्रात्मक प्रकृति कभी त्यागी नही। और, उदाहरण के लिए, चित्रकला का विकास स्वयं चित्रकला, उसके मुहावरे, उसके मूलतत्व के पुनःअनुसंधानके सिवा और कुछ नहीं। आधुनिक चित्रकला द्वारा स्वीकृत दिशा इसे स्पष्टता से प्रमाणित करती है। क्ली, कैंडिस्की, मोंद्रियाँ, ब्रैक और पिकासो से लेकर अबतक चित्रकला ने चित्रेतर सामग्री–जैसे साहित्य, कहानी, इतिहास और फोटोग्राफी को चित्रकला से झाड़-पोंछकर निकाल देने के प्रयास के सिवा और कुछ नहीं किया है। चित्रकार चित्रकला के आधारभूत तत्वों–शुद्ध रंग, आकार आदि को, स्वनिष्ठ मूल्यों के लिए ही, फिर तलाश निकालने की कोशिश में लगे हैं। यहाँ प्रश्न सौंदर्यवाद या आजकल जरा कुछ गलत ढंग से अभिहित 'रूपवाद' का नहीं है। किंतु यथार्थ को चित्र की भाषा में, शब्दों और ध्वनियों की ही भाँति अभिव्यंजक मुहावरे में व्यक्त करने का है। हालांकि पहले तो हमें यह चित्रात्मक मुहावरे का विघटन लगा। किंतु तात्विक रूप से यह परोपजीवी मुहावरे की अस्वीकृति और शुद्धता की त्यागमय तलाश थी। ठीक इसी तरह, जब हम अपने नाटकों में से रूढ़िबद्ध चरित्रों को खींचकर अलग कर देंगे, जब हम रंगमंच के झूठे मुहावरे को तोड़ डालेंगे, तभी चित्रकला के उदाहरण का अनुसरण करते हुए इसकी तात्विक शुद्धता को पुनर्योजित कर इसे फिर से समन्वित कर सकेंगे।

रंगमंच केवल रंगमंच ही हो सकता है और कुछ नहीं। हालांकि रंगमंच-शास्त्र के कुछ समकालीन विशेषज्ञ इस बात को सच नहीं समझते कि किसी चीज की पहचान स्वयं उसी चीज द्वारा हो सकती है। मुझे तो यह बात चक्कर में डालने वाली और अन्तर्विरोध का अवांछनीय रूप प्रतीत होती है।

इन 'विशेषज्ञों' के लिए रंगमंच, रंगमंच से अलग कोई चीज है। वह विचारधारा है। साध्यावसानक रूपक है। राजनीति है। भाषण है, निबंध है या साहित्य है। यह तो उसी प्रकार का मतिस्खलन है, जिस प्रकार यह कहना कि संगीत पुरातत्व है, चित्रकला भौतिकशास्त्र या गणित है, अथवा यह कि टेनिस टेनिस के सिवा और कोई भी चीज हो सकती है।

यद्यपि आप यह स्वीकार कर लें कि मेरे विचार असत्य नहीं हैं, तब भी आप यह तो कह ही सकते हैं कि मैं कोई बिलकुल नयी बात नहीं कह रहा हूँ। और अगर आप अपनी रौ में यह भी कह जायँ कि ये बातें नितांत आरंभिक स्तर की हैं तो मुझे खुशी ही होगी, क्योंकि प्रारंभिक सत्यों, आधारभूत प्रमेयों या निश्चितताओं के पुनःअनुसंधान से कठिन और कोई चीज नहीं। दर्शनशास्त्री तक मुख्य रूप से ठोस प्रमेयों की खोज में लगे रहते हैं। सटीक रूप से प्रारंभिक सत्य वह है, जो दृष्टि से ओझल हो जाता है, जिसे लोग भुला देते हैं। और यही कारण है कि हम एक दूसरे को समझने में असफल हो जाते हैं और भ्रामक विचार पालते रहते हैं।

साथ ही, मैंने जो कुछ भी कहा है, वह नाट्यकला का कोई पूर्वकल्पित सिद्धांत नहीं है। यह रंगमंच के मेरे बिलकुल निजी अनुभवों के पहले नहीं, बाद में उद्भूत

हुआ है। भले या बुरे, अपने ही नाटकों के बारे में मेरे चिंतनों ने इन विचारों को जन्म दिया है। ये चिंतन बाद में उद्भूत हुए हैं। नाटक लिखने से पहले मेरे मन में कोई विचार नहीं रहता। मेरे मन में विचार तब आते हैं, जब मैं इसे पूरा कर लेता हूँ या कि जब बिल्कुल ही नहीं लिखता रहता। मेरा विश्वास है कि कलात्मक सर्जन स्वतःस्फूर्त होता है। यह मेरे अपने लिये है। पुनः कहूँ, यह सब मेरे अपने लिए विहित है। किंतु यदि मुझे यह विश्वास हो सके कि मैंने अपने आप में सहज रूप से नाटक के वस्तुनिष्ठ यथार्थ की स्थायी प्रकृति और आधारभूत ढांचे को खोज लिया है, या कि मैं नाटक के मूलतत्वों पर जरा भी प्रकाश डाल सका हूँ, तो मुझे बहुत गर्व होगा। सभी विचारधाराएँ (या आदर्शवाद) बासी, परोक्ष, कृत्रिम या झूठे ज्ञान से निकलती हैं। दूसरों से उधार ली हुई कोई चीज कलाकार के लिए सत्य नहीं हो सकती। किसी ऐसे लेखक पर जिसे 'अग्रिमदस्ते' (अवांगार्द) के लेखक के नाम से चिढ़ाया जाता है, मैं एक और आरोप गढ़ना चाहूँगा—उसने किसी का आविष्कार नहीं किया। मेरा विश्वास है कि जब कोई आविष्कार करता है तो वह कुछ ढूंढ़ निकालता है और आविष्कार अनुसंधान या पुनःअनुसंधान है। अब यदि मुझे अग्रिम दस्ते का लेखक मान लिया गया है तो इसमें मेरा कोई कसूर नहीं। ऐसा कहने की जिम्मेदारी आलोचकों पर है। इसका कोई महत्व नहीं। यह परिभाषा उतनी ही अच्छी है, जितनी कोई दूसरी हो सकती है। इसका कोई मतलब नहीं है। यह तो एक लेब्रुल मात्र है।

अतियथार्थवाद भी कोई नई चीज नहीं है। पुनःआविष्कार की प्रक्रिया में यह जो कुछ ढूंढकर सामने ला सका, वह जानने का एक विशिष्ट तरीका या मानव-प्रकृति की कुछ ऐसी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ हैं, जिनपर पिछली कई शताब्दियों में विवेकवाद ने अपनी भौंहें चढ़ाई हैं, उन्हें दलित कर रखा है। संक्षेप में, अति यथार्थवाद किन चीजों को मुक्त करने की कोशिश कर रहा है? प्यार और स्वप्न। हम यह कैसे भूल सकते हैं कि प्रेम द्वारा मानव की प्रगति तीव्र हुई है। इस तथ्य की कैसे उपेक्षा कर सकते हैं कि हम स्वप्न देखते हैं। अन्य सभी क्रांतियों की ही तरह अतियथार्थवादी क्रांति भी प्रत्यावर्तन था। पुनर्स्थापना थी। जीवंत, अपरिहार्य आध्यात्मिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति थी। यदि अंततः यह बहुत अधिक सख्त हो गयी और अब हम अकादमीय अतियथार्थवाद की बात करते हैं तो इसका कारण यह है कि अंत में हर एक मुहावरा घिस जाता है। सजीव परंपरा परंपरावाद के रूप में रूढ़िग्रस्त हो जाती है। यह अपने रूपों में बैठ जाती है और नकल की जाने लगती है। अतः समयानुसार इसका भी पुनःअनुसंधान किया जाना चाहिये। साथ ही जैसा कि सर्वविदित है, अतियथार्थवाद भी स्वच्छंदतावाद या रोमांसवाद का ही पुनर्यौवनीकरण है। इसका उद्गम या इसके स्रोतोंमें से एक

जर्मनी के स्वच्छंदतावादियों की स्वप्न देखने की शक्ति है। ज्ञात यथार्थ के सीमा-प्रांतों की अभिवृद्धि, पद्धति के पुनःअनुसंधान या किसी मुहावरे के पुनर्यौवनीकरण पर निर्भर करती है। कोई सच्चा अग्रिमदस्ते का आंदोलन तभी मूल्यवान हो सकता है, जब वह फैशन मात्र से कुछ अधिक हो। यह उस अंतःप्रेरणात्मक अनुसंधान से ही उद्भूत हो सकता है जिसके फलस्वरूप अतीत के उन उपेक्षित प्रतिरूपों का पुनर्मूल्यांकन किया जाय, जो लगातार पुनःअनुसंधान और पुनर्यौवनीकरण की अपेक्षा रखते हैं। मेरा विश्वास है कि सांप्रतिक युग में हम यह भूल गये हैं कि रंगमंच क्या है? और इससे मैं अपने को भी अलग नहीं कर रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि कदम ब कदम अपने लिये मैंने इसे फिर से खोज निकाला है, और अभी मैंने जो कुछ भी बयान दिया है, वह बस रंगमंच का मेरा अपना अनुभव मात्र है।

स्पष्ट ही और बहुत सी समस्याओं को यहाँ छुआ ही नहीं गया है। उदाहरण के लिए अभी यह देखने को रह ही गया है कि फेदों जैसा नाटककार, अपनी समस्त त्रुटिहीन रंग-तकनीकों और रंग-यांत्रिकी के बावजूद, क्यों उन दूसरे नाटककारों की महानता के समीप नहीं पहुँच पाता, जिनकी रंग-तकनीक कभी-कभी इतनी पूर्ण नहीं भी हो पाती। एक अर्थ में इसका कारण यह कि इनमें से प्रत्येक दार्शनिक होता है। इससे मेरा मतलब यह है कि प्रत्येक यथार्थ के किसी अंश का अनुसंधान करता है, ऐसे अंश का, जिसे वह स्वयं अपने लिए ढूंढ़ सकता है। जब मैं 'दार्शनिक' शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मेरा मतलब दर्शन के उस विशेषज्ञ से नहीं होता है, जो महज दूसरों की विश्वकल्पना का उपयोग करता है। जितनी दूर तक कोई कलाकार निजी तौर पर यथार्थ का अपना बोध रखता है, उतनी दूर तक वह सच्चा दार्शनिक है। और उसकी महानता उसकी प्रामाणिक रूप से दार्शनिक अंतर्दृष्टि, उसके जीवंत दर्शन के विस्तार, उसकी गहराई और तीव्रता का ही परिणाम होगी। किसी कलाकृति का गुण प्रत्यक्षतः इसपर निर्भर करता है कि यह दर्शन कितना सजीव है। यह जीवन से उद्भूत होता है, न कि अमूर्त विचारों से। कोई दार्शनिक प्रणाली तब तुरंत सूख जाती है जब कोई नया दर्शन या नयी प्रणाली एक कदम आगे बढ़ जाती है। तब भी कलाकृतियाँ, जो सजीव दर्शन हैं, एक दूसरे को असंगत नहीं ठहरातीं। यही कारण है कि वे सहस्थित रह सकती हैं। महान कलाकृतियाँ और महान कवि एक दूसरे में स्वीकृति, पूर्णता और प्रतिबद्धता पाते प्रतीत होते हैं। काल्डेरन एस्काइलस को खारिज नहीं कर देता, नहीं चेखव शेक्सपीयर को, या जापानी नो नाटक क्लीस्ट को। कोई वैज्ञानिक सिद्धांत दूसरे सिद्धांत को अवैध ठहरा सकता है, किंतु कलाकृतियों द्वारा ढूंढे गये सत्य एक दूसरे के पूरक होते हैं। आधिभौतिक उदारवाद की संभावना में विश्वास को कला सबसे अच्छी तरह औचित्यपूर्ण प्रमाणित करती प्रतीत होती है।

प्रयोगशील रंगमंच : एपिक थियेटर

बर्टोल्ट ब्रेष्ट

कम से कम दो पीढ़ियों से योरोप का गंभीर नाटक प्रयोग के युग में यात्रा करता रहा है। अब तक जो विभिन्न प्रयोग किए गए हैं वे किसी निश्चित और स्पष्टतापूर्वक स्थापित निष्कर्ष तक नहीं पहुंचा सके हैं। प्रयोग का यह युग अभी समाप्त भी नहीं हुआ है। मेरी दृष्टि में ये प्रयोग दो दिशाओं में निर्देशित रहे हैं। और यद्यपि कभी कभी ये दिशाएँ एक दूसरे को काटती हैं, फिर भी इनमें अलग अलग यात्रा की जा सकती है। इन्हें 'उपदेश' और 'मनोरंजन' के दो कार्यों द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ओर तो रंगमंच ने अपने प्रयोगों को मनोरंजन की अपनी क्षमता बढ़ाने की दिशा में नियोजित किया और दूसरी ओर प्रयोगों का उद्देश्य रंगमंच के शैक्षणिक मूल्यों को बढ़ाना रहा।

[इसके बाद ब्रेष्ट आंत्वाँ से आरंभ होने वाले उन विभिन्न प्रयोगों की सूची प्रस्तुत करता है जो रंगमंच की मनोरंजनशक्ति का विकास करने के लिए किए गए थे। और वख्तानगोव तथा निर्माणवादी मायरहोल्ड–जिन्होंने एशियाई रंगमंच से नृत्य-तुल्य-रूपों को लेकर नाटक के लिये पूरी कोरियोग्राफी का ही निर्माण कर डाला, राइनहार्ट जिन्होने फाउस्ट, जेडेरमान, और मिडसमर नाइट्स ड्रीम के प्रस्तुतीकरण खुले रंगमंच पर किए, तथा बूश्नर के नाटक 'डैन्टन्स डेथ' के प्रस्तुतीकरण में अभिनेताओं को प्रेक्षकों के साथ बैठा दिया, ओखलोपकोव, तथा स्तानिस्लाव्स्की, राइनहार्ट, और जेसनर द्वारा भीड़ के दृश्यों के विस्तृतीकरण के उल्लेख विशेष रूप से करता है। किंतु 'कुल मिलाकर रंगमंच आधुनिक तकनीकी स्तरों तक नहीं लाया जा सका है।'

उसकी दृष्टि में दूसरी दिशा के यात्री मुख्य रूप से नाटककार रहे हैं। उदाहरण के रूप में उसने इब्सन, तालस्ताय, स्ट्रिंडबर्ग, गोर्की, चेखब, हाप्टमान, शा, जार्ज कैसर और यूजीन ओ'नील के नाम प्रस्तुत किये और अपने नाटक 'थ्री पेनी आपेरा का उल्लेख 'ए पैरेबुल टाइप प्लस आइडियोलाजी बस्टिंग' के रूप में किया। पिस्केटर का रंगमंच इन सभी प्रयासों में 'सर्वाधिक क्रांतिकारी' था। 'मैंने उसके सभी प्रयोगों में हिस्सा लिया और उनमें से प्रत्येक का उद्देश्य रंगमंच के शिक्षणात्मक मूल्यों में अभिवृद्धि करना था।']

इन खोजों का उपयोग अभी तक अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच में नहीं हो सका है। रंगमंच का यह विद्युतीकरण सचमुच भुला दिया गया है। बड़ी कारीगरी से बने इस पूरे यंत्र में मुर्चा लग रहा है, इस पर घास उग रही है। ऐसा क्यों है ?

मुख्य रूप से राजनीतिक रंगमंच के इस विध्वंस के कारण भी निश्चय ही राजनीतिक हैं। राजनीति प्रतिक्रिया की वृद्धि से जा टकराई। किंतु अभी तो हम

अपने को इस परीक्षा तक ही सीमित रखेंगे कि इस संकट का सौंदर्यशास्त्रीय पहलू कैसे विकसित हुआ।

पिस्केटर के प्रयोगों ने आरंभ होते ही रंगमंच को पूरी तरह उथलपुथल कर दिया। जब वे रंगमंच को 'मशीनरूम' के रूप में बदल रहे थे तो रंगशाला 'जनसभा' वन रही थी। पिस्केटर की दृष्टि में रंगमंच लोकसभा की तरह था और प्रेक्षकगण विधायक-मंडल की तरह। इस लोकसभा में जनता के वे समस्त महान प्रश्न रूपायनशील स्थितियों में प्रस्तुत किए जाते थे, जिनके उत्तर आवश्यक थे। किन्हीं असहनीय सामाजिक स्थितियों के संबंध में किसी अधिकारी की रिपोर्ट की बजाय इन स्थितियों का कलात्मक प्रतिरूप उपस्थित किया जाता था। रंगमंच की आकांक्षा यह थी कि वह उन बिम्बों, सांख्यिक विवरणों, नारों को प्रस्तुत करे जो लोकसभा-प्रेक्षकसमूह को राजनीतिक निर्णय लेने में सक्षम कर सके। पिस्केटर का रंगमंच प्रशंसाओं के प्रति उदासीन नहीं था, किंतु यह बहस को अधिक पसंद करता था। यह अपने प्रेक्षकों को केवल एक अनुभूति मात्र नहीं देना चाहता था बल्कि उनसे वह व्यावहारिक निर्णय भी निचोड़ लेना चाहता था जो जीवन में सक्रियतापूर्वक हस्तक्षेप कर सके। इसे कर सकने में जो भी साधन सहायक सिद्ध होते, न्यायोचित मान लिये जाते। रंगमंच का तकनीकी पहलू अत्यंत जटिल हो उठा। पिस्केटर के रंगव्यवस्थापक (स्टेज मैनेजर) की रंगपुस्तिका राइनहार्ट के रंगव्यवस्थापक की रंगपुस्तिका से उतनी अलग हो उठी जितनी स्ट्राविंस्की के आपेरा की स्वरलिपि किसी वंशीवादक की स्वरलिपि से भिन्न हो सकती है। रंगमंच के ऊपर मशीनों का बोझ इतना अधिक हो उठा कि नोलेन डोर्फ की रंगशाला में इस्पात और कांक्रीट के आधारस्तंभ लगाकर उसे मजबूत करना पड़ गया। गुंबद की छत से इतनी मशीनें लटकाई गईं कि वह झुकने लग गई। सौंदर्यशास्त्रीय पहलू पूर्णतया राजनीति द्वारा अनुशासित होते थे। चित्रित दृश्यपीठ बिल्कुल निकालबाहर किए जाते थे यदि उसी स्थल पर खींची गई फिलम दिखलाई जा सकती थी जिसपर दस्तावेजी यथार्थवाद की मुहर लग जाती थी। चित्रित कार्टूनों का भी उपयोग किया जाता था यदि कलाकार (उदाहरणार्थ, जार्ज ग्रास्ज़) को अपनी ओर से लोकसभाई प्रेक्षकसमूह से कुछ कहना होता था। पिस्केटर तो अभिनेताओं को लिये बिना ही कार्य करने को तैयार था। जब जर्मनी के भूतपूर्व सम्राट के वकीलों ने अभिनेता द्वारा सम्राट के प्रतिरूप को उपस्थित करने की पिस्केटर की योजना का विरोध किया तो पिस्केटर ने पुछवाया कि क्या सम्राट स्वयं रंगमंच पर उपस्थित होना पसंद नहीं करेगें? उसने तो आर्थिक अनुबंध भी प्रस्तावित किया। संक्षेप में उद्देश्य इतना विशाल और महत्वपूर्ण था कि सभी प्रकार के साधन उपयुक्त प्रतीत होते थे। और नाटक भी करीब करीब उसी प्रकार लिखे जाते थे जिस प्रकार प्रस्तुतीकरण की

तैयारी होती थी। एक ही नाटक के लिखने में नाटककारों का एक पूरा दल मिलकर काम करता था और उनके कार्यों की जांच और संपूर्ति विशेषज्ञों, इतिहासवेत्ताओं, अर्थशास्त्रियों और संख्याशास्त्रियों द्वारा होती थी।

पिस्केटर के प्रयोगों ने करीब करीब सारी रूढ़ियां तोड़ डालीं। उन्होंने नाटककारों की सर्जन-पद्धतियों, अभिनेता की प्रतिरूपण-शैली और रंगसज्जाकार के कार्यों में भी हस्तक्षेप कर उन्हें पूरी तरह बदल डाला। वे सब रंगमंच के लिये बिल्कुल ही नये सामाजिक कार्यों की खोज की दिशा में उत्प्रेरित थे।

एनलाइटेनमेंट युग के दिदरो और लेसिंग जैसे महान व्यक्तियों द्वारा स्थापित बुर्जुआ क्रांतिकारी सौंदर्यशास्त्र ने रंगमंच की परिभाषा मनोरंजन और उपदेश के केंद्र के रूप में की है। एनलाइटेनमेंट के उस युग में जिसमें योरोपीय रंगमंच के विशाल विकास की गतिविधियां आरंभ हुईं, इन दोनों चीजों के बीच कोई संघर्ष नहीं था। ट्रेजडीधर्मी उपकरणों से भी उत्पन्न होनेवाला शुद्ध मनोरंजन दिदरो जैसे व्यक्तियों को तब तक खोखला और बेकार लगता था जब तक वह प्रेक्षकों के ज्ञान में कुछ अभिवृद्धि न कर सके। साथ ही उपदेश के तत्व—अवश्य ही कलात्मक रूप में-किसी प्रकार मनोरंजन को बाधित करते न प्रतीत होते थे। इनके मत से इनसे इसमें गहराई आती थी।

यदि हम आज अपने युग के रंगमंच पर दृष्टि डालें तो हम पायेंगे कि अपने नाटकों के साथ मनोरंजन और उपदेश के जिन दो तत्वों से रंगमंच बना है, उनमें संघर्ष उल्लेखनोय रूप से बढ़ता जा रहा है। आज यहाँ विरोध की स्थिति है। विज्ञान द्वारा कला के उस आत्मसातीकरण ने, जिसने प्रकृतिवाद (नैचुरलिज्म) को सामाजिक प्रभाव प्रदान किया, कुछ प्रमुख कला क्षमताओं को पंगु भी कर दिया, विशेष रूप से कल्पना, क्रीड़ा की भावना, और शुद्धकाव्य तत्व को। इसके उपदेशात्मक पहलू द्वारा इसके कलात्मक पहलू स्पष्टतया हानिग्रस्त हुए।

युद्धोत्तर काल के अभिव्यंजनावाद ने विश्व को 'इच्छा' और 'विचार' के रूप में उपस्थित किया और एक विशेष प्रकार के भौतिकता विरोधी आत्मज्ञानवादकी ओर ले गया। समाज के महान संकट को यह रंगमंच की ओर से दिया गया उत्तर था—वैसे ही जैसे मार्क्स के सिद्धान्त दर्शन की ओर से थे। इसने जीवन के विरुद्ध कला के विद्रोह को उपस्थित किया। यहाँ संसार का अस्तित्व पूरी तरह से स्वप्न के रूप में था, अपूर्व विकृत, व्यथित आत्माओं द्वारा जगाये गये प्रेत की तरह। अभिव्यंजनावाद ने रंगमंचीय साधनों की अभिव्यक्तिक्षमता को बहुत समृद्ध किया और सौन्दर्यशास्त्रीय उपलब्धियाँ प्राप्त कीं जिनका पूरा उपयोग होना अभी बाकी है। किन्तु विश्व को मानवीय क्रियाओं के साधन के रूप में दिखलाने में यह बिलकुल असमर्थ सिद्ध हुआ। रंगमंच का शिक्षात्मक मूल्य ढह गया।

पिस्केटर के प्रस्तुतीकरणों में या मेरे 'थ्रीपेनी आपेरा' नाटक में शैक्षणिक तत्व एक प्रकार से भीतर बैठाये गये थे। ये सम्पूर्ण के संघटनात्मक परिणाम नहीं थे बल्कि इसके विरोध में खड़े थे। वे नाटक की घटनाओं और उसके प्रवाह को तोड़ देते थे। वे तदाकारपरिणति (एम्पैथी) को बाधित करते थे। और जिन लोगों की भावनाएं नाटक में डूबने लगती थीं उनके लिए ये ठंडे डूश का काम करते थे। मैं आशा करता हूँ 'थ्रीपेनी आपेरा' के उपदेशात्मक अंश और शिक्षात्मक गीत पर्याप्त रूप से मनोरंजक हैं, किंतु निश्चय ही यह मनोरंजन परंपरित दृश्यों से प्राप्त होने वाले मनोरंजन की तुलना में बिल्कुल अलग है। नाटक की प्रकृति दुहरी है। उपदेश और मनोरंजन खुले रूप से संघर्ष करते हैं। पिस्केटर की कृतियों में अभिनेता और यन्त्रों की खुली लड़ाई होती थी।

यह बात इस तथ्य से बिल्कुल अलग है कि ऐसे प्रस्तुतीकरण प्रेक्षकसमूह को कम से कम दो परस्पर विरोधी समाजिक टोलियों में विभाजित कर देते थे और इसी प्रकार किसी सामान्य कलानुभूति की क्रिया को अवरुद्ध कर देते थे। यह तथ्य राजनीतिक है। ज्ञान प्राप्त करने का आनन्द वर्गस्थिति पर निर्भर है। कलात्मक अनुभव व्यक्ति के राजनीतिक रुझान पर निर्भर करता है, जो तदनुसार क्रियाशील और गृहीत किया जा सकता है। किंतु यदि हम अपने को प्रेक्षकों के उस समूह तक ही सीमित कर दें जो राजनीतिक रूप से अनुकूल था, तब भी शैक्षणिक मूल्य और मनोरंजन करने की क्षमता के बीच चलने वाले संघर्ष के तीखेपन को हम देख सकते हैं। यहाँ एक नये और बिल्कुल खास ढंग का सीखना है। और यह खास तरह के पुराने ढंग के मनोरंजन से समझौता नही कर सकता। प्रयोगों की एक (बाद की) स्थिति पर शिक्षणात्मक मूल्य की हर नई वृद्धि का अर्थ होता था मनोरंजन करने की क्षमता में सीधी कमी। 'यह रंगमंच नहीं है, यह तो माध्यमिक स्कूल जैसी चीज है।' इसके विपरीत संवेगात्मक अभिनय का स्नायुमंडल पर पड़ा प्रभाव प्रस्तुतीकरण के शिक्षणात्मक प्रभाव को निरंतर आघात पहुँचाता रहता था। अक्सर अच्छे अभिनेताओं की अपेक्षा खराब अभिनेताओं से प्रस्तुतीकरण के शिक्षणात्मक मूल्यों को अधिक सहायता मिल जाती थी। दूसरे शब्दों में प्रेक्षकों के स्नायुओं पर जितना अधिक नियन्त्रण होता था, उनके सीखने की संभावना उतनी ही कम होती जाती थी। प्रस्तुतीकरण में प्रेक्षकों को अपनी अनुभूतियों और संवेगों को हम जितना अधिक तादात्मीकरण करने की ओर प्रेरित करते हैं, प्रेक्षक उतना ही कम सीखते हैं। सीखने को जितना ही अधिक रहता, कलात्मक आनन्द उतना ही कम होता जाता।

और यहाँ एक संकट आ उपस्थित हुआ। प्राय: प्रत्येक देश में आधी शती तक किये गये प्रयोग रंगशाला में विषयवस्तु के बिल्कुल ताजे नए क्षेत्र और समस्याओं के

नये प्रकार ले आये तथा रंगमंच को उल्लेखनीय सामाजिक महत्व का उपकरण बना दिया। साथ ही वे रंगमंच को उस बिन्दु पर ले आए जहां से बौद्धिक और सामाजिक (राजनीतिक) अनुभवों की और आगे यात्रा कलात्मक अनुभव को तोड़-फोड़ देती। और तब भी पहले के और आगे विकास के बिना दूसरे का अस्तित्व भी कम होता जाता। एक तकनीकी उपकरण और एक ऐसी अभिनयशैली का विकास किया गया जो अनुभूतियां प्रदान करने की अपेक्षा भ्रमजाल में अधिक डालती थी। उच्च मन:स्थिति पर ले जाने की अपेक्षा मादकता अधिक प्रदान करती थी। ज्योतित करने की अपेक्षा धोखा अधिक देती थी।

ऐसे निर्माणवादी रंगमंच का उपयोग क्या था जो सामाजिक रूप से अनिर्माण-शील हो? क्या उपयोग था सूक्ष्मतम प्रकाश-उपकरणों का यदि ये केवल जगत का बचकाना और विकृत प्रतिरूप ही प्रकाशित करते थे? सांकेतिक अभिनयशैली का—यदि वह केवल यह बतलाने का काम करती है कि 'क' 'ख' है। उन सारी चालों (ट्रिक्स) का क्या उपयोग था यदि ये वास्तविक अनुभवों के बदले केवल कृत्रिम नमूना भर प्रदान करती थीं? लगातार उन समस्याओं को तनिक तनिक कर व्यक्त करने से क्या लाभ जो हमेशा अनिर्णीत छोड़ दी जाती थीं। न केवल स्नायुओं बल्कि मस्तिष्क की भी इस उत्तेजना से क्या? हम लोग इसे यहीं पर नहीं छोड़ सके।

विकास, शिक्षा और मनोरंजन के दो कार्यों के समन्वय की ओर उन्मुख हुआ। यदि इस प्रकार की संलग्नता का कोई सामाजिक अभिप्राय निकलना था तो इसके लिये अंततः इन्हें रंगमंच को ऐसी सामर्थ्य प्रदान करना चाहिए था जिससे रंगमंच कलात्मक साधनों से ही संसार की तस्वीर पेश कर सके। मानवजीवन के प्रतिरूप इस प्रकार उपस्थित कर सके कि प्रेक्षक अपने सामाजिक परिवेश को समझ सकें तथा, बौद्धिक और संवेगात्मक दोनों प्रकार से, उस पर अधिकार प्राप्त कर सकें।

[इसके बाद ब्रेष्ट दु:ख प्रकट करता है कि समाज में मानवजीवन को अनुशासित करनेवाले नियमों को समझने में मनुष्य किस प्रकार असफल रहा है। इस संबंध में उसका ज्ञान उसे वैज्ञानिक ज्ञान के साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं ले चल सका है, इसलिये आजकल हर खोज का स्वागत विजय के शोरगुल के साथ किया जाता है जो फिर आतंक के शोरगुल में परिवर्तित हो जाता है (दे० गैलीलियो के १४ वें दृश्य का लंबा भाषण)। किंतु कला को जगत का 'कामलायक' बिंब उपस्थित करना चाहिये।

वह तर्क करता है, वस्तुस्थिति यह है कि आज कला अपना प्रभाव सटीकता की अपेक्षा तदाकारपरिणति द्वारा कहीं अधिक संयोजित करती है। वह पूर्वोल्लिखित तर्कों द्वारा ही तदाकारपरिणति पर आक्रमण करता है और 'पृथक्कीकरण' (एलियेनेशन) की पद्धतियों द्वारा इसे हटाने के प्रयत्न का वर्णन करता है। युवा पीढ़ी के

अत्यन्त प्रतिभाशाली अभिनेताओं की सहायता से इस तकनीक का विकास बर्लिन के 'थियेटर अम श्रिफ बायरडम' नामक रंगशाला में किया गया था। इनमें वीगेल, पिटर लोरे, आस्कार होमोल्का (कैरोला), निहेर और बुश्च तथा साथ ही शौकिया मंडलियां-वर्कर्स कोरसेन आदि भी सम्मिलित थे।

ब्रेश्ट के ये विचार उसके 'शार्ट आर्गेनम' तथा 'गैलीलियो' के प्रथम प्रारूप की विषयवस्तु का पूर्वाभास देते हैं।]

इन सब में पूर्ववर्ती प्रयोगों, विशेष रूप से पिस्केटर की रंगशाला के प्रयोगों की परंपरा ही निहित थी। पहले ही उसके अंतिम प्रयोगों में तकनीकी उपकरणों के तर्क-संगत विकास ने अंततः यंत्रों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर दिया और प्रस्तुतीकरण की सुदर सादगी की ओर उन्मुख किया। प्रस्तुतीकरण की तथाकथित महाकाव्यात्मक शैली, जिसे हमलोगों ने श्रिफबायरडाम रंगशाला में विकसित किया था, अपेक्षाकृत शीघ्र ही अपनी कलात्मक क्षमता प्रमाणित कर सकी और अरस्तू से भिन्न नाट्य-लेखन की पद्धति ने बड़े पैमाने के सामाजिक उद्देश्यों के अनुकूल विषय-वस्तु को बड़े पैमाने पर प्रस्तुत करना आरंभ किया। इस बात की कुछ संभावनाएं सामने आईं कि मायरहोल्ड-पद्धति की नृत्यगति-संयोजना तथा समूहीकरण के कुछ पहलुओं को मात्र कारीगरी से उठाकर कला में परिवर्तित किया जा सके और स्तानि-स्लाव्स्की-पद्धति के प्रकृतिवादी तत्वों का यथार्थवाद में रूपांतरण किया जा सके। रंगभाषण को भावमुद्रा-विज्ञान से जोड़ा गया था। रोजमर्रे की भाषा और पद्यकथन, दोनों का निर्माण तथाकथित भावमुद्रा-विज्ञान के सिद्धांत पर किया गया था। रंगमंच-परिकल्पन में तो पूरी क्रांति ही हो गई। पिस्केटर के सिद्धांतों के स्वच्छंद प्रयोग द्वारा एक ऐसे दृश्यपीठ का परिकल्पन संभव हो सका जो शिक्षात्मक और सुंदर, दोनों था। प्रतीकवाद और भ्रमस्थिति करीब करीब छोड़ ही दिये गए। अभिनेताओं के पूर्वाभ्यासों में अनुभव की गई आवश्यकताओं के अनुकूल दृश्यपीठ निर्माण के नेहेर के सिद्धांत ने रंगसज्जाकार को अभिनेताओं के कलासर्जन से लाभ उठाने और फिर उसे प्रभावित भी करने का अवसर दिया। नाट्यरचनाकार अब अभिनेता और रंगसज्जा-कार के अबाधित सहयोग के साथ अपने प्रयोगों को क्रियान्वित कर सकता था। वह प्रभावित होता था और प्रभावित कर भी सकता था। साथ ही साथ चित्रकार और संगीतकार को पुनः स्वाधीनता प्राप्त हुई और विषयवस्तु के प्रति अपने दृष्टिकोण को अपने ही कला-माध्यमों द्वारा व्यक्त करने का उन्हें अवसर भी प्राप्त हुआ। समन्वित कलाकृति प्रेक्षकों के समक्ष विभिन्न अलग-अलग तत्वों के समूह के रूप में उपस्थित हुई।

आरंभ से ही कालजयी नाटकावली ने इनमें से अनेक प्रयोगों के लिए आधार प्रदान किया। पृथक्कीकरण के कलात्मक साधनोंने पिछले युगों के नाटककारों की

सजीव कृतियों के प्रति विस्तृत दृष्टिकोण संभव बनाया। उन्हीं की सहायता से ऐसे मूल्यवान पुराने नाटकों को इस प्रकार प्रस्तुत करना संभव हो सका कि न तो उनके आधुनिकीकरण को तनिक भी क्षति पहुंचे और नहीं वे म्यूजियम की चीज बन उठें। साथ ही ऐसे प्रस्तुतीकरण में मनोरंजकता और शिक्षात्मकता दोनों का समावेश हो सका।

स्पष्ट ही समकालीन शौकियारंगमंच, श्रमिकरंगमंच, विद्यार्थीरंगमंच और बाल-रंगमंच पर इसका विशेष रूप से अच्छा प्रभाव पड़ा है क्योंकि इसमें हिप्नोसिस द्वारा काम करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह बात विचारणीय प्रतीत होती है कि रंगमंच के मूलसिद्धांतों को बलिदान किए बिना ही शौकिया और व्यवसायी अभिनेताओं के अभिनय के बीच एक रेखा खींची जाए।

इस नई आधारशिला पर दखतानगोव या ओख्लोपकोव के दलों तथा श्रमिक-संगठनों के नितान्त भिन्न शैलियों के अभिनयों के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। आधी शती के बहुमुखी प्रयोगों ने एक ऐसा आधार उपलब्ध कर लिया है जिससे उनका दोहन संभव हो सका है।

तब भी इन प्रयोगों का वर्णन कर सकना उतना आसान नहीं है। यहाँ मैं अपना केवल यह विश्वासमात्र प्रकट कर सकता हूँ कि पृथक्कीकरण के आधार पर कलात्मक सूझबूझ को हम निस्संदेह प्रोत्साहित कर सकते हैं। यह बात बहुत आश्चर्यजनक नहीं है। क्योंकि यदि तकनीक की दृष्टि से कहा जाए तो विगत युगों के रंगमंचों ने पृथक्कीकरण की युक्तियों द्वारा नतीजे उपलब्ध किये हैं। चीनी रंगमंच, स्पेन का प्राचीन रंगमंच, ब्रूएघेल के युग का लोकप्रिय रंगमंच और एलिजाबेथ युगीन रंगमंच इसके उदाहरण हैं।

तब क्या प्रस्तुतीकरण की यह नई शैली एकमात्र नई शैली है? क्या यह पूर्ण और व्यापक तकनीक है? प्रत्येक प्रयोग का अन्तिम निष्कर्ष? उत्तरः नहीं, यह एक मार्ग है। वह मार्ग जिसपर हमलोग चले हैं। प्रयत्न तो जारी ही रहना चाहिये। यह समस्या सभी कलाओं के लिए है, और यह विशाल समस्या है। यहाँ जिस हल को ध्येय बनाया गया है वह समस्या के संभावित अनेक हलों में से मात्र एक है। उन समस्याओं को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: किस प्रकार रगमंच शिक्षात्मक और मनोरंजक दोनों बन सकता है? इसे कैसे आध्यात्मिक मादकता के मार्ग से हटाया जा सकता है और भ्रमों के घर की बजाय अनुभवों के घर की ओर ले जाया जा सकता है? किस प्रकार हमारे युग का स्वतंत्रता और ज्ञान से हीन आदमी जिसमें स्वतंत्रता की भूख और ज्ञान की प्यास है, किस प्रकार पीड़ित और बहादुर, अभिशप्त और सर्जनशील, परिवर्तनीय और विश्व को परिवर्तित करने वाला, इस

महान और भयंकर युग का आदमी बिलकुल अपना रंगमंच पा सकेगा जो जगत पर और स्वयं अपने पर अधिकार पाने में उसे सक्षम कर सके ?

एपिक थियेटर

बहुत से लोग सोचते हैं 'एपिक थियेटर' [महाकाव्यात्मक रंगमंच] अपने में एक परस्पर विरोधी अवधारणा है, क्योंकि अरस्तू की परंपरा को स्वीकारते हुए यह मान लिया जाता है कि कहानी कहने का महाकाव्यात्मक और नाटकीय तरीका बिलकुल अलग-अलग है। लेकिन इस सचाई पर पहले कभी गौर नहीं किया गया कि दोनों के बीच फर्क महज इसलिए है कि एक की प्रस्तुति सजीव मनुष्यों के माध्यम से होती है, जबकि दूसरा शब्दों द्वारा क्रियाशील होता है। दूसरी ओर, होमर की, और मध्यकालीन गायकों की महाकाव्यात्मक कृतियाँ एक स्तर पर नाट्यप्रस्तुतियाँ भी हैं; जबकि गेटे के 'फाउस्ट' और बायरन के 'मैनफ्रेड' जैसे नाटकों के लिए यह स्वीकार कर लिया गया है कि वे पुस्तकों के रूप में पढ़े जाने पर ही प्रभावी होते हैं। महान अरस्तू की परिभाषा के अनुसार महाकाव्यात्मक और नाटकीय रूपों के बीच का फर्क उसकी बनावट की पद्धतियों में निहित है जिसके नियमों का विवेचन सौन्दर्यशास्त्र की अलग-अलग शाखाओं में किया जाता है। बनावट की पद्धति, ग्रहण करने वाली जनता के समक्ष, कृति को प्रस्तुत करने के अलग-अलग ढंग पर निर्भर है : रंगमंच के जरिये और किताब के रूप में। इसके अलावा एक तथ्य यह भी है कि महाकाव्यात्मक कृतियों में कुछ नाटकीय तत्व होते हैं और नाटकीय रचनाओं में महाकाव्यात्मक तत्व। पिछली सदी के बुर्जुआ उपन्यासों ने अपने में ऐसा बहुत कुछ विकसित किया जिसे नाटकीय कहा जा सकता है : जैसे कहानी का मजबूत केंद्रीकरण, जिसके कारण अलग-अलग हिस्से पारस्परिक संबंधों में बँध जाते हैं। चरित्रों द्वारा बोले गये शब्दों को लिखने की एक खासप्रवृत्ति और विभिन्न ताकतों की टकराहट पर जोर देना भी नाटकीयता की खास पहचान है, जो उन उपन्यासों में दिखाई पड़ती है। महाकाव्यलेखक डोब्लिन ने एपिक में ड्रैमैटिक को पहचाने के लिए एक कसौटी दी : एक कैंची लीजिये और एपिक के अलग-अलग टुकड़ों को काट लीजिये, फिर देखिये ये टुकड़े स्वतंत्र रूप से अभिनेताओं द्वारा सजीव किये जा सकते हैं या नहीं।

यहाँ यह बताने का तो अवसर नहीं है कि एक लंबे समय तक पूरी तरह परस्पर विरोधी समझे जाने वाले महाकाव्यात्मक [एपिक] और नाटकीय [ड्रैमेटिक] की कठोर सीमारेखा घिसती गई लेकिन यहाँ मैं इतना इशारा कर देता हूँ कि अकेले रंगमंच की तकनीकी प्रगति ही इतनी ज्यादा हो गई थी कि नाट्यप्रस्तुतियों में वर्णनात्मक सामग्रियों को आसानी से समाविष्ट किया जा सकता था। मशीनीकरण

के कारण रंगमंच की जरूरत के मुताबिक बदलने की बढ़ती हुई क्षमता, प्रक्षेपण और फिल्म के उपयोग की संभावनाएँ आदि ने रंगमंच को बहुत अधिक साधन-संपन्न बना दिया। और यह सब एक ऐसे युग में हुआ जब जनता के बीच पारस्परिक संप्रेषण की अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या को पुराने नाटकों की तरह चरित्रों को अदृश्य अध्यात्मिक शक्तियों से संचालित दिखा कर या स्वयं उन शक्तियों का मानवीकरण करके नहीं सुलझाया जा सकता था। इन संप्रेष्य चीजों की समझदारी विकसित करने के लिए, लोग जिस परिवेश में जी रहे थे उसे एक बड़े पैमाने पर और अर्थपूर्ण तरीके से पेश करना था।

चालू नाटकों में यह परिवेश दिखाया तो जाता रहा है लेकिन सिर्फ उस तरह से जैसा केन्द्रीय चरित्र के नजरिये से दिखाई पड़ता है, न कि एक स्वतंत्र तत्व की तरह। परिवेश को नायक की उसके प्रति दी गई प्रतिक्रियाओं से परिभाषित किया जाता था। इसे वैसे ही देखा जाता था जैसे कोई किसी समुद्री तूफान को पानी की सतह पर तैरते जहाजों के पालों को खोलने और उन्हें हवा से फुलाने की क्रिया में देखे। एपिकथियेटर में परिवेश स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत किया जाता है।

रंगमंच ने अब कहानी कहना शुरू किया। चौथी दीवार गायब हो गई और कथागायक मंच पर आ गया। अब पृष्ठभूमि रंगमंच पर घटने वाली घटनाओं के प्रति अपना स्वतंत्र रुख अख्तियार करने लगी, उनपर टिप्पणियाँ जड़ने लगी। मंच के चौड़े पर्दों पर समानांतर अन्यत्र घटित होने वाली घटनाएँ दिखाई जाने लगीं, दस्तावेजों के प्रक्षेपण द्वारा मंच पर चरित्रों द्वारा कही गई बातों की पुष्टि या प्रत्याख्यान किया जाने लगा; अमूर्त वार्तालाप को स्पष्ट करने के लिए ठोस अंक और आँकड़े उपस्थित किये जाने लगे; अभिनटन द्वारा व्यंजित अस्पष्ट सूचनाओं को अच्छी तरह समझाने के लिये चित्रों और लिखित वाक्यों का प्रयोग किया जाने लगा। इतना ही नहीं, अभिनेताओं को भी अपनी भूमिकाओं में पूरी तरह डूबने से मना किया गया ताकि जिन चरित्रों को वे निभा रहे हैं उनसे थोड़ा अलगाव बनाये रख सकें और इस तरह सीधे अपनी आलोचना करने के लिये दर्शकों को आमंत्रित करें।

अब दर्शकों को इस बात का मौका नहीं दिया जाता था कि वे नाटक के चरित्रों के साथ समानुभूति की स्थापना कर अनुभवों में बिना विवेक-आलोचना के डूबें जिसका कोई व्यावहारिक नतीजा न निकलने वाला हो। प्रस्तुति में विषयवस्तु और घटनाओं को पृथ्थकीकरण या भावनिरपेक्षता [एलियेनेशन] की एक प्रक्रिया के तहत उपस्थित किया जाता। भावनिरपेक्षता समझदारी हासिल करने के लिए निहायत जरूरी है। जब कोई चीज बेहद स्पष्ट नजर आए, कि दुनिया में ऐसा तो होता ही है तो इसका मतलब है कि दुनिया को समझने-समझाने की कोशिश बिल्कुल ही छोड़ दी गई है।

जो कुछ सहज-स्वाभाविक है उसके पीछे चौंका देनेवाली ताकत होनी चाहिए। कार्य और कारण के संबंधों को दिखाने का यही एकमात्र तरीका है। लोगों की क्रियाएँ जैसी होती हैं वैसी ही होनी चाहिए लेकिन साथ ही साथ अलग किस्म की भी दिखाई देने के योग्य होनी चाहिए।

यह सब एक बहुत बड़ा बदलाव था।

नाटकीय नाट्य [ड्रैमेटिक थियेटर] का दर्शक कहता है : हाँ मैंने भी ऐसा ही अनुभव किया है – बिल्कुल मेरे ही जैसा—यह निहायत कुदरती है—यह कभी नहीं बदलेगा—इस आदमी की यातना-पीड़ा मुझे भयाक्रांत करती है क्योंकि यह अपरिहार्य है—यह महान कला है; यहाँ दुनिया की साफ सच्चाई दिखाई पड़ती है—जब वे रोते हैं तो मैं भी रोता हूँ--जब वे हँसते हैं तब मैं भी हँसता हूँ।

महाकाव्यात्मक नाट्य [एपिक थियेटर] का प्रेक्षक कहता है :--मैं तो ऐसा सोच भी नहीं सकता था--यह कोई तरीका नहीं है--यह बिल्कुल असाधारण है, इसपर मुश्किल से यकीन किया जा सकता है--इसे बंद होना होगा--इस आदमी की पीड़ा-यातना मुझे व्यथित करती है क्यों कि यह गैरजरूरी है--यह बड़ी ऊँची कला है; इसमें वही बात नही है जो पहले से ही जानी हुई थी--जब वे रोते हैं तो मैं हँसता हूँ और मैं रोता हूँ जब वे हँसते हैं।

नीचे दी गई सारिणी में ड्रैमेटिक [नाटकीय] नाट्य और एपिक नाट्य के बीच तत्वों पर पड़ने वाला बल किस तरह बदल जाता है यही दिखाया गया है। [यह सारिणी तत्वों के बीच संपूर्ण ध्रुवीय विरोधात्मक स्थितियाँ नहीं सूचित करती बल्कि सिर्फ बलाघातों के फर्क को दिखाती है। उदाहरणार्थ किसी तथ्य के संप्रेषण के लिये हम इस बात के बीच चुनाव कर सकते हैं कि संवेगात्मक संकेतों पर जोर देकर काम निकाला जाए या सीधे सीधे तार्किक बहस कराई जाए।

ड्रैमेटिक नाट्य	**एपिक नाट्य**
संविधानक [प्लाट]	कथावर्णन [नैरेटिव]
दर्शक को मंचीय स्थितियों में उलझाकर उसी में डुबो देता है	दर्शक को घटनाक्रम के प्रेक्षक की हैसियत में ले आता है, लेकिन
उसकी क्रियाशीलता की क्षमता को चुका डालता है	उसमें क्रियाशील होने की क्षमता जगाता है
उसे सनसनी-उत्तेजना प्रदान करता है	उसे निर्णय लेने के लिये विवश करता है
अनुभव	**दुनिया की तस्वीर**
दर्शक किसी चीज में संलग्न हो जाता है, डूब जाता है	उसका किसी चीज से सामना कराया जाता है

ड्रैमेटिक नाट्य	एपिक नाट्य
संकेत-इशारा	तर्क-बहस
मूलप्रवृत्यात्मक भावनाएँ उभाड़ी जाती हैं	उसे पहचान के नुक्ते पर ले आया जाता है
दर्शक नाट्य का ही एक अंग बन जाता है, उसमें डूब जाता है	दर्शक नाट्य के बाहर रह कर उसे देखता है
अनुभवों का भागीदार बनता है	अध्ययन करता है
मानव को यथास्थिति स्वीकार कर लिया जाता है	मानव को जिज्ञासा-परीक्षण के विषय के रूप में लिया जाता है
मनुष्य को बदला नहीं जा सकता	उसे बदला जा सकता है और वह बदल सकता है
निगाहें पूर्णता लाने, अंत की ओर होती हैं	प्रक्रिया, रास्ते की ओर निगाहें जमती हैं
एक दृश्य से दूसरा निकलता है	प्रत्येक दृश्य अपने में पूरा होता है
उगना-बढ़ना [ग्रोथ]	मोंताज
रेखीय विकास	घुमावदार
क्रमविकासात्मक निश्चयवाद	उछाल-छलाँग
मानव एक निश्चित इकाई के रूप में	मानव एक प्रक्रिया की शक्ल में
विचार स्थिति-अस्तित्व [बीइंग] को को निश्चत करता है	सामाजिक-स्थिति विचार पैदा करती है
भावानुभव [फीलिंग]	कारण-तर्क, युक्ति

जब एपिक थियेटर की पद्धतियाँ आपेरा [गीतिनाट्य] में घुसने लगीं तो उसका पहला नतीजा यह हुआ कि इसके तत्वों में बहुत क्रांतिकारी बदलाव आने लग गए। आपेरा में संगीत, प्रस्तुति, और शब्दों के बीच अपना अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये एक प्रकार का संघर्ष चला करता है जिससे एक सवाल हमेशा पैदा होता है कि कौन-सी चीज के लिये कौन-सी चीज बहाना है? यानी मुख्य क्या है और गौण क्या है? क्या रंगमंच पर होनेवाली घटनाओं को मुख्यता देने के लिये संगीत एक बहाना भर है या फिर संगीत ही मुख्य है और घटनाएँ उसकी सहायता भर करती हैं। लेकिन एपिकथियेटर ऐसे सबालों से आसानी के साथ निपट लेता है क्योंकि उसमें तत्वों को बिलकुल अलग अलग स्वतंत्र रखा जाता है। जब 'समन्वित कलाकृति' में समन्वय का मतलब फेंटना हो, जब कलाओं से यह उम्मीद की जाए कि वे सँगलित होकर एक दूसरे में विलीन हो जाएँ तो विभिन्न तत्व समान रूप से नीचे गिरेगें और उनमें से प्रत्येक दूसरों के लिये खाद्य-सामग्री भर बनकर रह जाएगा। संगलन-विलयन की यह प्रक्रिया दर्शक तक विस्तारित हो जाती है और वह भी गलानेवाली घरिया में जा गिरता है। इस तरह वह संपूर्ण कलाकृति का एक निष्क्रिय, भोगनेवाला हिस्सा भर बनकर रह जाता है। इस तरह की जादुई कीमियागिरी के खिलाफ लड़ाई जरूरी है। ऐसी कोई भी चीज जिसका मकसद संमोहन पैदा करना

हो, गन्दा नशा भी पैदा करती है और एक तरह के कुहरे से ढँकती है। इसे छोड़ देना चाहिए।

शब्द, संगीत और दृश्यरचना के बीच एक दूसरे से स्वतंत्रता और भी ज्यादा होनी चाहिए।

(क) संगीत

संगीत के लिये बल का स्थानांतरण निम्नलिखित रूप में सामने आया :

ड्रैमेटिक आपेरा	एपिक आपेरा
संगीत नाटक परोसने की थाली को सजाता है	संगीत संप्रेषण करता है
ऐसा संगीत जो पाठ्य को ऊँचाइयों पर ले जाता है	ऐसा संगीत जो पाठ्य को आगे बढ़ाता है
ऐसा संगीत जो पाठ्य की घोषणा करता है	ऐसा संगीत जो पाठ्य को यथावत् स्वीकार कर चलता है
संगीत जो चित्रण करता है	ऐसा संगीत जो अपनी खास जगह बनाता है
ऐसा संगीत जो मनोवैज्ञानिक स्थितियों का चित्रण करता है	संगीत जो भावाभिवृत्ति या रूख बनाता है

हमारी थीसिस में संगीत मुख्य भूमिका अदा करता है।

(ख) पाठ्यसामग्री

हमें मनोरंजन को बुद्धिहीनता और अतार्किकता से बचाने के लिये उसमें सीधा संदेश और शैक्षणिकता का समावेश करना था। इसके लिये जिस रूप-साधन का इस्तेमाल किया गया वह निष्कर्ष, उपदेशात्मक झाँको [टेब्लो] था। झाँकी की प्रस्तुति नाटक के पात्रों द्वारा की जाती थी। पाठ्यसामग्री को न तो निष्कर्ष-उपदेशवादी होना था न ही भावुकतापूर्ण। यहाँ तो निष्कर्ष-उपदेश और भावुकता को निरीक्षण के लिये दृश्य रूप में प्रस्तुत करना था। बोलेगये और लिखेगए शब्द भी उसी प्रकार महत्वपूर्ण थे। [प्रस्तुति में पोस्टरों आदि के रूप में लिखित सामग्री का भी उपयोग किया जाता था]। पढ़ने की क्रिया प्रेक्षकों में प्रस्तुति के प्रति अत्यंत स्वाभाविक अभिवृति पैदा करती थी।

दृश्यपीठ [सेटिंग]

नाट्यप्रस्तुतियों के हिस्से के रूप में स्वतंत्र कलाकृतियों का प्रदर्शन सामान्य से हटकर नया कदम था। नेहेर [दृश्यांकनकार] द्वारा रंगमंच के पर्देपर प्रक्षेपित चित्र मंच की नाट्य-घटनाओं के प्रति एक खास नजरिया विकसित करते थे। उसी तरह पर्दे पर चित्रांकित स्थिर दृश्य को मंच पर प्रस्तुत नाट्यघटनाएँ जैसे खोलती जाती थीं। नेहेर द्वारा रंगमंच पर प्रक्षेपित चित्र नाट्य के उसी प्रकार स्वतंत्र अवयव थे जिस प्रकार वील का संगीत या फिर नाट्यसामग्री। प्रक्षेपितचित्र मानों सहायक दृश्यसामग्री का काम करते थे।

अभिनय-शिक्षा की भूमिका

कोंस्तान्तिन स्तानिस्लाव्स्की

१

आज अपने निर्देशक से पहला पाठ पढ़ने का इंतजार करते हुए हमलोग उत्तेजित हो उठे थे। लेकिन हमारी कक्षा में आकर उन्होंने अप्रत्याशित सी घोषणा की कि हमलोगों से अच्छी तरह परिचित होने के लिए वे चाहते हैं कि हमलोग नाटकों का चुनाव कर उसके टुकड़ों का अभिनय करें। उन्होंने बताया कि वे हम लोगों को वेषभूषा और रूपसज्जा के साथ दृश्यसज्जायुक्त रंगमंच पर फुटलाइट्स और दूसरे प्रकाशउपकरणों की रोशनी में देखना चाहते हैं। तभी हमारे नाट्यगुणों के बारे में निर्णय करना संभव हो सकेगा।

इस प्रस्तावित परीक्षा के पक्ष में पहले कुछ थोड़े से लोग ही हुए। इनमें स्थूल काय युवा ग्रीशा गोवोर्कोव था जिसने किसी छोटी रंगशाला में पहले भी अभिनय किया था, सुनहरे बालों वाली लंबी खूबसूरत सोम्या वोलियामिनोवा थी और था जिंदादिल बकवादी वान्या व्यून्त्सोव।

धीरे-धीरे हम सभी लोग भावी परीक्षण-चयन की धारणा के प्रति अभ्यस्त हो गए। चमकती हुई फूटलाइट्स अधिकाधिक ललचाने लगी और प्रस्तावित नाट्याभिनय रोचक, उपयोगी और आवश्यक लगने लगा।

अपने चुनावों में हम यानी मैं और मेरे दो मित्र पाल शुस्तोव तथा लियो पुश्चिन पहले तो संकोच से वोडविल या हल्की कामदी की ही बात सोचते रहे। लेकिन अपने चारों ओर हम बड़े-बड़े नामों का उच्चारण सुन रहे थे—गोगोल, ओस्त्रोवस्की, चेखव आदि-आदि। अनजाने ही हमारी आकांक्षाएँ ऊँची होती गईं और हमलोग कुछ रोमांटिक काव्यात्मक भव्य परिधानयुक्त नाटक की बात सोचने लगे।

मैं मोजार्ट के व्यक्तित्व से प्रभावित था, लियो सैलिएरी के, पाल डान कार्लोस के बारे में सोच रहा था। फिर हम शेक्सपीयर के बारे में बातें करने लगे और मैंने खुद अपने लिए ओथेलो को चुना। जब पाल इयागो की भूमिका के लिये तैयार हो गया तब सब कुछ निश्चित सा हो गया। जब हम रंगशाला से निकल रहे थे, हमें बताया गया, पहला रिहर्सल कल होगा।

जब मैं देर से घर पहुँचा, मैंने ओथेलो की अपनी प्रति निकाली, आराम से सोफा पर जम गया, किताब खोली और पढ़ना शुरू किया। अभी मुश्किल से मैंने दो पृष्ठ ही पढ़े होगें कि अभिनय करने की तीव्र इच्छा मन में उठी। मेरे अनचाहे ही

मेरे हाथ, बाँहें, टाँगें, चेहरा, चेहरे की पेशियाँ, और कुछ मेरे भीतर, सब जैसे गतिशील हो उठे। मैं भावुकता के साथ नाट्य का पाठ करने लगा। सहसा मुझे हाथी-दाँत का बना कागज काटने का एक बड़ा चाकू दिखाई पड़ा। मैंने उसे अपनी कमर-पेटी में ऐसे खोस लिया मानो छुरा हो। तौलिए को सिर पर बाँध लिया। कँबल और चादर से गाउन और कमीज बनी। छाते को तेग बना लिया। लेकिन ढाल कहाँ गई ? तभी खयाल आया, बगल वाले भोजनकक्ष में एक बड़ी सी ट्रे पड़ी है। अब ढाल लेकर मैं अपने को असली योद्धा समझने लगा। लेकिन अब भी कुल मिलाकर मेरा स्वरूप आधुनिक सभ्य पुरुष जैसा ही था जबकि ओथेलो मूलत: अफ्रीकी था और उसमें जरूर ऐसा कुछ था जो आदिम जिंदगी का इशारा करता था, शायद बाघ जैसा। जानवर की चाल को याद करने, उसे अपनी चाल में ढालने और फिर पक्का करने के लिए मैने अभ्यासों की एक पूरी नई कड़ी ही शुरू कर दी।

मैंने अनुभव किया, इनमें से बहुत सारी गतियों में मुझे ऊँचे दर्जे की सफलता मिली है। गुजरते हुए वक्त का खयाल किए बगैर ही मैंने करीब पाँच घंटे मशक्कत की। इससे मुझे खुद को ऐसा लगा कि मेरी प्रेरणा असली थी।

२

मैं मामूल से काफी देर करके जगा, जल्दी से कपड़े पहने और थियेटर की ओर भागा। जब मैं रिहर्सल-कक्ष में घुसा जहाँ वे मेरा इंतजार कर रहे थे तो मैं इतना परेशान था कि माफी माँगने के बजाय लापरवाही भरी फबती कसी, 'लगता है मुझे जरा देर हो गई।' सहायक निर्देशक रखमानोव देर तक मुझे घूरता रहा और आखीर में उसने कहा—

"हमलोग यहाँ बैठे इंतजार कर रहे हैं, गुस्से से हमारी नसें तन गई हैं और तुम्हारे लिये बस 'लगता है जरा सी देर हो गई ?' हमलोग सामने पड़े काम को करने के उत्साह से भरे यहाँ आए और अब तुम्हारे कारण हमलोगों का मूड बिल्कुल उखड़ गया। कुछ सिरजने की इच्छा पैदा करना मुश्किल है लेकिन उस इच्छा को कुचल देना बेहद आसान है। अगर मैं अपने काम के साथ छेड़खानी करूँ तो बस यह मेरा निजी मामला है, लेकिन एक पूरी टोली के काम को रोक देने का मुझे क्या हक है ? अभिनेता को भी सिपाही की तरह ही फौलादी अनुशासन के तहत रहना चाहिए।

रखमानोव ने कहा कि मेरा अपराध पहला ही होने के कारण वे अपने को फट-कार तक ही सीमित रखेंगे और इसे विद्यार्थियों के लिये रखेजाने वाले रिकार्ड में नहीं दर्ज करेगें। लेकिन मुझे तुरंत सबसे माफी माँगनी पड़ेगी और भविष्य में मुझे नियम

बना लेना होगा कि रिहर्सल शुरू होने के समय से पंद्रह मिनट पहले ही पहुँच जाऊँ। मेरे माफी माँग लेने के बाद भी रखमानोव आज अब और काम करने के लिये तैयार नहीं हुए क्योंकि उनका कहना था कि किसी अभिनेता की जिंदगी में उसका पहला रिहर्सल एक घटना जैसा होता है और जहाँ तक हो सके उसके जेहन में उस रिहर्सल का सबसे अच्छा असर मौजूद रहना चाहिए। मेरी लापरवाही से आज का रिहर्सल तो चौपट हो ही चुका था, हमें आशा करनी चाहिए कि कलवाला याद-गार बनेगा।

० ० ०

इस रात मैं जल्दी ही बिस्तरे में घुस जाना चाहता था क्योंकि अपनी भूमिका पर काम करने में मुझे डर लगने लगा था। लेकिन मेरी निगाह वहाँ रखी चाक-लेट की एक टिकिया पर पड़ गई। मैंने थोड़े मक्खन के साथ उसे पिघलाया और ब्राउन रंग की लेई सी तैयार की। अब इसे मुँह पर पोत कर हब्शी (Moor) जैसी शक्ल बनाना आसान था। जब मैं शीशे के सामने बैठा अपने को निहार रहा था तो अपने दाँतों की चमक मुझे बहुत भा रही थी। मैंने उनका प्रदर्शन करना तो सीख ही लिया साथ ही यह भी सीखा कि अपनी आँखों को कैसे घुमाऊँ कि उनकी सफेदी दिखे। अपने मेकअप का पूरा फायदा उठाने के लिये मुझे कास्ट्यूम भी पहनाना था। और इस तरह जब मैं सजधज कर तैयार हो गया मुझे अभिनय करने की इच्छा होने लगी, लेकिन इसबार मैं कोई नई चीज नहीं खोज सका, जो कुछ मैंने कल किया था उसे बस दुहराता ही रह गया और अब उसकी खूबी भी खत्म होती दिखाई पड़ी। फिर भी मैंने अपने को दिलासा दिया कि ओथेलो को दिखाई कैसा पड़ना चाहिए इस बारे में मेरी धारणा थोड़ी विकसित हुई।

३

आज हमारा पहला रिहर्सल था। मैं समय से काफी पहले पहुँच गया। सहायक निर्देशक ने सुझाया कि हम दृश्यों की योजना बना लें और मंच-सामग्री सजा लें। सौभाग्य से पाल उन सब चीजों से सहमत होता गया जिनका मैं प्रस्ताव करता क्योंकि उसकी दिलचस्पी इयागो के भीतरी पहलुओं में ही थी। मेरे लिये बाहरी परिवेश सबसे ज्यादा अहमियत रखता था। उससे मुझे अपने निजी कमरे का ही अहसास होना चाहिए। इस तरह के माहौल के बिना मैं अपनी प्रेरणा को फिर से नहीं पकड़ सकता। तब भी मैं अपने आपको इस बात का यकीन दिलाने की चाहे जितनी कड़ी कोशिश क्यों न करूँ कि मैं अपने ही कमरे में हूँ, मेरा मन इसका विश्वास नहीं कर सका। उससे मेरे अभिनय में बस रुकावटें ही आती रहीं।

पाल ने अपना पार्ट पहले ही पूरी तरह से याद कर लिया था लेकिन मुझे अपना संवाद किताब से पढ़ना था या फिर मैं अटकल से काम चलाता। यह देखकर मैं अचरज में पड़ गया कि शब्दों से मुझे कोई सहायता नहीं मिल रही है। सचाई तो यह थी कि वे मुझे परेशान ही कर रहे थे; अतः मेरे लिये यही अच्छा होता कि या तो शब्दों को बिल्कुल ही छोड़ देता या कम से कम काट कर आधा तो कर ही देता। सिर्फ शब्द ही नहीं, कवि के विचार भी मुझे अपरिचित से मालूम पड़ रहे थे। यहाँ तक कि पाठ्य में निहित क्रियाएँ भी मुझसे उस स्वतंत्रता को छीनती सी लगीं जिसका अनुभव मैं अपने कमरे में करता था।

उससे भी खराब बात कि मैं अपनी ही आवाज नहीं पहचान रहा था। साथ ही घर पर अपने काम के दौरान मैंने जो योजनाएँ बनाई थीं और जो स्थितियाँ निश्चित की थीं वे पाल के अभिनय के साथ मेल नहीं खा रही थीं। उदाहरण के लिये ओथेलो और इयागो के बीच अपेक्षाकृत शांत दृश्य में मैं अपने दाँतों की चमक और आँखों का नचाना कैसे दिखा सकता था जो मुझे अपनी भूमिका में प्रविष्ट होने के लिये आवश्यक लगती थीं। तब भी जंगली आदमी की प्रकृति के अभिनय की जो निश्चित धारणा मैंने बनाई थी उसे छोड़ नहीं सकता था, नहीं मैं अपनी तैयार की हुई स्थिति से हट सकता था। शायद इसका कारण यह था कि उसके बदले रखने के लिये मेरे पास कुछ और नहीं था। मैंने भूमिका का पाठांश अलग करके पढ़ा था और चरित्र की भूमिका भी अलग से तैयार की थी लेकिन एक को दूसरे के साथ जोड़ा नहीं था। शब्द अभिनय में खलल डालते थे और अभिनय शब्दों में।

० ० ०

आज जब मैंने घर पर काम शुरू किया तो कोई चीज न मिलने पर पुरानी ही जमीन पर चला गया। मैं वही-वही दृश्यों और पद्धतियों को क्यों दुहराता चला जा रहा हूँ? क्यों मेरा आज का अभिनय पिछले तथा आने वाले कल जैसा ही है? क्या मेरी कल्पना सूख गई है या मेरे पास सामग्री का भण्डार नहीं है? क्यों शुरू-शुरू में मेरा काम इतनी तेजी से आगे बढ़ा और फिर यकायक एक जगह रुक गया। जब मैं ऐसी ही सारी बातें सोच रहा था मेरे बगल वाले कमरे में लोग चाय पीने इकट्ठे हुए। उनका ध्यान मेरी ओर न जाय इसलिये मुझे अपना क्रिया-कलाप कमरे के दूसरे हिस्से में ले जाना पड़ा और उन्हें सुनाई न पड़े इसलिये मुझे अपने संवाद जहाँ तक मुमकिन हो आहिस्ता बोलने पड़े।

अचरज है, इन थोड़े से परिवर्तनों से मेरे मूड में बड़ा बदलाव आ गया। मैंने एक रहस्य की खोज करली—बिल्कुल जानी हुई चीजों को दुहराते हुये एक ही बिंदु पर देर तक जमे मत रहो।

४

आज के रिहर्सल में शुरू से ही मैं आशुसर्जन [इम्प्रोवाइज] करने लगा। इधर-उधर टहलने के बजाय मैं कुर्सी पर बैठ गया और मुद्रा-भंगी, गति, आँखों को नचाए या मुँह बनाये बिना ही अभिनय करने लगा। नतीजा क्या हुआ ? मैं तुरत चकरा गया और पाठ तथा अभ्यस्त काकु [Intonation] भूल गया। मैं रुक गया। अभिनय के अपने पुराने तरीके, बल्कि पुरानी अभिनय-क्रियाओं पर लौटने के सिवा और कोई उपाय नहीं रह गया। मैं अपनी पद्धतियों का नियंत्रण नहीं कर रहा था बल्कि वे मेरा नियंत्रण कर रही थीं।

५

आज के रिहर्सल में कोई बात नहीं पैदा हुई। फिर भी रिहर्सल की जगह और नाटक के प्रति मैं अधिक अभ्यस्त होता जा रहा हूँ। पहले तो हब्शी ओथेलो को चित्रित करने का मेरा तरीका इयागो के लिये पाल के तरीके से बिल्कुल ही मेल नहीं खा रहा था। आज ऐसा लगा मानो सचमुच हमलोगों ने मिलजुल कर दृश्यों को ठीक-ठाक करने में कुछ सफलता पाई है। कम से कम खटकने वाली कमियों का एहसास मुझे कम तीखेपन के साथ हुआ।

६

आज हमारा रिहर्सल बड़े रंगमंच पर था। कहाँ तो मैं उसके माहौल–असर का हिसाब लगा रहा था और हुआ क्या ? तलबत्तियों की चकाचौंध और गलियारों [Wings] में भरे तरह-तरह के दृश्यखण्डों की चरमराहट की जगह मैंने अपने आपको एक सूनसान और मद्धिम रोशनी वाली जगह में पाया। पूरा विशाल रंगमंच खुला और खाली पड़ा था। बस तलबत्तियों के पास थोड़ी सी सादी बेंत की कुर्सियाँ पड़ी थीं जिनसे हमने सेट की रूपरेखा बनाने की कोशिश की थी। दाहिनी ओर प्रकाशउपकरणों के टाँड़ थे। अभी मैंने मंच पर पाँव रखा ही था कि सामने प्रोसीनियम के विशाल रंगद्वार का आभास मिला जिसके उसपार अंधेरा कुहरा असीम रूप से फैला था। पीछे से रंगमंच की मेरे ऊपर पहली छाप यही थी।

'शुरू करो', किसी ने आवाज दी।

बेंत की कुर्सियों से बने ओथेलो के कमरे की रूपरेखा में जाकर मुझे अपनी जगह लेना था। मैं उनमें से एक कुर्सी पर बैठ गया लेकिन वह गलत कुर्सी साबित हुई। मैं अपने सेट के नक्शे को भी नहीं पहचान पा रहा था ? लंबे अर्से तक मैं न तो उस माहौल में अपने को सधा पाया नहीं अपने ध्यान को अपने चतुर्दिक होने

वाली क्रियाओं पर ही जमा पाया। मुझे पाल की ओर देखना भी मुश्किल लग रहा था जो बिल्कुल मेरे बगल में ही खड़ा था। मेरी निगाह उसपर से होती हुई प्रेक्षागृह में विचरण कर रही थी या फिर मंच के पीछे से गुजरती हुई नेपथ्य के कमरों में जा रही थी जहाँ लोग सामान लिये इधर-उधर जा रहे थे, वाद-विवाद कर रहे थे या कुछ ठोकपीट रहे थे।

अचरज की बात थी कि मैं यांत्रिक ढंग से बोले और अभिनय किये चला जा रहा था। अगर मैंने घर पर इतने अधिक अभ्यास न किये होते जिन से मेरे भीतर दृश्यक्रियाएँ बैठ गई थीं तो संवाद शुरू करते न करते मुझे रुक जाना पड़ता।

७

आज हमें मंच पर दूसरा रिहर्सल करना था। मैं जल्दी ही पहुँच गया और मैंने तय किया कि सीधे रंगमंच पर ही अपने को तैयार करूँ। आज मंच कल से बिल्कुल अलग था। मंच-सामग्री और दृश्यखंड लगाए जा रहे थे जिससे काम की गहमा-गहमी मची हुई थी। इस उथल-पुथल में मैं भला घर का वह शांत एकांत कहाँ पा सकता था जिसमें ही अपनी भूमिका में प्रवेश करने का मुझे अभ्यास था। अब सबसे पहले यह जरूरी हो गया कि मैं अपने को इस नये माहौल में सधाऊँ। मैं मंच के अग्रभाग में चला गया और तलबत्तियों के उसपार भयावह रंगद्वार में से घूरने लगा ताकि मैं उससे अभ्यस्त हो जाऊँ और उसके खिंचाव से अपने को मुक्त कर सकूँ। लेकिन उस स्थान के प्रति जितना ही लापरवाह होने की कोशिश करता, खयालों में उसका ध्यान उतना ही जोर पकड़ता जाता। तभी मेरे पास से गुजरते एक कामगार के हाथों से कीलों का डिब्बा गिर पड़ा। मैं उन्हें बटोरने में उसकी मदद करने लगा। जब मैं इस काम में लगा था, उस विशाल रंगमंच पर मुझे सहजता और आश्वस्ति की बड़ी सुखद अनुभूति हुई। लेकिन कीलें तो तुरत बटोर ली गईं और मैं फिर उस स्थान के आकार से आक्रांत हो गया।

मैं जल्दी-जल्दी नीचे आर्केस्ट्रा में उतर आया। दूसरे दृश्यों के रिहर्सल शुरू हो गये। लेकिन मैं कुछ देख सुन न सका। अपनी बारी का इंतजार करते हुए मैं बेहद उत्तेजना से भरा था। इंतजारी की इस अवधि का एक अच्छा पहलू भी है। यह आपको ऐसी दशा में पहुँचा देती है कि फिर आपकी यही कामना होती है कि बस जल्दी से बारी आ जाए और भय का सामना करके उससे उबर जाएँ।

और जब मेरी बारी आ ही गयी तो मैं रंगमंच पर चढ़ गया, जहाँ विविध प्रस्तुतियों की दृश्यावलियों से चुनकर इकट्ठे किये गये टुकड़ों से हमारे सेट की

रूपरेखा तैयार की गयी थी। कुछ हिस्सों को उल्टी तरफ से लगा दिया गया था और फर्नीचर में भी अजीब घालमेल था। तब भी, अब जबकि रोशनियाँ जला दी गयी थीं, कुल मिलाकर रंगमंच ऊपर से खुशनुमा लग रहा था और ओथेलो के लिए तैयार किये गये इस कमरे में मैं इतमिनान का एहसास कर रहा था। अपनी कल्पना को काफी खींचने पर उसमें मुझे अपने निजी कमरे का अपनापन भी महसूस होने लगा। लेकिन जिस लमहा पर्दा ऊपर उठा और प्रेक्षागार सामने प्रकट हुआ, मैं फिर अपने को उसकी ताकत के चँगुल में फँसा महसूस करने लगा। उसके साथ ही कुछ नई अप्रत्याशित अनुभूतियाँ भी मेरे भीतर उमड़ने लगीं। सेट अभिनेता को एक बाड़े में घेर देता है। रंगमंच के पिछले क्षेत्र को बंद कर देता है। उसके सिर के ऊपर बड़ी खाली जगहें होती हैं। बाजुओं में विंग होते हैं, जिनसे कमरे की रूपरेखा बनती है। यह नीम अलगाव खुशनुमा तो होता है, लेकिन इसकी एक खराब बात यह कि इससे ध्यान बरबस दर्शकों पर चला जाता है। एक दूसरा नया नुक्ता यह पैदा हुआ कि मेरे भीतर का डर मुझे इस बात के लिए विवश करने लगा कि मैं दर्शकों में रुचि पैदा करने के लिए कुछ करूँ। मेरा यह कर्त्तव्यबोध अभिनयक्रियाओं में मेरे डूबने की राह में बाधक बनने लगा। मैं रंगभाषण और रंगक्रियाओं, दोनों में जल्दबाजी करने लगा। मेरी प्रिय जगहें, जहाँ मुझे जमकर ऐक्टिंग करनी थी, इस कदर तेजी से भागती नजर आयीं, जैसे चलती गाड़ी से तार के खंभे। बस जरासी हिचकिचाहट होती और आफत का पहाड़ टूट पड़ता।

८

ड्रेस रिहर्सल के लिए चूँकि मुझे ही अपने मेकअप और कास्ट्यूम का इंतजाम करना था, आज मैं मामूल से भी जल्दी रंगशाला पहुँच गया। मुझे एक अच्छा सा प्रसाधनकक्ष [ड्रेसिंगरूम] मिल गया। एक राजशाही गाउन भी मिला, जो बिलकुल म्यूजियमपीस जैसा था और 'मरचेंट ऑफ वेनिस' में मोरक्को के राजकुमार द्वारा काम में लाया जाता था। मैं प्रसाधन-मेज के सामने बैठा था, जिसपर तरह तरह के विग्स, बालों के गुच्छे, लैकर के डिब्बे, ग्रीजपेंट, पावडर, बुरुश आदि फैले थे। मैंने एक बुरुश से गहरा ब्राउन रंग चेहरे पर लगाना शुरू किया, लेकिन वह इतनी जल्दी सूख जाता कि उसका दाग तक न पड़ने पाता। फिर मैंने रंग से चेहरे को धोने की कोशिश की, लेकिन उसका भी कोई नतीजा न निकला, तब मैंने रंग को अँगुली पर लेकर फिर उसे चेहरे पर पोतने की कोशिश की लेकिन किस्मत ने तब भी साथ न दिया। आखिर में उस हल्के नीले रंग को इस्तेमाल करने में ही मुझे कुछ सफलता मिल सकी, जिसके बारे में मेरा खयाल था कि ओथेलो के मेकअप में उसकी कोई संभावना नहीं। मैंने चेहरे पर लैकर लगाकर बाल

चिपकाने की कोशिश की। लैकर से मेरी चमड़ी में चुभन होने लगी और बाल चेहरे से सीधे सख्त चिपक गये। मैं एक के बाद दूसरे विग को पहन-पहनकर जाँचने लगा। मेकअप रहित चेहरे पर ये विग ऊपर से पहने गये साफ नजर आ रहे थे। इसके बाद मैंने जो कुछ मेकअप पोत रखा था, उसे धो डालने की कोशिश करने लगा, लेकिन मुझे इसकी कोई जानकारी नहीं थी।

तभी मेरे कक्ष में एक दुबला-पतला लंबा आदमी घुसा, जो लंबा सफेद चुन्नटदार जामा पहने था और चश्मा चढ़ाये था। वह झुककर मेरे चेहरे पर काम करने लगा। पहले तो उसने वेसलीन से वह सब साफ किया, जो मैंने चेहरे पर लगा रखाथा और तब नये सिरे से रंगों को लेकर शुरू किया। जब उसे लगा कि रंग सख्त हो गये हैं तो उसने एक बुरुश को किसी तेल में डुबोया। उसने मेरे चेहरे पर भी तेल मला। अब इस सतह पर बुरुश से रंग सुगमतापूर्वक फैलाये जा सकते थे। तब हब्शी [मूर] के शरीर-रंग के अनुरूप उसने मेरे चेहरे पर कालिख जैसा रंग चढ़ा दिया। मुझे अपने चाकलेट वाले अधिक गहरे रंग की कमी कुछ खली, क्योंकि उससे मेरे दाँत और मेरी आँखें चमकने लगती थीं।

जब मेकअप पूरा हो गया और परिधान धारण कर लिया तो मैंने आइने में नजर डाली। मैं मेकअपमैन की कला और अपनी छवि के समग्र प्रभाव से खुश हो उठा। मेरी बाहों और शरीर के कोण उस ढीले-ढाले लिबास में खो गये और मैंने जिन मुद्रा-भंगिमाओं का अभ्यास किया था, वे इस परिधान में फब उठीं। पाल और कुछ दूसरे साथी भी प्रसाधनकक्ष में आये और उन्होंने मेरी रूप-छवि पर मुझे बधाइयाँ दीं। उनकी उदार प्रशंसा से मेरा पुराना आत्मविश्वास मुझमें फिर से पैदा हो गया। लेकिन जब मैं मंच पर गया तो फर्नीचर की जगहों को बदली हुई देखकर डिस्टर्ब हो गया। एक हत्थेवाली कुर्सी को अस्वाभाविक तरीके से दीवाल से आगे खिसका कर दृश्य के बीचोबीच ला रखा गया था और मेज मंच के अग्रभाग में जरूरत से ज्यादा पहुँच गयी थी। ऐसा लगा मानो प्रदर्शन के लिए मुझे अत्यंत विशिष्ट जगह पर रखने की कोशिश की गयी थी। उत्तेजना से भरकर मैं आगे-पीछे टहलने लगा और अपने पोशाक की चुन्नटोंमें से कटार की मूठ पर हाथ जमाये रहा। मैं अपने छुरों को फर्नीचर और दृश्यखंडों के कोनों पर आजमाता भी रहा। किंतु इससे मेरे संवादों की अनायास अदायगी और मंच पर लगातार चलने वाली क्रियाओं में कोई रुकावट नहीं पड़ी।

सारी चीजों के बावजूद ऐसा लगता था कि मैं दृश्य के अन्त तक पहुँच ही जाऊँगा; फिर भी जब मैं अपनी भूमिका के शिखर-क्षण पर पहुँचा तो मेरे दिमाग में यह बात कौंधी 'अब मैं अटक जाऊँगा', इससे मैं भयग्रस्त हो गया और मेरा बोलना

रुक गया। मुझे पता नहीं कि फिर कैसे मुझे अभिनय-संवाद अदा करने की प्रेरणा मिली। लेकिन एक बार फिर मैं बच गया। मेरे मन में बस एक ही बात थी, किसी तरह जल्दी-से-जल्दी खत्म करूँ, मेकअप उतारूँ और थियेटर से भाग खड़ा होऊँ।

और अब मैं अपने घर अकेले हूँ और बेहद नाखुश हूँ। सौभाग्यवश लियो मुझसे मिलने पहुँच गया। उसने मुझे दर्शकों में बैठे देख लिया था और अपने अभिनय के बारे में मेरी राय जानना चाहता था। लेकिन मैं उसे कुछ बता नहीं सका क्योंकि यद्यपि मैं उसका अभिनय देख रहा था तथापि अपनी बारी की प्रतीक्षा करते हुए मैं इतना उत्तेजित था कि किसी चीज पर ध्यान नहीं जमा सका था।

लियो ने ओथेलो की भूमिका और नाटक के बारे में आत्मीयता से बातें की। उसकी यह व्याख्या कि 'डेसडिमोना जैसी खूबसूरती की पुतली में भी इतनी बुराई बस सकती है यह जान कर वह हब्शी आघात, दु ख और अचरज से कितना मर्माहत हो उठता है' मुझे खासतौर से दिलचस्प लगी।

जब वह चला गया तो मैंने उसकी व्याख्या की रोशनी में भूमिका के कुछ अंशों को फिर से पढ़ा। उस हब्शी के लिए मुझे इतना अफसोस हुआ कि मैं रो पड़ा।

६

आज प्रदर्शन-प्रस्तुति का दिन है। मैंने सोचा जो कुछ होने वाला है उसका ठीक-ठीक अंदाज मैं पहले ही लगा लूँगा। प्रसाधन-कक्ष में पहुँचने के पहले तक मैं पूरी तरह उदासीन था, लेकिन भीतर घुसते ही मेरे दिल की धड़कन बढ़ गई और मुझे मतली सी आने लगी।

रंगमंच पर मुझे परेशान करने वाली पहली चीज थी असामान्य गंभीरता, चारों ओर छायी पूर्ण व्यवस्था और निस्तब्धता। जब मैं विंग के अंधेरे से निकल कर फुट-लाइटों, हेडलाइटों और स्पाटलाइटों की जगमगाती पूरी रोशनी में पहुँचा तो पूरी तरह से चौंधिया गया। प्रकाश की चमकार इतनी तेज थी कि मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो मेरे और प्रेक्षागृह के बीच रोशनी का एक पर्दा तन गया है। मुझे दर्शकों से सुरक्षा का एहसास हुआ और क्षण भर के लिए मैंने आजादी से साँस ली। लेकिन जल्दी ही मेरी आँखें रोशनी की अभ्यस्त हो गईं और वे प्रेक्षागृह के अंधेरे में देखने लग गईं। इस समय मुझे दर्शकों का डर और खिचाव इतना ज्यादा महसूस हुआ जितना पहले और कभी नहीं हुआ था। मैं अपने को पूरी तरह बाहर उँड़ेलने के लिए, वह सबकुछ देने के लिए जो मेरे पास था, बिल्कुल तैयार था लेकिन अपने

भीतर इतना खालीपन, इतना रीता मैंने पहले कभी महसूस नहीं किया। मुझमें जितना भावावेग था उससे ज्यादा निचोड़ने की कोशिश ने, असम्भव को कर डालने की शक्तिहीनता ने, मुझमें एक ऐसा डर पैदा कर दिया कि मेरा चेहरा और हाथ पत्थर जैसे सख्त हो गए। अस्वाभाविक और निष्फल प्रयासों में मेरी सारी ताकत खत्म हो गई। मेरा गला सूख कर फँसा-फँसा सा हो गया और मेरी आवाजें बहुत ऊँचे सुर में चढ़ी सी लगने लगीं। मेरे हाथ, पैर, मुद्राभंगिमाएँ और वाणी सबकुछ जैसे रुक्ष और आक्रामक से हो गये। मुझे अपने हर शब्द, हर मुद्राभंगी पर शर्म-सी आने लगी। झेंप से मेरा चेहरा लाल हो गया, मुट्ठियाँ बँध गयीं और मैं आर्मचेयर की पीठ में धँस गया। मैं अपनी असफलता में डूबने जा रहा था कि इस अवशता में मैं यकायक गुस्से से भर उठा। कुछ मिनटों तक मैं अपने चतुर्दिक परिवेश से पूरी तरह कट सा गया। मैंने वह प्रसिद्ध संवाद उछाला, 'खून इयागो! खून।' इन शब्दों में मैंने विश्वास से भरे आदमी की आत्मा को पहुँचने वाले आघात का गहरा दर्द महसूस किया। लियो द्वारा की गई ओथेलो की व्याख्या ने सहसा मेरी स्मृति में कौंध कर मेरी भावनाओं को उकसा दिया। इसके साथ ही साथ क्षण भर के लिए मुझे साफ एहसास हुआ कि सुनने वाले लोग आगे को थोड़ा झुक गये हैं और श्रोताओं में फुसफुसाहट की एक लहर सी दौड़ गई।

जिस क्षण मैंने इस स्वीकृति का अनुभव किया मुझमें एक तरह की ऊर्जा उबल पड़ी। मैं अब यह नहीं कह सकता कि मैंने अपना दृश्य कैसे पूरा किया क्योंकि फूट-लाइट्स और अंधेरी गुफा (प्रेक्षागृह) मेरी चेतना से गायब हो चुके थे और मैं पूरी तरह भयमुक्त था। मुझे याद आ रहा है, पाल पहले तो मुझमें आए बदलाव से अचम्भित हो उठा था लेकिन फिर वह भी उससे संक्रमित हो गया और उसने समर्पित बेपरवाही के साथ अभिनय किया। पर्दा नीचे गिरा, बाहर प्रेक्षागृह में प्रशंसा का एक शोर उठा और मैं आत्मविश्वास से भर गया।

मध्यांतर में बाहर से आये सितारे के हावभाव और ओढ़ीगई लापरवाही के साथ मैं निकल कर प्रेक्षागृह में पहुँचा। बैठने के लिये मैंने आर्केस्ट्रा में जगह चुनी जहाँ से मैं निर्देशक और उसके सहायक को अच्छी तरह दिखाई पड़ सकता था। मैं वहाँ इस आशा से बैठा रहा कि वे मुझे बुलायेंगे और कुछ खुशगवार बातें कहेंगे। तलबत्तियाँ जल उठीं, पर्दा परे सरक गया और तुरन्त हमारी एक सहपाठिनी मारिया मातोले-त्कोवा सीढ़ियों से तेजी से उतरी और तड़पती ऐंठती हुई फर्श पर गिर पड़ी। उसके मुख से एक चीख निकली, 'ओह हेल्प मी!' जो कुछ इस तरह की थी कि मैं बिल्कुल सुन्न-सर्द हो गया। इसके बाद वह उठी और उसने कुछ संवाद कहे जो इतनी जल्दबाजी भरे थे कि उनका समझना मुश्किल था और तब एक शब्द के बीच

ही में, मानों संवाद भूल गई हो, वह रुकी, चेहरा हाथ से ढँक लिया और दौड़ कर विंग में घुस गई। जरा-सी देर बाद पर्दा नीचे गिरा लेकिन मेरे कानों में अब भी चीखने की आवाजें आ रही थीं। एक प्रवेश! एक शब्द! और भावना उमड़ पड़ती है। मुझे ऐसा लगा मानो निर्देशक में जैसे बिजली-सी दौड़ गई हो। लेकिन क्या मैंने भी ऐसा ही उस वाक्यखंड, "खून! इयागो! खून!" से नहीं कर दिखाया था जब पूरी दर्शकमंडली मेरी शक्ति से अभिभूत हो उठी थी।

१०

आज हमें इसलिए बुलाया गया था कि हम अपनी प्रस्तुतियों की निर्देशक द्वारा की गई आलोचना सुनें। निर्देशक ने कहना-शुरू किया :

"सबसे पहले यह देखो कि कला में बारीक उत्कृष्ट क्या है और फिर उसे समझने की कोशिश करो। इसलिए हमलोग परीक्षा के रचनात्मक तत्वों से अपनी बातचीत की शुरुआत करेगें। महज दो मौके ऐसे हैं जिनका उल्लेख किया जा सकता है; पहला वह जिसमें मारिया सीढ़ियों से तेजी से नीचे आती हुई फर्श पर ढेर हो कर चीखती है, 'अरे! मदद करो!' दूसरा, थोड़ा ज्यादा वक्त लेने वाला, मौका वह है जिसमें कोत्स्या नाज्वानोव कहता है:

'खून! इयागो, खून।'

इन दोनों उदाहरणों में, तुमलोग, जो अभिनय कर रहे थे और हमलोग, जो देख रहे थे, दोनों ही, जो कुछ मंच पर घटित हो रहा था उसमें डूब गये। हमारी पहचान के मुताबिक ऐसे कामयाब लमहे अपनी भूमिका को जीने की कला से जुड़े हुए हैं।

'और यह कला है क्या?' मैंने पूछा।

'तुमने स्वयं उसका अनुभव किया है। जो कुछ महसूस किया था उसे कहो तो।'

'उसे न तो मैं समझ सका नहीं मुझे अब कुछ याद है।' तोर्त्सोव की प्रशंसा से थोड़ा परेशान सा हो कर मैंने कहा।

'क्या? तुम्हें खुद अपनी भीतरी उत्तेजना याद नहीं है? तुम्हें याद नहीं है कि तुम्हारे हाथ, तुम्हारी आँखें और तुम्हारा पूरा शरीर, मानों कुछ पकड़नेकी कोशिश में आगे की ओर खिंच गए थे? तुम्हें याद नहीं कि कैसे तुमने अपने होंठ काट लिये थे और अपने आँसुओं को तुम मुश्किल से रोक पाये थे।'

'अब, जब आप उस सब के बारे में मुझे बता रहे हैं तो मुझे अपनी क्रियाएँ याद आ रही हैं' मैंने स्वीकार किया।

'लेकिन मेरे बिना क्या तुम यह नहीं समझ सकते थे कि किस तरह तुम्हारी भावनाएँ अभिव्यक्ति पा सकीं।'

'नहीं ! मानता हूँ कि मैं नहीं सकता था।

'तब स्वतःस्फूर्त प्रेरणा से तुम्हारा अवचेतन तुमसे वह सब करा रहा था'

'शायद ! मैं यह सब नहीं समझ पाता। लेकिन यह अच्छा है या खराब ?'

'बहुत अच्छा, अगर स्वतःस्फूर्त प्रेरणा तुम्हें सही रास्ते पर ले जाए और बहुत बुरा यदि वह तुमसे गलतियाँ कराए। प्रदर्शन-प्रस्तुति के दौरान इसने तुम्हें भटकाया नहीं और उन थोड़े से सफल क्षणों में जो कुछ तुमने दिया वह उत्कृष्ट था' तोर्त्सोव ने समझाया।

'सचमुच क्या यह सही है ?' मैंने पूछा।

'हाँ, क्योंकि सबसे अच्छा जो कुछ हो सकता है वह यही कि अभिनेता नाटक में पूरी तरह डूब कर उसकी अन्तर्धारा के साथ अपने आप बहता चला जाए। और तब वह अपनी इच्छा-आयास से बेपरवाह अपनी भूमिका जीने लगता है। फिर वह लक्ष्य नहीं कर पाता कि वह अनुभूति कैसे करता है। वह सोचता नहीं कि वह कर क्या रहा है, और यह सब अपनेआप, स्वतःस्फूर्त, अवचेतन रूप से होने लगता है। साल्विनी ने कहा था, "महान अभिनेता को भावना-संवेदना से भरपूर होना चाहिए, खास तौर से उसे उस चीज की संवेदना-अनुभूति होनी चाहिए जिसका वह चित्रण कर रहा है। अपनी भूमिका का अध्ययन करते हुए संवेगों की अनुभूति उसे सिर्फ एक या दो बार कर के नहीं रह जाना है बल्कि कमोबेश ऐसे हर मौके पर करना है जब वह अभिनय करे, फिर भले वह पहली बार हो या हजारवीं बार।" दुर्भाग्यवश यह हमारे नियंत्रण में नहीं है। हमारा अवचेतन हमारे चेतन के लिये अगम्य है। हम उस राज्य में प्रवेश नहीं कर सकते। यदि हम किसी कारणवश उसके भीतर घुसने की कोशिश भी करें तो अवचेतन चेतन बनकर खत्म हो जाता है।

'नतीजा एक संकट-स्थिति है। ऐसा समझा जाता है कि हम अंतःप्रेरणा से सर्जन करते हैं और अंतःप्रेरणा देने का काम सिर्फ अवचेतन ही करता है। ऊपरी तौर से इस अवचेतन का/इस्तेमाल हम चेतना के जरिये ही कर सकते हैं जो अवचेतन को मार डालती है।

'सौभाग्य से इससे निकलने का एक रास्ता है। इसका समाधान प्रत्यक्ष के बजाय परोक्ष का रास्ता है। मनुष्य की आतमा में कुछ ऐसे भी तत्व हैं जिनका नियंत्रण चेतना और इच्छा-क्रिया द्वारा होता है। फिर पहुँच के भीतर के ये तत्व सहज अव-चेतन मानसिक प्रक्रियाओं पर असर डाल सकते हैं।

'निश्चय ही इसके लिए कुछ घुमावदार जटिल सर्जनात्मक कार्य करना होगा। इस सर्जनात्मक कार्य का कुछ हिस्सा तो हमारी चेतना के नियंत्रण में संपादित होगा, लेकिन इसका बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण हिस्सा अवचेतन, सहज-स्वतःउद्भूत ही बना रहेगा।

'सर्जनात्मक कार्य के लिए तुम्हारे अवचेतन को जगाने की एक खास तकनीक है। जो कुछ बिल्कुल अवचेतन है, उसे हमें पूरे तौर पर प्रकृति के भरोसे छोड़ देना चाहिये, और हमें अपने अंदर की सिर्फ उन्हीं चीजों को संबोधित करना चाहिये, जो हमारी पहुँच-सीमा में हैं। जब हमारे सर्जन-कार्य में अवचेतन, अंतःप्रेरणा प्रवेश कर चुके तो हमें उसमें हस्तक्षेप करने से बचना सीखना चाहिये।

'अवचेतन और अंतःप्रेरणा के सहारे ही कोई हमेशा सर्जन-कार्य नहीं कर सकता। ऐसी प्रतिभा नामुमकिन है। इसलिए हमारी कला यह सिखाती है कि सबसे पहले हम चेतना के जरिये सही ढंग से सर्जन करें, क्योंकि अवचेतन को अंतःप्रेरणा के रूप में पुष्पित होने देने के लिए रास्ता बनाने का यही सर्वोत्तम तरीका है। अपनी भूमिका में आप चेतन सर्जनात्मक क्षणों को जितना अधिक मौका देंगे, अंतःप्रेरणा के प्रवाह की संभावना उतनी ही बढ़ जायेगी।

"आप अच्छा अभिनय कर सकते हैं और खराब भी, असल बात यह कि आप सच्चाई के साथ अभिनय करें।" यह रचेप्किन ने अपने शिष्य शूम्स्की को लिखा था।

'सच्चाई के साथ अभिनय करने का मतलब है कि आप सही हों, तर्कसम्मत हों, संगत हों, सोचें, कोशिश करें, भावानुभव करें और अपनी भूमिका में पूरी एकात्मता के साथ अभिनय करें।

'यदि आप इन सब आंतरिक प्रक्रियाओं का आचरण करते हैं और जिस व्यक्ति की भूमिका आप कर रहे हैं, उसकी भौतिक और आत्मिक जरूरतों के अनुसार उन्हें लागू करते हैं, तो इसी को हम चरित्र की भूमिका को जीना कहते हैं। सर्जनात्मक कार्य में यह सर्वोपरि महत्त्व की चीज है। इस तथ्य के अलावा कि इससे अंतःप्रेरणा के रास्ते खुलते हैं, अपनी भूमिका को जीने से अभिनेता के मुख्य उद्देश्यों में से एक की पूर्ति भी होती है। उसका काम चरित्र की सिर्फ बाहरी जिंदगी को प्रस्तुत करना नहीं है। उसे इस दूसरे व्यक्ति की जिंदगी में अपने ही मानवीय गुणों को प्रतिष्ठित करना है और उसमें अपनी सारी आत्मा उँड़ेल देना है। हमारी कला का मूलभूत उद्देश्य मानवीय आत्मा के इसी आंतरिक जीवन का सर्जन करना और उसे कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करना है।

'यही वजह है कि क्यों हम किसी भूमिका के भीतरी पहलुओं और भूमिका को जीने की आंतरिक प्रक्रियाओं की सहायता से उसके आत्मिक जीवन की सृष्टि के

बारे में सोचने से शुरुआत कर रहे हैं। इसे आप तभी जी सकते हैं, जब जितनी बार इस सर्जनप्रक्रिया को दुहराने की कोशिश करें, उतनी ही बार इसके अनुरूप भावनाओं का आप सचमुच अनुभव करें।'

'अवचेतन चेतना पर इतना ज्यादा क्यों निर्भर है ?' मैंने पूछा।

जवाब मिला :

'मुझे यह बिलकुल सामान्य सी बात लगती है। वाष्प, विद्युत, पवन, जल तथा प्रकृति की और दूसरी सहज शक्तियों का इस्तेमाल इंजीनियर की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है। हमारी अवचेतन ऊर्जाएँ भी अपने इंजीनियर—हमारे चेतनमन की तकनीकों—के बिना कार्य नहीं कर सकतीं। रंगमंच पर, अपने चारों तरफ की परिस्थितियों के बीच-जब कोई अभिनेता यह अनुभव करता है कि उसका आन्तरिक और बाह्य जीवन सहज-स्वाभाविक और सामान्य रूप से प्रवाहित हो रहा है तभी उसके अवचेतन के ज्यादा गहरे स्रोत आहिस्ता से खुल पड़ते हैं और उनसे वे भावनाएँ निकलने लगती हैं, जिनका हम अक्सर विश्लेषण नहीं कर पाते। जब कभी कोई आंतरिक सहजवृत्ति आदेश देती है तो ये भावनाएँ थोड़ी या ज्यादा देर के लिए हमें अपनी गिरफ्त में ले लेती हैं। चूंकि इस शासिका शक्ति को हम न तो समझते हैं, नहीं अध्ययन कर पाते हैं, हम अभिनेता इन्हें सीधे-सीधे प्रकृति या अंतःप्रेरणा कह बैठते हैं।

'लेकिन यदि आप सामान्य संश्लिष्ट जैव-नियमों को तोड़ते हैं और सही तरीके से काम नहीं करते, तब यह अत्यंत संवेदनशील अवचेतन आशंकित हो उठता है और अपने को समेट लेता है। इससे बचने के लिए अपनी भूमिका की आप पहले सचेतन योजना बनायें और फिर सच्चाई से उसका अभिनय करें। इस बिंदु पर भूमिका की आंतरिक तैयारी के लिए यथार्थवाद, बल्कि प्रकृतिवाद भी आवश्यक है, क्योंकि इससे आपका अवचेतन क्रियाशील होता है और अंतःप्रेरणा को फूट पड़ने के लिए प्रवृत्त करता है।'

'आपने अभी तक जो कुछ कहा उससे मैं यह मतलब निकालता हूँ कि अभिनय कला का अध्ययन करने के लिये हमें भूमिका जीने की मनोवैज्ञानिक तकनीकों को आत्मसात करना चाहिए और इससे हमें अपने मुख्य उद्देश्य ''मानवीय आत्मा के जीवन का सर्जन' को पूरा करने में मदद मिलेगी।' पॉल सुस्तोव ने कहा।

'तुम्हारी बात सही है, लेकिन अधूरी' तोर्त्सोव ने कहा, 'हमारा उद्देश्य मानवीय आत्मा के जीवन का सर्जन मात्र नहीं है, लेकिन इसे सुन्दर, कलात्मक रूप

में अभिव्यक्त करना भी है। अभिनेता को अपनी भूमिका आंतरिक रूप से तो जीना है ही, उसके बाद उसे अपने अनुभव के आधार पर बाहरी रूपाकार, शरीर भी प्रदान करना है। मैं आपसे इस बात पर खास तौर से ध्यान देने का आग्रह करता हूँ कि हमारी कला-पद्धति में शरीर की आत्मा पर निर्भरता विशेष महत्त्व रखती है। **एक निहायत नाजुक और बड़े पैमाने पर अवचेतन जिंदगी को अभिव्यक्त करने के लिए यह बेहद जरूरी है कि हमारा शारीरिक और वाचिक यन्त्र असामान्य रूप से प्रशिक्षित और अनुक्रियाशील हो** और उसपर हमारा नियंत्रण भी हो। इस यंत्र को बारीक से बारीक, बल्कि अबोध्य भावनाओं को भी अत्यंत संवेदनशीलता और सीधेपन के साथ तुरत यथातथ प्रस्तुत करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। **यही वजह है कि हमारी तरह का अभिनेता दूसरों की तुलना में इतना ज्यादा काम करने के लिए मजबूर है;** उसे भीतरी यंत्र पर काम करना पड़ता है जो भूमिका में जिंदगी की धड़कन पैदा करता है, और बाहरी शारीरिक मशीन पर भी मेहनत करनी पड़ती है जो संवेगों पर उसके सर्जनात्मक कामों के नतीजों को यथातथ पेश करती है।

'भूमिका को बाहर ले आने के काम पर भी अवचेतन अच्छा खासा असर डालता है। सच तो यह है कि कोई भी बनावटी और थियेटराना तकनीक प्रकृति की अचरजभरी कारगुजारियों के बराबर आने की हिम्मत नहीं कर सकती।

'आज सामान्य रूपरेखा के अंतर्गत मैंने इशारा किया कि हम तात्त्विक रूप से जरूरी किन चीजों को समझते हैं। हमारे अनुभवों ने हम में यह पक्का विश्वास पैदा किया है कि मानवजाति की जीवंत अनुभूतियों से तरबतर सिर्फ हमारी तरह की कला ही जीवन की दुर्बोध रंगतों और गहराइयों को प्रस्तुत कर सकती है। सिर्फ ऐसी ही कला दर्शकों को पूरी तरह भावमग्न कर सकती है, रंगमंच पर घटित हो रही घटनाओं की आंतरिक अनुभूतियाँ दे सकती है और उनकी समझदारी पैदा कर सकती है; उनके आंतरिक जीवन को समृद्ध कर सकती है और उनके ऊपर ऐसे असर छोड़ सकती है, जो बीतते वक्त के साथ मुर्झाते हुए खत्म नहीं हो जाते।

'इससे भी बड़ी और बुनियादी महत्त्व की एक बात और है : **प्राकृतिक नियमों के जैवसंश्लिष्ट आधार, जिनकी नीति पर हमारी कला खड़ी है, भविष्य में गलत रास्तों में उतर जाने के खतरों से आपकी रक्षा करेगी।** अभी कौन जानता है कि आप किन रंगशालाओं में किन निर्देशकों के अंतर्गत कार्य करेंगे। न तो सब जगह नहीं सबके साथ प्रकृति पर आधारित सर्जनात्मक कार्य करने का मौका मिलेगा। बहुत सारी रंगशालाओं में बहुत से अभिनेता और प्रस्तुतकर्त्ता बड़ी बेशर्मी से लगातार प्रकृति के नियमों का उल्लंघन कर रहे हैं। लेकिन अगर आप को सच्ची कला और प्रकृति के जैवसंश्लिष्ट नियमों की सीमाओं की निश्चयपूर्ण जानकारी है तो आप भटकेंगे नहीं,

अपनी गलतियों को समझेंगे और उन्हें सुधार सकेंगे। इसीलिये हमारी कला के मूलाधारों के अध्ययन से ही हरेक छात्र-अभिनेता के काम की शुरूआत होती है।'

'हाँ, हाँ,' मैं बोल उठा, 'मुझे बड़ी खुशी है कि इस दिशा में मैं एक कदम तो चल सका, भले ही वह बहुत छोटा हो।'

'इतनी जल्दबाजी नहीं,' तोर्त्सोव ने कहा, 'नहीं तो तुम्हें बड़ी कड़वी निराशा होगी। तुमने मंच पर जो कुछ दिखाया उसके साथ 'भूमिका जीने' की बात को गड्डमड्ड मत करो।'

'क्यों, मैंने क्या दिखाया ?'

'मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ कि 'ओथेलो' के उस बड़े दृश्य में महज कुछ क्षणों के लिये ही तुम अपनी भूमिका जीने में सफल हो सके। उसका इस्तेमाल, उदाहरण के लिये, मैंने तुम्हें और दूसरे छात्रों को यह समझाने के लिए किया कि हमारी किस्म की कला के मूलाधार क्या हैं। अब अगर हम ओथेलो और इयागो के बीच के इस पूरे दृश्य की बात करें तो हम तुमलोगों की प्रस्तुति को निश्चय ही अपने किस्म की कला का दर्जा नहीं दे सकते।'

'तब फिर यह क्या है ?'

'यह वह है जिसे हम जबर्दस्ती 'किया गया अभिनय' कहते हैं।' निर्देशक ने परिभाषित किया।

'लेकिन यह होता क्या है ?' भौंचक्का होकर मैंने पूछा।

'उस तरह से अभिनय करते हुए, जैसा तुमने किया, अलग थलग ऐसे क्षण आते हैं जिनमें आकस्मिक और अप्रत्याशित रूप ऐसी कलात्मक ऊँचाइयों तक उठा जा सकता है जिनसे दर्शक अभिभूत हो जाएँ। ऐसे क्षणों में आप अपनी अंतःप्रेरणा के अनुसार अभिनय करते हैं जो कि वस्तुतः आशु कल्पना-सर्जन होता है। लेकिन जिस उठान के साथ उस छोटे से दृश्य-टुकड़े में तुमने आकस्मिक रूप से अभिनय कर दिया क्या उसी उठान में ओथेलो के पाँच बड़े अंकों का अभिनय करने के लिये जितनी आत्मिक या शारीरिक शक्ति की जरूरत पड़ती है वह तुममे है ? क्या तुम ऐसा करने में अपने को समर्थ समझते हो ?'

'मैं नहीं जानता।' मैंने जानबूझकर कहा।

'मैं निश्चयपूर्वक जानता हूँ कि इस तरह की जोखिम न सिर्फ बहुत ऊँचे जीनियस बल्कि हरक्यूलिस की क्षमता से भी बहुत परे है।' तोर्त्सोव जबाव दिया। 'हमारी जरूरतों के मुताबिक प्रकृति की सहायता के बावजूद, अच्छी तरह सोच-विचार

कर बनायी गई एक मनोवैज्ञानिक तकनीक चाहिए, बड़ी कुशल प्रतिभा, विशाल शारीरिक और स्नायविक क्षमता भी चाहिए। ये सारी चीजें आप में उन व्यक्तित्ववादी अभिनेताओं से ज्यादा नहीं हैं जो तकनीक को स्वीकार नहीं करते। वे तुम्हारी ही तरह पूर्णतया अंतःप्रेरणाओं का आसरा देखते हैं। और अगर यह अंतःप्रेरणा नमूदार नहीं होती तब न तो तुम्हारे पास-न ही उनके पास खाली जगहों को भरने के लिये कुछ रह जाता है। तुम्हारे पास स्नायविक गिरावट के लंबे अंतराल, संपूर्ण कलात्मक निर्वीयता, और एक अपरिष्कृत किस्म का शौकिया अभिनय भर शेष रह जाता है। ऐसे मौकों पर तुम्हारा अभिनय बेजान और आडम्बरपूर्ण होकर रह जाता है। नतीजा, ऊँचाई के क्षणों के बाद अति-अभिनय [ओवर ऐक्टिंग] के मौके आते रहते हैं।

११

आज तोर्त्सोव ने हमारे अभिनय के बारे में और आगे बताया। जब वे कक्षा में आए तो पाल की ओर मुड़े और उससे कहा :

'तुमने भी कुछ दिलचस्प लमहे हमें दिये, लेकिन वे प्रतिकृतिमूलक कला [रिप्रेजेन्टेटिव आर्ट] के खास उदाहरण थे। चूंकि तुमने अभिनय की इस दूसरे ढंग की कला का सफल नमूना पेश किया—क्यों न तुम इयागो की भूमिका के अभिनय की अपनी प्रक्रिया हम लोगों को समझाओ।' निर्देशक ने सुझाया।

'मैंने अपनी भूमिका की अंतर्वस्तु की तलाश सीधे शुरू की और काफी समय तक उसका अध्ययन करता रहा,' पॉल ने कहा। 'घर पर मुझे लगा कि मैं सचमुच अपनी भूमिका जी रहा हूँ और कुछ रिहर्सलों में भूमिका में कुछ ऐसे भी स्थल आये, जिसमें मुझे लगा कि मैं अनुभूति कर रहा हूँ। इसीलिए मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि प्रतिकृतिमूलक कला का इससे क्या रिश्ता है।'

'इसमें भी अभिनेता अपनी भूमिका जीता है,' तोर्त्सोव ने कहा। 'हमारी पद्धति के साथ यह आंशिक समानता इस दूसरी तरह की कला को भी सच्ची कला समझ लेने के भ्रम को संभव बनाती है।

'तब भी उसका मकसद दूसरा होता है। वह अपनी भूमिका इसलिए जीता है कि उसके बाहरी रूपाकार को पूर्णता देने की तैयारी कर सके। और एक बार जब वह बाह्य रूपाकार संतोषप्रद रूप से तय हो जाता है, तब वह यांत्रिक रूप से प्रशिक्षित मांसपेशियों की सहायता से उसकी प्रतिकृति प्रस्तुत करने लगता है। इसलिए इस दूसरी कलापद्धति में अपनी भूमिका को जीना सर्जन का मुख्य क्षण नहीं

होता, (जब कि हमारी कला में होता है) बल्कि यह क्षण आगे के कलाकार्य की तैयारी की सीढ़ियोंमें से एक होता है।'

'लेकिन प्रदर्शन-प्रस्तुति में तो पॉल ने सचमुच अपनी भावनाओं का इस्तेमाल किया था।' मैंने अपनी राय कायम रखी।

और भी किसी ने मेरा समर्थन किया और जोर दिया कि मेरी ही तरह पॉल के अभिनय में भी गलत अभिनय के लंबे सिलसिले में लिपटे हुए सचमुच भूमिका जीने के भी कुछ क्षण मौजूद थे।

'नहीं', तोर्त्सोव ने जिद की, '**हमारी कला में अभिनय के हर मौके पर और हर क्षण अपनी भूमिका को जीना ही है।** ऐसे हर मौके पर जब इसका पुनर्सर्जन होना है, इसे ताजगी से अवतरित होना और ताजगी के साथ जिया जाना भी चाहिये। कोस्त्या के अभिनय के कुछ सफल क्षण ऐसे ही थे, लेकिन पाल के अभिनय में मैंने आशु कल्पनासर्जन की ताजगी या भूमिका की अनुभूतियाँ कहीं लक्ष्य नहीं कीं। इसके बजाय अनेक जगहों पर एक ऐसे अभिनय—जिसे स्थायी रूप से निश्चित कर दिया गया है और जिसे एक खास आंतरिक ठंडेपन के साथ पुनर्प्रस्तुत किया जाता है—की यथातथता और उसकी पद्धति एवं रूपगत कलात्मक मँजावट देखकर अचंभा सा हुआ। तब भी उन क्षणों में मैंने अनुभव किया कि मूलअभिनय, जिसकी वह बनावटी नकल थी—जरूर अच्छा और सच्चा रहा होगा। भूमिका जीने की पूर्ववर्ती प्रक्रिया की इस प्रतिध्वनि ने, कुछ खास क्षणों में, पॉल के अभिनय को प्रतिकृतिमूलक कला का सही नमूना बना दिया।'

'इस प्रतिकृतिमूलक कला की गिरफ्त में मैं आखिर आ कैसे गया?' पाल ने न कुछ समझते हुए पूछा।

'तुमने इयागो की भूमिका की तैयारी कैसे की इस बारे में बताओ तो शायद हम कुछ अंदाज लगा सकें।' निर्देशक ने सुझाया।

'इस बारे में निश्चित होने के लिए कि मेरी भावनाएँ बाहर भी झलक रही हैं, मैंने आइने का इस्तेमाल किया।'

'यह खतरनाक है,' तोर्त्सोव ने टिप्पणी की। '**आइने के इस्तेमाल में बहुत सावधानी बरतने की जरूरत है। यह अभिनेता को आत्मा के भीतर के बजाय बाहर देखना सिखाता है।** यह बात खुद उसके और उसकी भूमिका, दोनों पर एक सी लागू होती है।

'तब भी इसने मुझे यह दिखाने में तो मदद की ही कि मेरी संवेदनाएँ बाहर कैसी प्रतिबिंबित होती हैं।' पाल ने अड़ते हुए कहा।

'तुम्हारी अपनी संवेदनाएँ या तुम्हारी भूमिका के लिए तैयार की गयी संवेदनाएँ ?'

'मेरी अपनी, लेकिन इयागो पर लागू होने वाली।' पॉल ने समझाया।

'नतीजन, आइने के साथ काम करते वक्त तुम्हारी दिलचस्पी अपने बाहरी रूप, मुद्राभंगी या व्यक्तित्व की बाहरी बनावट में उतनी नहीं थी जितनी खास तौर से इस बात में थी कि कैसे तुम अपनी आंतरिक संवेदनाओं का वाह्यकरण करते हो।' तोर्त्सोव ने कुरेदते हुए पूछा।

'बिल्कुल यही।' पॉल ने खुशी से स्वीकार किया।

'यह भी लाक्षणिक ही है।' निर्देशक ने टिप्पणी की।

'मुझे याद आ रहा है कि जब मैंने अपनी अनुभूतियों का सही प्रतिबिंब देख लिया था तो कितना प्रसन्न हो उठा था।' पॉल की याददाश्त खुलती जा रही थी।

'तुम्हारा मतलब है कि अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने के इन तरीकों को तुमने स्थायी रूप से निश्चित कर दिया।' तोर्त्सोव ने पूछा।

'बार-बार दुहराये जाने से वे खुद ही निश्चित हो गयीं।'

'तब आखिर में तुमने अपनी भूमिका के कुछ सफल हिस्सों की व्याख्या के लिए एक निश्चित बाहरी रूपाकार बना डाला और इस तरह तकनीक के जरिये उनकी बाह्य अभिव्यक्ति उपलब्ध करने में तुम समर्थ हो गये?' दिलचस्पी लेते हुए तोर्त्सोव ने पूछा।

'जाहिर है, हाँ।' पॉल ने स्वीकार किया।

'फिर जब भी तुमने भूमिका दुहराई, इसी रूपाकार का इस्तेमाल किया?' निर्देशक ने आगे जाँच की।

'जाहिर है, मैंने किया।'

'अब तुम मुझे यह बताओ : हर बार तुम्हारे अभिनय में यह पूर्वस्थापित रूपाकार आंतरिक प्रक्रिया द्वारा प्रकट हुआ या फिर एक बार निश्चित हो जाने के बाद तुमने बिना किसी संवेगात्मक हिस्सेदारी के सिर्फ यांत्रिक तौर पर इसे दुहराते गये?'

'मुझे तो ऐसा लगा कि मैं हर बार उसे जीता था।' पॉल ने घोषणा की।

'नहीं। दर्शकों के ऊपर ऐसा कोई असर नहीं पड़ा', तोर्त्सोव ने कहा। 'जिस पद्धति के [रिप्रेजेण्टेटिव] अभिनेताओं की हम बात कर रहे हैं वे वैसा ही करते हैं, जैसा तुमने किया। पहली बार तो ये भूमिका की अनुभूति करते हैं, लेकिन एक बार ऐसा कर लेने के बाद फिर से दुबारा वे इस अनुभूति के चक्कर में नहीं पड़ते।

वे बाहरी गतियां, काकु या स्वरभंगी और पहले ढूँढी गयी अभिव्यक्तियों को सिर्फ याद रखते हैं और दुहराते हैं, जिससे यह दुहराना संवेगहीन हो जाता है। अक्सर वे तकनीक में बड़ी महारत हासिल कर लेते हैं और स्नायविक शक्ति को खर्च किये बिना ही किसी भूमिका को सिर्फ तकनीक के सहारे ही निकाल ले जाने में समर्थ हो जाते हैं। सच तो यह है कि एक बार भूमिका-अभिनय का प्रारूप-पैटर्न निर्धारित कर लेने के बाद अनुभूति के चक्कर में पड़ना वे फिजूल समझते हैं। वे सोचते हैं, सही अभिनय प्रस्तुत कर पाना तब कहीं अधिक निश्चयपूर्ण होता है, जब पहले खोजे गये प्रारूप को सिर्फ याद भर करना हो। यह कुछ दूर तक उन जगहों पर लागू होता है, जिन्हें हमने इयागो के तुम्हारे अभिनय से चुना है। याद करने की कोशिश करो कि जब तुम अपना काम आगे बढ़ा रहे थे तो क्या-क्या घटित हुआ ?'

पॉल ने बताया कि भूमिका के दूसरे हिस्सों में वह अपने काम से संतुष्ट नहीं था, कि दर्पण में उसके इयागो की जैसी छवि दिखाई पड़ रही थी, वह भी उसे अच्छी नहीं लग रही थी, कि अंततोगत्वा उसने अपने एक ऐसे परिचित की नकल करने की कोशिश की, जिसकी रूपाकृति दुष्टता और धूर्तता का अच्छा नमूना पेश करती थी।

'तो तुमने सोचा उसे अपने इस्तेमाल की जरूरतों के मुताबिक ढाल लोगे।' तोर्त्सोव ने जानना चाहा।

'हाँ', पॉल ने स्वीकार किया।

'अच्छा ! तब तुम खुद अपनी विशिष्टताओं या गुणों का क्या करोगे ?'

'सच तो यह है कि मैं अपने उस परिचित व्यक्ति के सिर्फ बाहरी व्यवहार-आदतों [मैनरिज्म] के इस्तेमाल की बात सोच रहा था ?' पॉल ने स्पष्टता से स्वीकार किया।

'यह बहुत बड़ी गलती थी।' तोर्त्सोव ने उत्तर दिया। 'उस नुक्ते पर तुम महज नकल पर अमादा थे, जिसका सर्जनात्मकता से कोई संबंध नहीं।'

'तब मुझे क्या करना चाहिये ?' पॉल ने पूछा।

'सबसे पहले तुम्हें अपने 'मॉडल' [नमूने] को आत्मसात करना चाहिये। यह थोड़ी उलझी हुई बात है। तुम्हें अपनी भूमिका के चरित्र का इन दृष्टिबिंदुओं से अध्ययन करना चाहिये : युग, समय, देश, जीवन-दशा, पृष्ठभूमि, साहित्य, मनोविज्ञान, आत्मा, रहन-सहन की जीवनशैली, सामाजिक स्थिति और बाहरी रूपाकृति; इनके अलावा तुम्हें चारित्रिक विशेषताओं, जैसे पारंपरिक आदतें, व्यवहार-सभ्यता, गतियां, आवाज, भाषा, स्वरभंगी या काकु आदि का भी अध्ययन करना चाहिए। अपनी सामग्री पर किये गये इन सारे कामों द्वारा तुम्हारी भूमिका तुम्हारी अपनी भावानुभूतियों से सराबोर हो उठेगी। इन सबके बिना तुम्हें कोई कलात्मक उपलब्धि नहीं हो सकती।

'इस सारी सामग्री से जब भूमिका का सजीव बिंब उभर उठता है तो प्रतिकृति-मूलक पद्धति का कलाकार इसे स्वयं पर आरोपित कर लेता है। इस पद्धति के एक सर्वोत्तम प्रतिनिधि, प्रसिद्ध फ्रांसीसी अभिनेता बड़े काक्लाँ ने इस तरह के काम का बड़ा ठोस वर्णन किया है : 'अभिनेता अपने मॉडल का सर्जन सबसे पहले अपनी कल्पना में करता है और तब जैसे कोई चित्रकार उस कल्पना-बिंब को कैनवस पर उतारता, ठीक वैसे ही अभिनेता उस बिंब की विशिष्टताओं को एक-एक कर खुद अपने पर आरोपित करता जाता है।''''वह तारत्यूफ की पोशाक देखता है और उसे पहन लेता है, उसके चलने के ढंग को देखता है और उसकी नकल करता है; उसकी शरीराकृति को लक्ष्य करता है और उसके अनुसार अपने को ढालता है; वह अपने चेहरे को भी वैसा ही बनाने की कोशिश करता है। वह वैसी ही आवाज में बोलने की कोशिश करता है जैसी उसने तारत्यूफ से सुनी है; इस तरह जोड़-जोड़-कर उसने जिस व्यक्ति को गढ़ा है उसे वह तारत्यूफ की ही तरह संचालित करता है, हरकतें करता है, कदम रखता है, अंगविक्षेप करता है. सुनवाता है और सोचवाता भी है, दूसरे शब्दों में अपनी आत्मा ही उसे सौंप देता है। व्यक्तिचित्र तैयार हो गया, अब इसे सिर्फ चौखटे में बाँधने की जरूरत है यानी इसे रंगमंच पर प्रस्तुत भर करना रह गया है, और तब दर्शक कहेगें देखो, वह तारत्यूफ है या फिर 'अभिनेता ने अपना काम अच्छी तरह नहीं किया।'........'

'लेकिन यह सब इतना मुश्किल और उलझा हुआ है कि डर लगता है।' मैने चिंता से कहा।

'हाँ, कॉक्लाँ खुद भी इसे मानता है। वह कहता है "अभिनेता भूमिका को जीता नहीं बल्कि उसे खेलता है। वह अपनी अभिनय-वस्तु के प्रति भावशून्य रहता है, लेकिन उसकी कला में पूर्णता होनी ही चाहिए।"... .. ..'और यदि प्रतिकृति-मूलककला को कला बने रहना है तो उसमें पूर्णता हर कीमत पर चाहिए ही।' तोर्त्सोव ने अपनी तरफ से जोड़ा।

'प्रतिकृतिमूलक कलापद्धति की ओर से निश्चयात्मक विश्वासपूर्ण जबाब होगा—'कला वास्तविक जीवन नहीं है, यह उसका प्रतिबिंब भी नहीं है। कला अपने आप में खुद ही सर्जक है। यह अपना जीवन स्वयं ही सर्जित करती है जो स्थान और काल की सीमाओं से परे अपनी अमूर्तता में खूबसूरत होती है।'' विलक्षण, पूर्ण, अगम्य कलाकार—अपनी सर्जनात्मक प्रकृति—की ऐसी गुस्ताख अवज्ञा हम हर्गिज नहीं स्वीकार कर सकते।

'काक्लाँ-शैली के कलाकार इस तरह तर्क करते हैं : 'नाट्य एक रूढ़ परंपरा है और वास्तविक जीवन का भ्रम रचने की दृष्टि से रंगमंच के साधन बेहद अपर्याप्त

और कमजोर हैं। इसलिये नाट्य को परंपरा-रूढ़ियों से बचने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।.........'इस तरह की कला में सौंदर्य की अपेक्षा गहराई कम होती है। इसमें तात्कालिक असर तो होता है लेकिन सच्ची शक्तिमत्ता नहीं, इसमें विषयवस्तु की अपेक्षा रूपाकार ज्यादा दिलचस्प होता है। यह आपकी आत्मा के बजाय आपकी दृष्टि और श्रवण इंद्रियों पर ज्यादा असर करती है। नतीजा, इसमें आपको हिला देने के बजाय आपको खुश करने की संभावना ज्यादा होती है।

'इस कला की छापें तो आप पर बड़ी-बड़ी पड़ेंगी लेकिन इससे न तो आपकी आत्मा को गर्माहट मिलेगी नहीं यह उसमें गहरे प्रवेश कर सकेगी। उसका असर तीखा तो होगा लेकिन स्थायी नहीं। यह आप के अचम्भे को, नकि विश्वास को जगाएगी, इस कला की सीमा में वही कुछ है जो चित्रोपम करुणा और अचरज भरे नाटचसौंदर्य द्वारा किया जा सकता है। लेकिन कोमल और मार्मिक गहरी अनुभूतियाँ इस तरह की तकनीकों के क्षेत्र में नहीं आतीं। इसके लिए **ताजे प्राकृतिक संवेगों की जरूरत पड़ती है। जो मन में और शरीर में एक साथ, उसी क्षण व्यक्त होती हैं। इसके लिए स्वयं प्रकृति के सीधे सहयोग की जरूरत होती है।** इन सबके बावजूद भूमिका की प्रतिकृति प्रस्तुत करने वाली कला चूँकि आंशिक रूप से उसी प्रक्रिया को अपनाती है जिसे हमारे किस्म की कला इस्तेमाल करती है, इसलिए इसे भी सर्जनात्मक कला के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।'

१२

हमारी आज की पढ़ाई के वक्त ग्रीशा गोवोर्कोव ने कहा कि वह मंच पर जो कुछ करता है उसकी बड़ी गहरी अनुभूति करता है। इस पर तोर्त्सोव ने जबाब दिया :

'हर आदमी जिंदगी के हर लमहे कुछ न कुछ अनुभव करता है। सिर्फ मुर्दे ही संवेदनाहीन होते हैं। लेकिन इस जानकारी की अपनी खास अहमियत है कि आप स्टेज पर क्या अनुभूति करते हैं; क्योंकि अक्सर बड़े अनुभवी अभिनेता भी कुछ ऐसी चीजों का घर पर अभ्यास करते हैं और रंगमंच पर भी ले आते हैं जो उनकी भूमिका के लिए न तो आवश्यक होती हैं नहीं महत्वपूर्ण। यह तुम सभी के साथ घटित हुआ है। कुछ छात्रों ने अपनी आवाजों का प्रदर्शन किया, बनावटी स्वर-भंगियाँ या काकु और अभिनय की तकनीक का प्रदर्शन किया, कुछ दूसरों ने जिंदादिली से भरी क्रियाओं, नृत्यात्मक उछल-कूद और निराश अतिअभिनय द्वारा दर्शकों को हँसाने की कोशिश की; कुछ खूबसूरत शरीर-स्थितियों और मुद्राभंगियों से अपनी सजावट करते रहे। संक्षेप में कहें तो वे जो कुछ मच पर ले आए वह उनकी भूमिकाओं के लिये जरूरी नहीं था।

'जहाँ तक तुम्हारी बात है, गोवोर्कोव, तुमने अपनी भूमिका को उसकी अंतर्वस्तु की दृष्टि से समझने की कोशिश नहीं की। तुम न तो इसे जी सके, नहीं उसकी प्रतिकृति प्रस्तुत कर सके, बल्कि तुमने कुछ ऐसा किया जो बिल्कुल अलग ही था।'

'यह क्या था ?' ग्रीशा ने जल्दी से पूछा।

'यांत्रिक अभिनय। लेकिन निश्चय ही खराब किस्म का नहीं, क्योंकि पारंपरिक रूढ़िगत उदाहरणों के जरिये भूमिका को प्रस्तुत करने की पद्धतियों का इस्तेमाल बारीकियों के साथ किया गया था।'

यहाँ मैं ग्रीशा द्वारा छेड़ी गयी लंबी बहस का विवरण छोड़ देता हूँ और सीधे तोर्त्सोव की उस व्याख्या पर पहुँचता हूँ, जिसमें उन्होंने उन सीमाओं का जिक्र किया, जो सच्ची कला को यांत्रिक कला से पृथक् करती हैं।

'सच्ची कला भूमिका को जिये बिना अस्तित्व में नहीं आ सकती। यह उसी वक्त शुरू होती है, जब अनुभूतियाँ स्वत: उमड़ती हैं।'

'और यांत्रिक अभिनय ?' ग्रीशा ने पूछा।

'यह वहाँ से शुरू होता है, जहाँ सर्जनात्मक कला खत्म होती है। यांत्रिक अभिनय में जीने की प्रक्रिया की जरूरत नहीं होती, यह बस आकस्मिक रूप से कभी कदाच प्रकट हो जाती है।

'यह बात तुम्हारी समझ में तब और भी अच्छी तरह आएगी जब तुम यांत्रिक अभिनय की पद्धतियों और उनके स्रोतों को पहचानोगे। यांत्रिक अभिनय को हमलोग रबर का ठप्पा कहते हैं। अनुभूतियों की पुर्नप्रस्तुति के लिये उन्हें आपको अपने ही अनुभवों में पहचानने में समर्थ होना पड़ता है। लेकिन चूँकि यांत्रिक अभिनेता अनुभूतियों का एहसास नहीं करते, इसलिये वे उनके बाहरी नतीजों की पुर्नप्रस्तुति नहीं कर सकते।

'चेहरा, नकल, आवाज और मुद्राभंगियों के जरिये यांत्रिक अभिनेता दर्शकों को अस्तित्वहीन अनुभूतियों के निर्जीव मुखौटे के अलावा और कुछ नहीं दे सकता। इसी के लिए बहुत सारे चित्रोपम प्रभावों की खिचड़ी देर तक पकायी जाती है जो बाहरी साधनों के जरिये हर तरह की अनुभूतियों का चित्रण करने का दिखावा करती है।

इनमें से कुछ स्थापित ठप्पे [क्लीशेज] रूढ़ि बन गये हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी दुहराये जाते हैं। उदाहरण के लिए अपनी छाती पर हाथ फैलाना प्रेम व्यक्त करता है या बड़ा सा मुहँ बाना मौत की सूचना देता है। इसी तरह की दूसरी मुद्राएँ

अपने समकालीन प्रतिभावान अभिनेताओं से बनी बनाई उधार ले ली जाती हैं (जैसे ट्रैजिक लमहों में वैग कोमिस्सारझेवस्काया द्वारा अपनी हथेली की पीठ से अपने भौंह रगड़ने की क्रिया)। इसी तरह की कुछ और दूसरी चीजें अभिनेता खुद गढ़ लेते हैं।

'भाषा और शब्दोच्चारण की कुछ निश्चित पद्धतियाँ होती हैं, भूमिका का पाठ करने का कुछ खास अंदाज होता है। [उदाहरण के लिये, भूमिका के नाजुक लमहों में अतिरंजनापूर्ण उच्च या निम्न स्वरमान [टोन], जिसे खास थियेटराना स्वर-कंपन या खास जोशीले अंदाज में कंठीय सजावटों के साथ अदा किया जाता है]। शारीरिक गतियों [यांत्रिक अभिनेता चलते नही, रंगमंच पर 'अग्रसर' [प्रोग्रेस] होते हैं], मुद्राभंगियों, क्रियाओं और रूप-विधायक गतियों [प्लास्टिक मूवमेंट्स] के लिये भी अपनी अपनी पद्धतियाँ हैं। सभी तरह की मानवीय अनुभूतियों और आवेगों की अभिव्यक्तियों के लिए भी निश्चित पद्धतियाँ हैं [ईर्ष्या में दाँत दिखाना और आँख की सफेदी को नचाना, रोने के बदले हाथों से मुँह और आँखें ढक लेना, निराशा में अपने बाल नोचना आदि]। समाज के सभी वर्ग, जाति, श्रेणी, पेशे. आदि के अनुकरण के लिए निश्चित तरीके बने हुए हैं [किसान–मजदूर फर्श पर थूकते हैं, अपनी पोशाक की छोर से नाक साफ करते हैं. फौजी लोग अपनी ऐंड़ चटखाते हैं, उच्चवर्गी अभिजात लोग अपने चश्मे से खेलते रहते हैं]। कुछ दूसरे फार्मूले ऐतिहासिक युगों को सूचित करते हैं [मध्ययुगों के लिये गीति–नाट्यात्मक भावभंगी और अठारहवीं शती के लिये नखरेदार चाल]। ये बनी बनाई यांत्रिक पद्धतियाँ, लगातार अभ्यासों से आसानी से हासिल की जा सकती हैं और इस तरह आदत बन जाती हैं।

'गुजरता वक्त और आदतों का सिलसिला निरर्थक तथा विकृत चीजों को भी प्रिय बना देता है। उदाहरण के लिये संगीत-कामदियों की कंधे झटकारने की प्रथा जो युगों से चली आ रही है, बूढ़ी औरतों की अपने को जवान दिखाने की कोशिश, नाटक के नायक के आते-जाते अपने आप खुलने और बंद होने वाले किवाड़ आदि। नृत्यनाट्य, संगीतनाट्य और खास तौर से छद्म क्लासिकी त्रासदियाँ इस तरह की रूढ़ियों से भरी रहती हैं। इन कभी न बदलने वाले तरीकों का इस्तेमाल करके वे नायकों के अंतर्गुम्फित और ऊँचाई पर पहुँची अनुभूतियों को प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिये निराशा के क्षणों में अपनी छाती नोचना, बदले की भावना में अपनी मुट्ठियाँ भाजना, या फिर प्रार्थना के लिये अपने हाथ आकाश में उठाना।

'यांत्रिक अभिनेता के अनुसार उसे अधिक खूबसूरत बनाने और नाट्यप्रभाव को और शक्तिशाली बनाने के लिये नाट्यसंभाषण और रुपद गतियों का ध्येय आवाज, शब्दोच्चार और गतियों को बढ़ाना है, जैसे गीतात्मक क्षणों में अतिरंजित माधुर्य,

महाकाव्य-पाठ में मंद एकस्वरता, घृणा व्यक्त करने के लिये फूत्कार भरी आवाज और दु;ख प्रकट करने के लिये आवाज में झूठे आँसू।

'दुर्भाग्य से दुनियाँ में अच्छी के बजाय खराब रुचि-प्रवृत्ति बहुत ज्यादा है। श्रेष्ठत्व के बजाय दिखावा-प्रदर्शन, सौंदर्य की जगह बनावटी शृंगार, और अभिव्यंजना की जगह थियेटराना असर का बोलबाला है।

'इन सबमें सबसे खराब तथ्य यह है कि किसी भूमिका की ऐसी सारी खाली जगहें जो जीवंत अनुभूतियों से पहले ही ठोस नहीं बना दी गई हैं, निर्जीव परंपरा-रूढ़ियों [क्लीशेस] से भर जाएँगी। इतना ही नहीं, ये अनुभूतियों से आगे दौड़ती हैं और मार्गावरोध कर देती हैं। इसीलिए अभिनेता को बड़ी सावधानी और सचेतनतापूर्वक इससे अपनी रक्षा करनी चाहिए। यह बात बहुत प्रतिभाशील और सच्ची सर्जनात्मकता में सक्षम अभिनेताओं के लिये भी सच है।

'रंगमंचीय रूढ़ियों के चुनाव में अभिनेता चाहे जितनी कुशलता दिखाए, इनमें निहित यांत्रिकता के कारण वह दर्शकों पर उनके जरिये मार्मिक असर नहीं छोड़ पायेगा। उसे दर्शकों में भावावेग जगाने के लिये किसी पूरक साधन का इस्तेमाल करना होगा। इसके लिये वह उस चीज का सहारा लेता है जिसे हम लोग थियेटराना संवेग (थियेट्रिकल इमोशन] कहते हैं। यह एक तरह से शारीरिक अनुभूतियों के छोर-किनारों की बनावटी नकल है।

'यदि आप अपनी मुट्ठियाँ भींच ले और अपनी मांसपेशियों को सख्त करलें, या फिर जोर-जोर से आवेगयुक्त साँस लें तो आप अपने को एक बड़ी शारीरिक तीव्रता की स्थिति में ले आएगें। अक्सर दर्शक इसे भावावेग से उत्पन्न शक्तिशाली मिजाज समझ बैठते हैं।

'कुछ ज्यादा स्नायविक किस्म के अभिनेता बनावटी तरीके से अपने स्नायुओं को ऐंठ कर थियेटराना संवेग निचोड़ लेते हैं। इससे थियेटराना हिस्टीरिया पैदा होता है—एक अस्वास्थ्यकर भावाविष्टता, जिसमें सामान्यतया उसी तरह अंतर्वस्तु की कमी होती है जिस प्रकार कृत्रिम शारीरिक उत्तेजना में।

१३

हमारी आज की कक्षा में निर्देशक ने प्रदर्शन-प्रस्तुति का विश्लेषण जारी रखा। बेचारे वान्या व्यून्त्सोव पर बड़ी बुरी गुजरी। तोर्त्सोव ने उसके अभिनय को यांत्रिक भी नहीं स्वीकार किया।'

'तब यह क्या था ?' मैंने पूछा।

'बेहद जुगुप्साजनक अति-अभिनय [ओवर एक्टिंग]' निर्देशक ने जवाब दिया।

'कम से कम मेरे अभिनय में ऐसी कोई चीज नहीं थी।' मैंने दिल कड़ा करके कहा।

'जरूर थी।' तोर्त्सोव ने करारा जबाब दिया।

'कब ?' मैं चीख उठा 'आप ही ने तो कहा कि मेरा अभिनय.....।'

'मैंने समझाया था कि तुम्हारे अभिनय में सच्चे सर्जनात्मक क्षणों के तुरंत बाद—'

'यांत्रिक अभिनय के क्षण आ जाते थे ?' प्रश्न जैसे मुझसे सहसा फूट पडा।

'उसे भी काफी मेहनत के बाद ही पाया जा सकता है, जैसा ग्रीशा में दिखाई पड़ा, और तुम्हारे पास तो इसके लिए वक्त ही नहीं रह गया था। इसीलिये तुमने बेहद शौकियाकिस्म रबर के ठप्पों के जरिये किसी आदिमजाति के आदमी की नकल पेश की। इसमें तकनीक का कहीं नामोनिशान तक न था। **यांत्रिक अभिनय भी तकनीक के बिना नहीं संपन्न हो सकता।**

'लेकिन मुझे वे रबर के ठप्पे मिले कहाँ, क्योंकि मंच पर चढ़ने तक का यह मेरा पहला मौका था।' मैंने कहा।

'मेरी पुस्तक 'माइ लाइफ इन आर्ट' [कला में मेरी जिंदगी] पढ़ो। उसमें दो ऐसी छोटी लड़कियों का जिक्र है जिन्होंने कोई थियेटर, नाट्यप्रस्तुति या रिहर्सल तक पहले कभी नहीं देखा था। इतने पर भी जब उन्होंने एक त्रासदी का अभिनय किया तो उसमें बेहद निम्न कोटि की उथली रूढ़ियाँ भरी पड़ी थीं। सौभाग्य से तुममें भी ऐसी चीजें काफी ज्यादा थीं।'

'सौभाग्य से क्यों ?' मैंने पूछा।

'क्योंकि मजबूती से जड़जमाए यांत्रिक अभिनय की तुलना में उन्हें लड़ कर जीतना कहीं आसान है।' निर्देशक ने कहा।

'तुम्हारी जैसी शुरूआत करने वाले नौसिखुए, अगर उनके पास प्रतिभा है, आकस्मिक रूप से और थोड़े वक्त के लिये किसी भूमिका को काफी अच्छी तरह कर सकते हैं, लेकिन न तो उसे बनाये रख सकते हैं नहीं उसे सतत संतुलित कलात्मक रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, इसलिए वे हमेशा ही आत्मप्रदर्शन की ओर मुड़ जाते हैं। पहले पहल तो यह काफी मासूम नजर आता है लेकिन यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि इसमें बड़े-बड़े खतरों के बीज छिपे हैं। पहले ही क्षण से इसके खिलाफ सख्त लड़ाई छेड़ देनी चाहिये जिससे यह ऐसी आदतें न डाल दे जो अभिनेता को लुंजपुंज कर डालती हैं और उसे जन्मजात प्रतिभाके मुख्य रास्ते से ढकेल कर अलग ले जाती हैं।

'तुम अपना ही उदाहरण लो। तुम तो काफी समझदार आदमी हो। फिर क्यों प्रदर्शन-प्रस्तुति के वक्त कुछ क्षणों के अपवाद के सिवा तुम असंगत और बेवकूफ नजर आये। क्या तुम सचमुच यकीन कर सकते हो कि मूरलोग जो अपने जमाने में संस्कृति-सभ्यता के लिये मशहूर थे, जंगली जानवरों की तरह पिंजड़े में इधर-उधर चहलकदमी करते ? तुमने तो जिस आदिम आदमी का चित्रण किया वह शांतिपूर्ण वार्तालाप के वक्त भी गुर्रा रहा था, दाँत चमका रहा था और आँखे नचा रहा था। इस भूमिका के लिये ऐसा नजरिया तुम्हें मिला कहाँ से।'

इस पर मैंने अपनी भूमिका को लेकर घर पर किए गए अपने कार्यों की जो विस्तार से डायरी बनाई थी उसका पूरा विवरण पेश किया। उसका दृश्यरूप और अच्छी तरह समझाने के लिये मैंने वहाँ कुर्सियों को उसी तरह सजाकर दिखाया जैसे मेरे कमरे में था। मेरे इस प्रदर्शन के कुछ हिस्सों पर तोर्त्सोव दिल खोल कर हँसे।

'यही तो। इसी से तुम्हें मालूम होगा कि निकृष्टतम अभिनय की शुरुआत कैसे होती है।' मेरी बात खत्म हो जाने के बाद उन्होंने कहा। 'जब तुम प्रदर्शन-प्रस्तुति की तैयारी कर रहे थे तब तुमने अपनी भूमिका को दर्शकों पर रौब जमाने के नजरिये से देखा। लेकिन किस चीज के जरिये ? क्या भूमिका द्वारा अभिनेय व्यक्ति की जैव-संश्लिष्ट अनुभूतियों के जरिये ? ऐसी कोई अनुभूति तुम्हारे पास नहीं थी। तुम्हारे पास तो चरित्र का संपूर्ण जीवंत बिम्ब भी नहीं था जो तुम अगर सिर्फ बाहरी आकृति की नकल करते तो भी आसानी से पा सकते थे। इसके सिवा तुम्हारे पास करने को रह ही क्या गया था कि तुम्हारे दिमाग में जो पहली लक्षण विशिष्टता कौंधी उसे भींच कर पकड़ लो। जिंदगी के किसी भी मौके पर इस्तेमाल के लिये ऐसी बहुत सारी चीजों से तुम्हारा दिमाग भरा पड़ा है। किसी न किसी शक्ल में हम पर पड़ने वाली हर छाप हमारी स्मृति के खजाने में जमा हो जाती है जिससे जरूरत के वक्त उनका इस्तेमाल किया जा सके। इस तरह की जल्दबाजी भरी या चरित्र की सामान्यीकृत रूपरेखा बनाते वक्त हम इस बात की परवाह नहीं करते कि हम जो कुछ प्रस्तुत कर रहे हैं वह यथार्थ से मेल भी खाता है या नहीं। हम किसी भी किस्म के सामान्यीकृत लक्षणों या भ्रमोत्पादकता से संतुष्ट हो जाते हैं। बिंबों में जिंदगी की हरकत दौड़ाने के लिए हमारे रोजबरोज के अभ्यासों ने हमें एक तरह का साँचा [स्टेंसिल] मुहैया कर दिया है जिसे हम पहचान के बाहरी लक्षण-चिह्न कह सकते हैं! चूँकि ये लंबे समय से इस्तेमाल में आते रहे हैं इसलिए वे सबकी समझ में भी आ जाते हैं।

'तुम्हारे साथ भी यही कुछ घटित हुआ। तुम एक आम काले आदमी की बाहरी आकृति से लुभा गए और जल्दबाजी से उसकी पुनर्प्रस्तुति तुमने यह जरा भी सोचे

बिना कर दी कि शेक्सपियर ने लिखा क्या है। तुमने बाहरी चरित्रचित्रण की कोशिश की, क्योंकि तुम्हें लगा कि वही ज्यादा असरदार, जीवन्त और पुनर्प्रस्तुति में आसान होगा। जब अभिनेता के पास जिन्दगी से बटोरी गई सजीव सामग्रियों का खजाना नहीं होता तो वह ऐसा ही कुछ करता है। अगर तुम यहाँ मौजूद किसी से कहो, 'किसी एक आम जंगली आदमी का अभिनय तुरत, बिना किसी तैयारी के करो।' तो मैं शर्त बदने के लिए तैयार हूँ कि ज्यादातर लोग वही कुछ करेंगे जो तुमने किया था। कारण, चारों ओर नोचना, गुर्राना, दहाड़ना, दाँत दिखाना, आँखों के सफेद गोलकों को नचाना, हमारी कल्पना में जंगली आदमी की गलत अवधारणा के साथ अनन्त काल से जुड़े हुए हैं। भावनाओं को सामान्यीकृत रूप से इस तरह चित्रित करने के ऐसे सारे उपाय हमारे पास अनायास ही मौजूद रहते हैं और क्यों, किसलिए, या उन परिस्थितियों पर बिना विचार किए जिनमें किसी व्यक्ति ने उनका अनुभव किया है, हम उनका इस्तेमाल कर लेते हैं।

'यान्त्रिक अभिनय वास्तविक सद्यःअनुभूतियों की जगह परिश्रम से तैयार किये गये साँचों का इस्तेमाल करता है, जबकि अतिअभिनय [ओवर एक्टिंग] पहले-पहल हाथ लग जाने वाले, मानव के सामान्य लक्षण-रूढ़ियों का इस्तेमाल बिना उन्हें धारदार या रंगमंच के अनुकूल बनाए ही करता है। तुम्हारे साथ जो कुछ घटित हुआ वह समझ में आने लायक बात है, सीखने की शुरुआत करने वाले के लिए यह क्षम्य भी है। लेकिन आगे से बहुत सावधान रहो क्योंकि शौकिया किस्म का अतिअभिनय बहुत खराब किस्म के यान्त्रिक अभिनय में रूपान्तरित हो जाता है।

'सबसे पहले अपने काम के तमाम गलत नजरिये से अपना बचाव करो, और इसके लिए अभिनय की हमारी पद्धति-शैली [स्कूल] के मूलाधार का अध्ययन करो जो कि भूमिका को जीने का आधार है। दूसरी बात, उस तरह के निरर्थक कामों को दुहराओ मत जिनके तुमने अभी उदाहरण पेश किये और जिनकी मैंने अभी आलोचना की है। तीसरी बात, ऐसी कोई चीज जिसका तुमने आन्तरिक रूप से अनुभव न किया हो और जो तुम्हें दिलचस्प तक न लगे, उसका बाह्य चित्रण करने की कोशिश कभी मत करो।

'किसी कलात्मक सत्य को बाहर खींच निकालना मुश्किल काम है लेकिन यह कभी बेमजा नहीं होता। यह तब तक लगातार और भी आनन्ददायक होता जाता है और गहरे प्रवेश करता जाता है जब तक कलाकार की सम्पूर्ण सत्ता को, और दर्शकों को भी पूरी तौर पर अभिभूत नहीं कर लेता। वह भूमिका, जिसका निर्माण सच्चाई पर आधारित होता है, लगातार विकसित होती जाती है, जबकि रूढ़ि-साँचे पर बनी भूमिका सिकुड़ती जाती है।

'जिन रूढ़ि-परम्पराओं को तुम खोज निकालते हो वे जल्दी ही घिस जाती हैं। वे अब और तुम्हें उस तरह उत्तेजना नहीं देती जिस तरह उनसे तुम्हें पहली बार मिली थी जब तुमने उन्हें अन्त:प्रेरणा के भ्रम में ग्रहण किया था।

अब इन सब के साथ ये चीजें भी जोड़िये : हमारी नाटच गतिविधियों की दशा, अभिनेताओं की प्रस्तुतियों पर विज्ञापन-प्रचार का असर, सफलता के लिए जनता पर हमारी निर्भरता, और इन सारी स्थितियों से पैदा होने वाली यह इच्छा कि रंग जमाने के लिए किसी भी साधन का इस्तेमाल कर लिया जाए। ये व्यावसायिक उत्तेजन उस वक्त भी अभिनेता को अपनी गिरफ्त में ले लेते हैं जब वह अच्छी तरह स्थापित भूमिका में अभिनय कर रहा होता है। ये उसके अभिनय की गुणवत्ता का विकास नहीं करते बल्कि उलटे उनके असर से अभिनेता में आत्मप्रदर्शन की प्रवृत्ति बढ़ती है और वह साँचे में ढला, बासी अभिनय करने लगता है।

'जहाँ तक ग्रीशा का सवाल है, उसने अपने रबर के ठप्पों पर सचमुच काम किया था जिसका नतीजा यह हुआ कि कमोवेश वह अच्छा ही हुआ; लेकिन तुम्हारे मामले में वह खराब हुआ क्योंकि तुमने उसपर काम नहीं किया था। इसलिये मैं उसके काम को जरा अच्छा यान्त्रिक अभिनय कहता हूँ और तुम्हारे अभिनय के असफल हिस्से को शौकिया अतिअभिनय।'

'नतीजन, हमारे धन्धे में जो सबसे अच्छा और जो सबसे खराब है, मेरे अभिनय में उसी का घालमेल था।'

'नहीं, एकदम सबसे खराब नहीं; दूसरों ने जो कुछ किया वह तो तुमसे भी ज्यादा खराब था। तुम्हारा शौकियापन दुरुस्त किया जा सकता है, लेकिन दूसरों की गलतियाँ तो जानबूझकर अपनाये गये किसी तरीके के तहत की गई मालूम पड़ती हैं, जिसे सुधारना या जड़ से उखाड़ फेंकना बहुत मुश्किल है।'

'यह कैसी गलतियाँ हैं ?'

'कला का गलत इस्तेमाल या शोषण।'

'यह कैसे होता है ?' एक छात्र ने पूछा।

'जैसे सोन्या वेलियामिनोवा ने किया।'

'मैं !' बेचारी लड़की आश्चर्य में अपनी सीट से उछल पड़ी। 'मैंने क्या किया ?'

'तुमने अपने छोटे-छोटे हाथ, छोटे-छोटे पैर, अपनी पूरी देह का हमलोगों के सामने प्रदर्शन किया क्योंकि मंच पर से उन्हें ज्यादा अच्छी तरह दिखाया जा सकता है।' निर्देशक ने जवाब दिया।

'ओह ! कितनी भयकर बात है। मुझे तो कभी इसका एहसास ही नहीं हुआ।'

'उन आदतों के साथ हमेशा यही होता है जो आदमी की रगों में भिद जाती हैं।'

'तब आपने मेरी प्रशंसा क्यों की ?'

'क्योंकि तुम्हारे हाथ-पैर खूबसूरत हैं।'

'तब इसमें खराबी कहाँ थी ?'

'इसका खराब हिस्सा वह था जिसमें तुमने कैथेराइन की भूमिका अदा करने के बजाए दर्शकों के सामने नाजनखरे की अदाएँ दिखाने के लिये इतराने लगीं। जानती हो न कि शेक्सपियर ने अपना नाटक 'टेमिंग आव द श्रियु' इसलिए नहीं लिखा कि सोन्या वेलियामिनोवा नामकी कोई छात्रा रंगमंच पर से दर्शकों को अपने छोटे-छोटे हाथ-पैर दिखाये या अपने प्रशंसकों से आशिकबाजी कर सके। शेक्सपीयर के सामने दूसरा उद्देश्य था जिस तक तुम तो पहुंच ही नहीं सकीं और इसीलिए हमलोग भी उसे न जान सके। दुर्भाग्यवश हमारी कला का व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये अक्सर शोषण या गलत इस्तेमाल होता रहता है। तुमने इसका इस्तेमाल अपनी खूबसूरती दिखाने के लिये किया। दूसरे इसका इस्तेमाल लोकप्रियता अर्जित करने या बाहरी सफलता पाने या कैरियर बनाने के लिए करते हैं। हमारे धन्धे में इस तरह की बातें बड़ी आम हैं और मैं चाहता हूं कि तुमलोग जल्दी से जल्दी इन सबसे बचना सीख जाओ।

'अब मैं तुमलोगों से जो कुछ कहने जा रहा हूँ उसे खूब अच्छी तरह याद रखो : रंगमंच अपने प्रचार-विज्ञापन और भव्य दृश्योपमता के कारण ऐसे बहुत से लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है जो या तो अपनी खूबसूरती भुनाना चाहते हैं या फिर कैरियर बनाने के लिये इसका इस्तेमाल करना चाहते हैं। वे लोगों के अज्ञान, विकृत रूचि, कुछ लोगों की खास पसन्दगी, वैमनस्य-षड्यन्त्र, झूठी सफलता और ऐसे दूसरे अनेक साधनों—जिनका सर्जनात्मक कला से कोई ताल्लुक नहीं—का नाजायज फायदा उठाना चाहते हैं। ये शोषक-विध्वंसक कला के सबसे खतरनाक दुश्मन हैं। हमें उनके साथ बेहद कठोरता से पेश आना होगा और अगर वे अपने को सुधारते नहीं तो उन्हें रंगमंच से निकाल बाहर कर देना होगा।' इसके बाद तोर्त्सोव ने सोन्या की ओर मुड़कर कहा, 'इसलिए अब तुम हमेशा-हमेशा के लिए पक्का निश्चय कर लो कि तुम यहाँ कला की सेवा करने और उसके लिए हर तरह का त्याग करने के लिए प्रस्तुत होकर आई हो या अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए इसका इस्तेमाल करने।

'बावजूद इसके,' अब हम सबकी ओर मुखातिब होते हुए तोर्त्सोव ने कहा, 'महज सैद्धान्तिक रूप से ही हम कला को इस तरह अलग-अलग खानों में बाँट सकते हैं। व्यावहारिक रूप से अभिनय की सभी पद्धति-शैलियाँ एक दूसरे में मिली-जुली होती हैं। दुर्भाग्यपूर्ण होने पर भी यह सच है कि अक्सर हम बड़े-बड़े कलाकारों को

मानवीय कमजोरियों के कारण यान्त्रिक अभिनय की निचली सीढ़ियों तक उतर आना पड़ता है; दूसरी ओर यान्त्रिक अभिनेता भी कुछ क्षणों के लिए सच्ची कला की ऊँचाइयों को छूने लगते हैं ।

'भूमिका को जीने, उसकी पुनर्प्रस्तुति, यान्त्रिक अभिनय और उसके गलत इस्तेमाल के क्षणों को एक दूसरे का स्थान लेते अक्सर हम एक ही सिलसिले में देख लेते हैं । इसीलिए अभिनेताओं को कला की सीमाएँ पहचानना इतना जरूरी है ।'

तोर्त्सोव की व्याख्याएँ सुनने के बाद मुझे यह साफ दिखाई पड़ने लगा कि प्रदर्शन प्रस्तुति ने फायदा के बजाय हमें नुकसान ही ज्यादा पहुंचाया है । जब तोर्त्सोव को मैंनें अपनी यह धारणा बताई तो उन्होंने प्रतिवाद करते हुए कहा :

'नहीं । प्रस्तुति ने तुम्हे यह दिखा दिया कि रंगमंच पर तुम्हें क्या कुछ कभी नहींकरना चाहिए ।'

इस विचार-विमर्श के आखीर में निर्देशक ने घोषणा की कि आगामी कल से तोर्त्सोव के साथ पढ़ने सीखने के साथ ही हमें गायन, नृत्य, व्यायाम और शस्त्र-चालन का नियमित अभ्यास करना होगा जिससे हमारे शरीर और आवाज का विकास हो सके । इनकी कक्षाएँ प्रतिदिन लगेंगी क्योंकि मानवीय देह की माँसपेशियों के बिकास के लिये लंबे समय तक, व्यवस्थित रूप से, पूर्णतायुक्त अभ्यासों की जरूरत है ।

●

नाट्य की तात्विक अवधारणा

ग्रोटोवस्की से बार्बा की बातचीत



प्रश्न—आपकी 'नाट्यप्रयोगशाला' मन में वैज्ञानिक अनुसंधान की भावना जगाती है। नाट्य के साथ वैज्ञानिक अनुसंधान की यह धारणा क्या आप को ठीक लगती है ?

उत्तर--अनुसंधान शब्द का अर्थ केवल वैज्ञानिक अनुसंधान नहीं है। नाट्य के संदर्भ में अनुसंधान से हमारा तात्पर्य यह है कि हम अपने कार्य की जाँच-पड़ताल करके उसे जरा नजदीक से देखें; ठीक वैसे ही जैसे मध्यकालीन शिल्पी किसी काठ का निरीक्षण उसमें पहले से मौजूद रूपाकार को गढ़निकालने के लिए करता था। हमलोग वैज्ञानिक या कलाकार की तरह कार्य नहीं करते बल्कि उस मोची की तरह करते हैं जो काँटा ठोकने के लिए जूते में सही जगह को तलाशता है। इस शब्द का अर्थ जरा बेतुका सा लगता है क्योंकि इसका सम्बन्ध मानवप्राणी के रूप में अपनी ही 'प्रकृति' का अन्वेषण है और फिर इस युग में जब सभी भाषायें आपस में उसी प्रकार मिलजुल गयी हों जैसे 'बाबेल' की मीनार में, जब सभी कला-शैलियां आपस में गड्डमड्ड हो गई हों, नाट्य की मृत्यु का खतरा आ उपस्थित हुआ है क्योंकि इसपर सिनेमा और टेलीविजन ने आक्रमण कर दिया है। यह स्थिति हमें यह पूछने के लिए बाध्य करती है कि 'नाट्य' है क्या ? यह इस प्रकार की दूसरी कलाओं से कैसे भिन्न है ? और वे कौन सी बातें हैं जिनके कारण नाट्य का स्थान दूसरी और कोई चीज नहीं ले सकती ?

प्रश्न—अपनी अनुसंधान-यात्रा में आप किसी परिभाषा तक पहुंच सके ?

उत्तर—'नाट्य' शब्द का अर्थ क्या है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके आमने-सामने हम अक्सर अपने आप को पाते हैं। इस प्रश्न के उत्तर अब तक अनेक प्रकार से दिए गये हैं :

प्रोफेसरों का थिएटर

प्रोफेसरों के लिए 'थिएटर' एक ऐसा टोंटीदार बर्तन है जिसमें से निर्देशक-अभिनेता आदि लिखित नाटक को उड़ेलते हैं; लिखित नाटक रंगकर्मी को कुछ विशेष स्थितियाँ रचने, कुछ विशेष भावभंगिमाएँ प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करता है जिनसे इस लिखित नाटक को और अच्छी तरह समझने में मदद मिलती है। इस दृष्टि से रंगमंच नाट्यसाहित्य का उपयोगितावादी पहलू है।

बौद्धिक रंगमंच इस अवधारणा का ही एक दूसरा रूप है। इसके समर्थक थियेटर को बहस का मंच भर समझते है। इसमें भी पाठ्यांश ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण

तत्व है, रंगमंच तो व्यवस्थित मुकाबलों और संघर्षों के जरिए कुछ विशेष बौद्धिक स्थापनाओं को अतिरंजित महत्व देने का साधन मात्र है। यह वक्तृता की मध्यकालीन कला का पुनरागमन है।

दर्शकों का थिएटर

औसत दर्शक के लिए सर्वोपरि थियेटर मनोरंजन की जगह है। जब दर्शक वहाँ हल्की-फुल्की कला का साक्षात्कार करने जाता है तो नाट्य के पाठ्यांश में उसकी जरा भी दिलचस्पी नहीं होती। रंगशाला में उसे आकर्षित करनेवाली चीजें हैं अभिनेताओं द्वारा आशुसर्जित मजाक (कभी-कभी भद्दे भी), हास्यपूर्ण स्थितियाँ और मौके के अनुसार शब्दों के साथ खिलवाड़। दर्शकों का ध्यान सबसे अधिक आकर्षण-केन्द्र के रूप में अभिनेताओं पर ही केन्द्रित होता है। काफी हद तक विवस्त्र युवती विशेष आयु के दर्शक के लिए अपने आप में आकर्षण का केन्द्र बनती है। ऊपर से तो वह उसके प्रति बड़ी सांस्कृतिक अभिरुचि प्रदर्शित करता है किन्तु वह अंततः उसकी-मूल प्रवृत्यात्मक कमजोरी का सूचक है।

सीधे-सादे ढंग से कहें तो दर्शक तनावमुक्त होना चाहता है। वह मानसिक विश्राम चाहता है। ऐसी स्थिति में मनोरंजन, चुहलबाजी और आमोदात्मक मूल्य पाठ्य के साहित्यिक मूल्य से अधिक महत्वपूर्ण हो उठते हैं। सांस्कृतिक आकांक्षाओं वाला दर्शक समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय नाट्यसाहित्य की कृतियों की रंग-प्रस्तुतियाँ देखना भी पसन्द करता है। यह त्रासदी नाटक भी हो सकता है; लेकिन तब उसमें अतिनाटकीय तत्वों की प्रधानता हो। दर्शकों की पसन्द में कोई एकरूपता या आंतरिक सामंजस्य नहीं है। एक ओर तो नाट्यप्रेक्षक के रूप में वह उच्च सामाजिक स्तर की प्रतिष्ठा चाहता है दूसरी ओर वह ऐसी संवेगात्मक अनुभूतियाँ भी चाहता है जो उसे सन्तोषप्रदान कर सकें। दर्शक एण्टीगोनी के प्रति करुणा अनुभव करता है और दुष्ट क्रेयान के प्रति विरक्ति। हाँलाकि वह नायिका के त्याग में कोई हिस्सा नहीं बँटाता फिर भी वह अपने को उसके समान ही समझता है। उसके लिए यह उच्च भावनाओं के प्रदर्शन का प्रश्न है। इस प्रकार की भावनाओं का शिक्षात्मक मूल्य सन्देहास्पद है। क्रेयान जैसे लोगों से भरी हुई रंगशाला नाट्याभिनय के दौरान अपने आप को एन्टीगोनी के सदृश समझती है। किन्तु यह अनुभूति अपने सामान्य कार्यों में लगते ही दर्शकों को क्रेयान के समान आचरण करने से जरा भी रोकती नहीं। ध्यान देने की बात है कि जिन नाटकों में दुखद बचपन की स्थितियाँ प्रस्तुत की जाती हैं वे सफलतम नाटकों में होते हैं। रंगमंच पर गरीब पीड़ित बालक को देख कर दर्शक उस बेचारे के प्रति सहानभूति से भर जाता है और इस प्रकार वह अपने आप को ऊँचे नैतिक मानदण्डों तक उठा हुआ अनुभव करता है।

अभिनेता का थिएटर

स्वयं रंगकर्मियों को भी बहुधा नाट्य की धारणा बहुत स्पष्ट नहीं हो पाती। औसत अभिनेता की दृष्टि में नाट्य सर्वोपरि वह स्वयं है। किन्तु ऐसा वह अभिनय सम्बन्धी अपनी योग्यताओं को ध्यान में रखकर नहीं सोचता बल्कि व्यक्ति-रूप में ही वह अपने आप को थियेटर समझता है। इससे अभिनेता में दम्भ उत्पन्न होता है और वह बड़े आतमतोष के साथ रोजमर्रे की बड़ी मामूली हरकतें, जैसे चलना, उठना, बैठना, सिगरेट जलाना, जेब में हाथ डालना और दैनन्दिन मुद्रायें, जैसे स्वागत करना या विदा लेना सम्पादित करता है। ये कुछ अभिव्यक्त नहीं करतीं, फिर भी अपने आप में उसे महत्वपूर्ण लगती हैं। क्योंकि वह अमुक अभिनेता द्वारा सम्पादित हैं जो अपने आप को ही थियेटर समझता है। और यदि अभिनेता के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी मोहकता भी हो जो दर्शकों को आकृष्ट करती है तब तो उसकी धारणा और भी पक्की हो जाती है। ऐसी स्थितियों में अभिनेता बर्बर हरकतें भी करने लगता है, जैसे अपने मंच-प्रवेश को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए वह मंच पर थूकता है और फिर उसे अपने जूते की नोक से पोंछता हुआ आगे बढ़ जाता है। और दर्शक ऐसी हरकत का स्वागत प्रशंसाघोष के साथ करते हैं क्योंकि यह क्रिया लोक-प्रिय अभिनेता द्वारा सम्पादित हुई है।

डिजाइनर का थियेटर

डिजाइनर के लिये थियेटर सर्वोपरि रूपद कला है। इस अवधारणा का थियेटर पर काफी प्रभाव पड़ा है। डिजाइनर अक्सर साहित्यिक रंगमंच का पक्षधर होता है। उसका कथन है कि अभिनेता की ही भाँति दृश्यपरिकल्पना का उद्देश्य भी लिखित नाटक की व्याख्या करना है। उसकी इस व्यावसायिक आस्था का उद्देश्य साहित्यसेवा की इच्छा नहीं है। बल्कि निर्देशक के प्रति उसकी मनोग्रंथि है। डिजाइनर अपने को लेखक से जोड़ता है क्योंकि वह उससे काफी दूर होता है और उस पर कम नियन्त्रण-सीमाएँ थोपता है। व्यवहारत: अधिक उल्लेखनीय डिजा-इनर नाटक की ऐसी दृश्यपरिकल्पना प्रस्तुत करता है जो लेखक की कल्पना से बहुत परे चली जाती है और कभी-कभी तो लेखक की कमी को इंगित करने लगती है। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि हमारे देश में डिजाइनर बहुत कुछ थियेटर के पुरस्कर्त्ता (Pioneer) जैसे हो गये हैं। बीसवीं शताब्दी के कलांदोलनों की आक्रा-मक भावना से उन्होंने काफी अवसरवादी लाभ उठाया है; हांलाकि निर्देशकों और लेखकों को इन्होंने बहुत कम प्रभावित किया है। क्या इसमें कोई खतरा निहित है ? वे आलोचक जो डिजाइनरों पर रंगमंच को आक्रांत करने का दोषारोपण करते हैं,

अपने पक्ष में जो तर्क प्रस्तुत करते हैं वे वस्तुतः उचित हैं, पर समस्या की उनकी पकड़ दोषपूर्ण है। वे ऐसे ही हैं जैसे किसी गाड़ी को इसलिए फटकारा जा रहा हो कि वह घोंघें की चाल क्यों नहीं चलती। डिजाइनर की कल्पना सर्जनात्मक होती है, बँधी-बँधाई रूढ़ नहीं। फिर भी विशाल विस्तार के कारण इसकी अभिव्यंजनात्मक प्रकृति नष्ट हो जाती है। आलोचकों को यही बात परेशान करती है, न कि डिजाइनर की कल्पना का अभिनेता और निर्देशक पर छा कर उन्हें बौना कर देना। तब भी अंततोगत्वा डिजाइनर का थियेटर सजीव चित्रों की शृंखला में रूपांतरित हो रहा है। किन्तु क्या यह नाट्य का तिरोभाव नहीं है ?

निर्देशक का थियेटर

निर्देशक के लिए थियेटर क्या है ? निर्दक वे रंगकर्मी होते हैं जो अन्य क्षेत्रों में सफलता न मिलने पर इस धन्धे को अपनाते हैं। जो कभी नाट्यलेखक बनने का स्वप्न देखा करता था वह आग्रहपूर्वक निर्देशक बन जाता है। असफल अभिनेता, ऐसा अभिनेता जो किशोरावस्था में प्रमुख भूमिकायें करता था और अब अधेड़ हो रहा है, निर्देशक बन जाता है; नाट्यालोचक जब नाट्यप्रस्तुतियों का केवल लिखित विवरण प्रस्तुत करते हुए नाट्यकला और रंगकर्मियों के समक्ष तीव्र हीनता का अनुभव करता है तब वह निर्देशक बन जाता है। साहित्य के प्राध्यापक जब अपने अनुसंधान कार्य से ऊब जाते हैं और रंगमंच के प्रति कुछ संवेदनशील होते हैं तो अपने को निर्देशन देने में समर्थ अनुभव करने लगते हैं। वे नाटक से तो परिचित होते ही हैं और उनके लिए नाट्य-सृष्टि लिखित नाटक के चित्रण के सिवा और क्या है ? इन्हीं सब कारणो से निर्देशकों की नाट्य-सम्बन्धी धारणाओं में काफी विविधता है—इसलिए नहीं कि उनके सौंदर्यशास्त्रीय चिन्तन में भिन्नता है बल्कि इसलिए कि उन्हें प्रेरित करने वाले मनोवैज्ञानिक कारण अलग-अलग हैं। वे निर्देशन विभिन्न प्रकार की मनोवैज्ञानिक क्षतिपूर्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए जिनलोगों की राजनीतिक प्रवृत्तियाँ असन्तुष्ट रह जाती हैं वे निर्देशक बनकर इस शक्तिशाली कलारूप से उपलब्ध आधिपत्य-आनन्द से सन्तुष्टि लाभ करते हैं। इससे प्रायः नाटक की व्याख्या के विकृत फार्मूले जन्म लेते हैं। इसी कारण अत्यधिक आधिपत्य की प्रवृत्ति से ग्रस्त निर्देशक सत्ता विरोधी संघर्षात्मक नाटयप्रस्तुतियाँ करते हैं और यहीं से अक्सर विद्रोह का नाटक जन्म लेता है।

स्वभावतः निर्देशक सर्जक बनना पसन्द करता है और इसीलिए वह अपने को साहित्य से मुक्त थियेटर का पक्षधर घोषित कर देता है। वह साहित्य को नाट्यसृष्टि का बहाना मात्र समझता है किन्तु इस प्रकार के सर्जनात्मक कार्य करने वाली प्रतिभायें बड़ी दुर्लभ हैं। अधिकांश लोग तो साहित्यिक और बौद्धिक थियेटर

के फार्मूले से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। 'यहाँ बौद्धिक' शब्द महत्वपूर्ण है। यह आधुनिक युग का मनुष्य होने का प्रभाव छोड़ता है या मूलत: यह वैगनर के फार्मूले का पालन करने वाला होने का अहसास देता है। वैगनर का कथन था कि थियेटर को सभी कलाओं का संश्लेषण होना चाहिए। अत्यन्त उपयोगी फार्मूला है। इस धारणा से लिखित नाटक के सम्मान की भावना जगती है (यह एक ऐसा आधारभूत तत्व है जिसे कुचला नहीं जाना चाहिए), साथ ही इससे साहित्यिक और दार्शनिक गोष्ठियों के साथ संघर्ष से भी बचा जा सकता है। इस संदर्भ में यहाँ प्रासंगिक रूप से यह भी उल्लेख कर दिया जाये कि प्रत्येक लेखक—ऐसा भी जिसे असीम उदारतावश ही लेखक कहा जा सकता है, शेक्सपीयर और मिकिएविक्ज के समान अपने अधिकार और सम्मान की रक्षा चाहता है। महज इसलिये कि वह अपने को भी उन्हीं के समान लेखक-समुदाय का सदस्य समझता है। इस प्रकार वैगनर का सिद्धान्त 'थियेटर सम्पूर्ण कला है' साहित्य के क्षेत्र में 'वीर की शान्ति' स्थापित करता है। इस फार्मूले के अनुसार दृश्य-परिकल्पना का पूरा उपयोग किया जा सकता है, इसके रूपद तत्वों को प्रस्तुति में पूरी तरह समन्वित किया जा सकता है और सभी सफलताओं का श्रेय इसे प्राप्त हो सकता है। यही बात संगीत पर भी लागू होती है चाहे यह मौलिक हो या दूसरे रचनाकारों के टुकड़ों को लेकर संयोजित किया गया हो। इसके साथ ही एक या कई अभिनेताओं के नाम भी जोड़ दीजिए और चमत्कार देखिए। एक दूसरे के साथ समायोजित संयोजित इन तत्वों के आधार पर एक ऐसी प्रस्तुति का जन्म होगा जो निर्देशक के अहं को सन्तुष्ट करेगी—एक ऐसे व्यक्ति के अहं को जो अपने को सभी कलाओं के शिखर पर अधिष्ठित करता है और स्वयं कोई सर्जनात्मक कार्य किये बिना ही इन सभी कलाओं का अवशोषण करता है क्योंकि यह सर्जनात्मक कार्य—यदि इस पूरी प्रक्रिया में उसकी वास्तव में कहीं गुंजाइश है—उसके लिए दूसरे करते हैं।

इस प्रकार नाट्य की परिभाषाएँ असीमित हो सकती हैं। इस दुष्ट चक्र से बचने के लिए निसंदेह अच्छा तरीका यह होगा कि हम जोड़ने के बजाए घटाने की पद्धति अपनाएँ, अर्थात हमारा प्रश्न यह हो कि वह ऐसी कौन सी चीज है जिसके बिना थियेटर हो ही नहीं सकता। क्या वेशभूषा और दृश्यपीठ के बिना नाट्य संभव हो सकता है ? हो सकता है। क्या नाट्यवस्तु के विकास को संबल प्रदान करने वाले संगीत के बिना नाट्य की संभावना हो सकती है ? हाँ, हो सकती है। क्या प्रकाश-प्रभाव के बिना नाटक हो सकता है ? निश्चय हो सकता है। और नाट्यालेख के बिना ? रंगमंच का इतिहास सिद्ध करता है कि ऐसा हुआ है। नाट्यविकास की यात्रा में नाट्यालेख का योग बाद के चरणों में हुआ है। यदि कुछ अभिनेताओं को किसी स्थिति की रूपरेखा देकर मंच पर भेज दिया जाए जहाँ वे आशुसृजन करें

(क्रियाएँ, संवाद आदि) जैसा कि कमेदिया देल आर्ते में हुआ करता था—तो उनका यह सर्जन 'नाट्य' ही होगा। यह तब भी नाट्य ही रहेगा जब शब्द स्पष्ट श्रव्य न रह कर मात्र अस्पष्ट बड़बड़ाहट ही हों। क्या नाट्य का अस्तित्व अभिनेता के बिना भी संभव है। इस प्रकार के किसी उदाहरण का मुझे पता नहीं। कठपुतलियों के थियेटर का उल्लेख किया जा सकता है। किंतु यहाँ एक दूसरे रूप में ही सही अभिनेता की उपस्थिति है ही। क्या प्रेक्षकों के बिना नाट्य का अस्तित्व हो सकता है। नाट्यसृष्टि के लिये कम से कम एक प्रेक्षक की उपस्थिति आवश्यक है। इस प्रकार नाट्यसृष्टि के लिए मात्र दो बातें अनिवार्य सिद्ध होती हैं—अभिनेता और प्रेक्षक।

अभिनेता और प्रेक्षक

इस प्रकार हम नाट्य की परिभाषा अभिनेता और दर्शक के मध्य घटित होने वाली प्रक्रिया के रूप में कर सकते हैं। शेष सभी कुछ अनुपूरक हैं–संभवतः आवश्यक, लेकिन अनुपूरक भर। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि हमारे नाट्य का विकास समृद्ध साधनों—रूपद कलाओं, प्रकाशतंत्र, संगीत आदि—से युक्त नाट्य से अकिंचन साधनों वाले नाट्य, संन्यासी नाट्य की ओर हुआ। कई वर्षों से हम इसी का अभ्यास कर रहे हैं जिसमें तत्वतः केवल अभिनेता और प्रेक्षक होते हैं और जिसमें शेष सारे दृश्यतत्व, जैसे रूपदतत्व, अभिनेता के शरीर से निकाले जाते हैं, संगीतात्मक और ध्वन्यात्मक प्रभाव अभिनेता की आवाज से प्रस्तुत किए जाते हैं आदि ....। यही कारण है कि हम लिखित नाटक को प्रतिमान के रूप में न स्वीकार कर उछालतख्त (स्प्रिंग बोर्ड) के रूप में ग्रहण करते हैं। ऐसा इसलिये नहीं कि हम साहित्य का तिरस्कार करते हैं, बल्कि इसलिये कि नाट्य का सर्जनात्मक अंश साहित्य में नहीं मिल सकता, भले ही महान साहित्यिक कृतियाँ इस प्रकार के सर्जन के लिये अमूल्य प्रेरणा स्रोत सिद्ध हों। अब यदि हमारे नाट्य में अभिनेता और प्रेक्षक मात्र शेष रह जाते हैं तो यह स्थिति इन दोनों से खास कड़ी माँगे करती है। और यदि हम प्रेक्षक को प्रशिक्षित नहीं कर सकते तो कम से कम अभिनेता को तो व्यवस्थित तरीका अपना कर निश्चय ही प्रशिक्षित कर सकते हैं।

प्रश्न—आप की दृष्टि में अभिनेता का कार्य क्या है ?

उत्तर—अभिनेता जनता के बीच अपने शरीर को लेकर कार्य करता है। वह अपना शरीर जनता को अर्पित करता है। किंतु यदि उसका शरीर औसत आदमी जितना कुछ देखदिखा सकता है उतना ही प्रदर्शित कर संतुष्ट हो जाता है, यदि वह ऐसा साधन नहीं बन जाता जिससे वस्तुतः आत्मिक क्रियाएँ (Spiritual acts)

संपादित की जा सकें, यदि इसका दोहन धन या जनप्रियता की दृष्टि से सफलता के लिये किया जाता है, तब अभिनेता की कला वेश्यावृत्ति के बहुत करीब पहुँच जाती है। और यह कोई महज संयोग की ही बात नहीं कि पिछली कई शताब्दियों में नाट्य वेश्यावृत्ति के ही किसी न किसी अर्थ का द्योतक रहा है। किसी समय अभिनेत्री और वेश्या शब्द समानार्थक रहे हैं। आज इन दोनों के बीच स्पष्ट सीमारेखा हो गई है, इसलिये नहीं कि अभिनेता-गोष्ठी में कोई परिवर्तन हुआ है—बल्कि इसलिये कि सामाजिक जीवन की पद्धति में ही फर्क आ गये हैं; आज भली औरत और वेश्या के बीच का फर्क मिटता जा रहा है। इसके अलावा, आमतौर से प्रचलित अभिनेता के व्यवसाय को देखकर जो बात खलती है वह उसकी गरीबी है; शरीर-प्राण का ऐसा सौदा जिसमें उसके संरक्षक—निर्माता—निर्देशक आदि उसे शोषित पीड़ित करते हैं जिसके परिणामस्वरूप अभिनेता भी षडयंत्र विद्रोह आदि में लिप्त हो जाते हैं। धर्मविदों के मतानुसार घोरपापी ही संत-महात्मा बन सकता है; उसी प्रकार अभिनय-व्यवसाय की दुरवस्था ही उसे संतभाव में रूपांतरित करेगी। नाट्य के इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है।

स्वभावत: जब मैं 'संतभाव' की बात करता हूँ तो उसका संबंध किसी धर्म से नहीं है, वह धर्म निरपेक्ष है। यदि अभिनेता आत्म-उद्‌बोधन द्वारा सार्वजनिक रूप से दूसरों का भी उद्‌बोधन करता है, यदि वह किसी अतिरेक द्वारा, दैनंदिन जीवन के निर्विशिष्ट व्यक्तित्व की सीमा लाँघ कर किसी धर्म च्युति द्वारा, किसी वर्ज्य मर्यादा-भंग द्वारा वह अपनी आत्मा को टटोलता ढूँढता है तो वह दर्शकों को भी इसी प्रकार की खोज के लिए प्रोत्साहित करता है। यदि वह अपने शरीर का प्रदर्शन नहीं करता बल्कि वह उसे नष्ट कर देता है, जला डालता है, आत्मिक गतिशीलता के मार्ग में आने वाले अवरोधों से उसे मुक्त करता है, तब वह अपने प्राण-शरीर को बेचता नहीं—बल्कि दानार्पण करता है, वह मुक्ति की भंगिमा दुहराता है। तब वह संत-भाव के निकट पहुँच जाता है।

यदि इस प्रकार के अभिनय को क्षणभंगुर भर बन कर नहीं रह जाना है, यदि इसे किसी असामान्य व्यक्तित्व का विस्फोट-संयोग—एक ऐसी प्रक्रिया जिसके स्थान काल के विषय में भविष्यवाणी नही की जा सकती—बन कर नहीं रह जाना है, इस प्रकार के अभिनेताओं के कार्य पर जीविका के लिए निर्भर रहने वाली नाट्यमंडली को यदि अपना अस्तित्व बनाए रखना है, तो आवश्यक है कि इस प्रकार के अनुसंधान और प्रशिक्षण की विशिष्ट पद्धतियों को संहिताबद्ध किया जाए। यहाँ मैं अपने कार्य के बिलकुल तकनीकी और अच्छी तरह समझ में आने वाले हिस्से के विषय में बातें करके आरंभ करना चाहता हूँ।

संत अभिनेता—वेश्या अभिनेता

प्रश्न—संत अभिनेता के कार्य के विषय में आपकी अवधारणा क्या है ?

उत्तर—ऐसा माना जाता है कि अनुभव संपन्न अभिनेता कुछ खास तरह के तकनीकी अस्त्रों से सुसज्ज होता है। दूसरे शब्दों में उसके पास कुछ प्रक्रियाओं, उपायों और सूत्रों का भंडार होता है जिनमें से प्रत्येक भूमिका के लिये कुछ खास सहसंयोजनों को चुनकर दर्शकों को प्रसन्न करने के लिये वह अपनी भूमिका में उच्च कोटि की अभिव्यंजनात्मकता भरता है। मेरी दृष्टि में इस प्रकार के तकनीकी साधनों की शस्त्रावली कुछ रूढ़ियों का समुच्चय मात्र होती है। इस प्रकार के नाट्याभिनय को वेश्यावृत्ति की अवधारणा से पृथक करना मुश्किल है। संत अभिनेता और वेश्या अभिनेता की तकनीकी का अन्तर (यदि हम इस आत्यांतिक विरोध की भाषा में बात करें) व्यवहारतः वेश्या और संत की तकनीकों का अन्तर है। वेश्या की तकनीक अपने आपको सौंप देने की मुद्रा और सच्चे प्रेम से उत्पन्न आत्मार्पण को स्वीकार करने की होती है। दूसरी स्थिति में यह जानना महत्वपूर्ण है कि किस प्रकार आग्रहपूर्ण माँगों को निर्मूल किया जाए, प्रत्येक संभाव्य मोर्चे को पार कैसे किया जाए।

पहली स्थिति में अपने कौशलों की अभिवृद्धि का प्रश्न है, दूसरी स्थिति में अवरोधों-प्रतिरोधों को तोड़ डालने का प्रश्न है। पहली स्थिति में शरीर का अस्तित्व बनाए रखने का प्रश्न है, दूसरी स्थिति में एक प्रकार से इसे निश्शेष करने का प्रश्न है। संतअभिनेता की तकनीक आगमनात्मक होगी—घटाते रहने की तकनीक, जबकि वेश्या अभिनेता की तकनीक निगमनात्मक होगी—गुणकौशल जोड़ते रहने की तकनीक। यह सामान्य फार्मूला है जिससे उनकी अभिनयक्रियाएँ क्रमशः जुड़ी हुई हैं। अभिनेता जो आत्मवेधन, आत्मोत्सर्ग, अपने अत्यंत अंतरंग निजत्व के उपहारदान की क्रिया सम्पादित करता है उसकी सामर्थ्य में ऐसे सूक्ष्म मानस-आवेशों को प्रस्तुत करने की संभावनाएँ रहती हैं जो अन्यथा शायद ही ऊपर आ पाते; ऐसे मानस-आवेश जो हमारे मन के स्वप्न और यथार्थ के सीमान्तों के बीच हिचकिचाते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, ऐसे अभिनेता को ध्वनियों और मुद्राओं की अपनी निजी मनोविश्लेषणात्मक भाषा का निर्माण करने में समर्थ होना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे कोई महाकवि शब्दों की अपनी निजी मनोविश्लेषणात्मक भाषा को काव्ययथार्थ का रूप देता है। इसके साथ ही यदि हम, उदाहरण के लिये, ध्वनि की समस्या को लें तो अभिनेता के श्वासतंत्र और ध्वनितंत्र की रूपदता सामान्य आदमी की तुलना में बहुत अधिक विकसित होनी चाहिए। इससे भी ज्यादा, अभिनेता के श्वास और ध्वनितंत्र को प्रत्येक ध्वनि-सहज प्रतिक्रिया को इतनी तीव्रगति से व्यक्त करने में

समर्थ होना चाहिए कि सहज प्रवाह को बाधा दे सकने वाले विचार को हस्तक्षेप करने का मौका ही न मिले। साथ ही साथ उसे अपने शरीर-प्राण की उन समस्याओं का रहस्य भी समझना ही है जिन तक उसकी पहुँच हो सकती है। उसे यह जानना ही है कि उस वायु का दिशा-निर्देश करने वाले साधन क्या हैं जो ध्वनि को उसके शरीर के किसी खास हिस्से तक ले जाते हैं, जो विभिन्न तरह के अनुनादकों द्वारा अभिवृद्धि पाकर मेघ-मंद्रताएँ उत्पन्न करती हो। औसत कलाकार अपने चेहरे के भीतर के वाक्कौशल से ही परचित होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो मस्तक के अनुनादकों से ही परिचित होता है। ये अनुनादक वाणी की मंद्रता को शक्ति प्रदान करते हैं, इसे श्रेष्ठ आकार देते हैं, ऐसी ध्वनि देते हैं जो प्रेक्षकों के कानों को अधिक प्रिय लगती है। कभी-कभी वह सोचता है कि इसी प्रकार किंतु अन्य उद्देश्यों के लिए वक्ष के अनुनादकों का भी उपयोग किया जा सकता है। किंतु ऐसा अभिनेता जो प्राण-शरीर द्वारा प्रस्तुत संभावनाओं की सटीक तलाश में लगा हुआ है उसमें निहित अनुनादकों की असीम संख्या का पता पाता है। कम से कम इन दो तरह के अनुनादकों के अलावा वह पश्चकपालीय, अनुनासिक, दन्त्य, कंठीय उदर-देशीय और कटि-देशीय तथा अन्य अनुनादकों—जिनमें से कई का अभी हमें पता भी नहीं—से काम ले सकता है। संपूर्ण अनुनादक शरीर की संपूर्णता को आवेष्टित करते हैं। ऐसा अभिनेता अनुभव करेगा कि मंच पर उदरीय श्वसन मात्र पर्याप्त नहीं, क्योंकि यदि श्वास संबंधी संकट में पड़ना और शरीर द्वारा प्रस्तुत अवरोधों से टकराकर समाप्त हो जाना नहीं है तो आत्मिक क्रिया के विभिन्न स्तर भिन्न-भिन्न तरह के श्वसन की माँग करेगें। उसे पता लगता है कि नाट्य-विद्यालय में उसने जो शब्दोच्चार सीखा था वह अक्सर कंठावरोध की ओर ले जाता है, कि अपने कंठ को स्वेच्छया खोलने की शक्ति अर्जित करना उसके लिये आवश्यक है, कि इसके खुलने और बन्द होने का नियंत्रण बाहर से करना है, आदि-आदि। यदि वह इन समस्याओं को सुलझाता नहीं तो आत्मवेधन की प्रक्रिया असफल हो जाती है। क्योंकि तब उसे ऐसी कठिनाईयों का सामना करना पड़ेगा जो उसका ध्यान अपनी ओर खींच लेंगी। यदि अभिनेता अनुभव करता है कि उसका कोई शरीर भी है तो वह आत्मवेधन और उत्सर्ग का कार्य संपादित नहीं कर सकता। शरीर को अपने सभी अवरोधों से मुक्त होना ही है। उदाहरण के लिए मात्र इतना ही पर्याप्त नहीं है कि अभिनेता श्वसन और वाणी के क्षेत्रों में उपरि-लिखित अनुनादकों को क्रियाशील करने, कंठ खोलने, आदि की क्षमता अर्जित करे, उसे अपने आप को इस प्रकार प्रशिक्षित करना है कि वह इन सबसे अभिनय की समस्या के चूड़ान्त बिन्दु पर अनायास, अव-चेतन स्तर पर काम ले सके। और इस प्रकार इसके लिये अभ्यासों के एक दूसरे क्रम की आवश्यकता पैदा होती है। उसे यह अच्छी तरह से सीखना है कि अपनी

भूमिका के संपादन के समय तकनीकी उपकरणों (अनुनादक आदि) को जोड़े नहीं बल्कि अवरोधों को तोड़े (उदाहरणार्थ जब वे ध्वनि विस्तार या मंद्रता के मार्ग में बाधा के रूप में दिखाई पड़ें)। यह फर्क बहुत साफ दिखाई नहीं पड़ता लेकिन यही वह चीज है जिस पर सफलता निर्भर करती है। इससे पता लगता है कि अभिनेता कभी प्रशिक्षित तकनीक नहीं उपलब्ध कर पायेगा, कि आत्मान्वेषण के प्रत्येक स्तर पर–अतिरेकजनित अनुप्रेरणा के बिंदु पर, अपने भीतर छिपे अवरोधों के प्रत्येक विध्वंस पर, उच्चतर स्तरीय नई तकनीकी सीमाएँ सामने आयेंगी और तब उन पर विजय पाने लिये यह आवश्यक होगा कि आधारभूत अभ्यासों के क्रम को एक बार फिर से शुरू किया जाए।

यही बात गति, शरीर की रूपदता, मुद्राभंगी, मुखमुद्रा की बनावट, अभिनेता की शारीरिकता के प्रत्येक विवरण के साथ लागू होती है। यहाँ प्रस्तुत परिस्थितियों में आत्माभिनय का सवाल नहीं है (जिसे किसी के व्यक्तित्व को जीना कहा जाता है), महाकाव्यात्मक (एपिक) शैली में बाह्य रूप से संवेगहीन विश्लेषण के साथ तथाकथित दूरी पर रखते हुए किसी चरित्र को प्रस्तावित करने का भी प्रश्न नहीं है। यहाँ पर प्रश्न है चरित्र का इस्तेमाल उछालतख्त के रूप में––रोजमर्रे के हमारे मुखौटों के पीछे जो कुछ छिपा है उसकी पड़ताल के औजार के रूप में, हमारे व्यक्तित्व के गुह्यतम तक पहुँचने के साधन के रूप में करने का। इसलिये कि हम इसकी भेंट चढ़ा दें, इसे दे डालें। इससे न केवल अभिनेता के लिये बल्कि प्रेक्षक के लिए भी एक अतिरेक का निर्माण होता है। क्योंकि प्रेक्षक चेतन या अचेतन रूप से यह समझ जाता है कि ऐसी क्रिया स्वयं उसे भी ऐसा आचरण करने का आमन्त्रण है। यह अक्सर विरोध या क्रोध की ओर ले जाता है—उस सीमा तक जहाँ तक हमारे रोजमर्रे के काम सामान्यतया हमारी आत्मा के सत्य को झूठ के पर्दे से ढँक देते हैं—न केवल दूसरों की दृष्टि में बल्कि हमारी अपनी ही दृष्टि में भी। हम अपने स्वयं से सम्बन्धित सच्चाई से दूर भागते हैं और उल्टे हमसे कहा जाता है कि हम ठहरें और देखें। हमें डर है कि यदि हम मुड़कर देखें तो लाट्स की पत्नी की तरह हम भी नमक की मूर्ति में रूपान्तरित हो जाएँगे। मैं यहाँ उदाहरण नही देना चाहता क्योंकि वह बहुत जगह घेर लेगा। नाट्याभिनय के समय विशिष्ट उदाहरण विकसित किये जा सकते हैं।

सक्रिय प्रकरण के लिये निष्क्रिय उपलब्धता

उत्सर्ग की क्रिया के सम्पादन के लिये अभिनेता की शारीरिक और आत्मिक शक्तियों की मुक्तगति आवश्यक है और इसके लिये अभिनेता को निष्क्रिय उपलब्धता की स्थिति में होना चाहिए। सक्रिय प्रकरण को यथार्थ में लाने के लिये निष्क्रिय उप-

लब्धता। यहाँ आलंकारिक भाषा का प्रयोग आवश्यक हो उठा है : इन सब में निर्णायक चीज है दैन्य, कुछ करने की न केवल आत्मिक कामना बल्कि यह न करने से अपने को रोकना। अन्यथा अतिरेक दानोत्सर्ग की बजाय अभद्रता बनकर रह जायेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि अभिनेता को समाधि की दशा में अभिनय करना पड़ेगा। मेरी दृष्टि में समाधि नाट्याभिनय में चित्त को एकाग्र करने की शक्ति है। कम से कम सदिच्छा द्वारा भी इसे अर्जित किया जा सकता है। यदि मुझे एक ही वाक्य में कहना हो तो कहूँगा यह आत्म के दानोत्सर्ग में निहित है। अपने आप को, नितांत निरावरण, सर्वाधिक अन्तरंगता में, पूरे विश्वास के साथ दे डालना आवश्यक है—जैसे कोई प्रेम में अपने को दे डालता है। यहीं पहुँच कर सबकुछ घनीभूत हो उठते हैं : आत्मवेधन, समाधि, अतिरेक, स्वयं रूपाकार का अनुशासन—वे सब चीजें जो आत्म के मधुरोष्ण दान द्वारा उपलब्ध होती हैं—वैसे ही जैसे नियंत्रणमुक्त दैन्य में। यह क्रिया एक चरमबिन्दु पर पहुँच कर होती है और इससे शान्ति का उदय होता है। बिना किसी अपवाद के ये सारे अभ्यास जो अभिनेता के प्रशिक्षण-कार्यक्रम में नियोजित है कौशल-अर्जन के अभ्यास न होकर ऐसी सन्दर्भ-व्यवस्था का निर्माण करें जो आत्मोत्सर्ग की अवर्णनीय, किंतु पकड़ में आने वाली प्रक्रिया की ओर ले जायें।

ये सब बातें कुछ अजीब सी लग सकती हैं और इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यहाँ हम चिकित्सक या उपचारक के ज्ञानक्षेत्र में बातें कर रहे हैं। यदि हमारा झुकाव वैज्ञानिक फार्मूलों पर ही हो तो हम कह सकते हैं ये मनोनिदेश (Suggestion) के प्रयोगसूत्र हैं जिनका उद्देश्य विचारबिंब परक (Ideoplastic) प्रस्तुति है। दरअसल जो कुछ भी असामान्य या जादुई सा दिखाई पड़ता है वही अभिनेता और प्रस्तुतकर्ता की कल्पना को प्रभावित करता है। मेरा तो मत है कि अभिनेता अपने शरीर के जिन हिस्सों को कभी अपनी समृद्धि के स्रोत के रूप में अनुभव करता है उनको खोज कर एक अलग ही विशेष प्रकार के शरीरशास्त्र का निर्माण किया जाए। कटि प्रदेश, निम्न उदर और तलुवे की रक्तवाहिनी या स्नायु-तंतुजाल कभी-कभी इसी प्रकार कार्य करते हैं।

इस प्रक्रिया का एक आवश्यक तत्व कृत्रिमता या रूपाकार के संघटन की यात्रा में निहित है। दानोत्सर्ग की क्रिया सम्पादित करने वाला अभिनेता अपने आपको एक ऐसी यात्रा में डाल देता है जिसका वर्णन वह ध्वनि और मुद्राभंगिमाओं की सहजक्रिया के माध्यम से करता है और उसके द्वारा वह दर्शकों को आमंत्रित करता है। अभिनेता द्वारा प्रयुक्त प्रतीक-चिह्नों को स्पष्टता से व्यक्त होना आवश्यक है। अभिव्यंजात्मकता सदा ही परस्पर विरोध और मतभेद के कुछ रूपों से जुड़ी होती है। ऐसा आत्मवेधन जो अनुशासन समन्वित नहीं होता वह मुक्ति न होकर एक प्रकार की जीवशास्त्रीय व्यवस्था बन जाता है।

अनुशासन और स्वयंक्रियता

प्रश्न—आयासपूर्वक रूपाकार गढ़ने के साथ स्वयंक्रियता का तालमेल आप कैसे बिठाते हैं ?

कृत्रिमता की गढ़न का सम्बन्ध विचार-चित्र-लिपि (ध्वनियाँ, मुद्राभंगिमायें) द्वारा प्रेक्षक के अन्तर्मन के साहचर्यों को छूने से है। किसी प्रस्तरखंड के सन्दर्भ में शिल्पी जिस प्रक्रिया का साक्षात्कार करता है यह भी वैसा ही कार्य है, यह छेनी और हथौड़े का सचेतन उपयोग है। उदाहरणार्थ यह आत्मिक प्रक्रिया में उद्भूत बाहु की सहज क्रिया के विश्लेषण में निहित होता है, जिसका क्रमिक विकास कंधा, किहुनी, कलाई और अंगुलियों तक पहुँचता है, यह इन तत्वों को एकीकृत करने के ढंग में निहित होता है; कैसे इसे एक चिह्न-संकेत, एक विचार-चित्र-लिपि द्वारा व्यक्त किया जाए जिससे या तो तत्काल अभिनेता के गुह्य अभिप्रायों का सम्प्रेषण हो सके या फिर उनके साथ एक प्रकार का संवाद अनुप्रेरित हो सके।

एक निर्मिति-संघटना को सूत्रबद्ध करने की प्रक्रिया प्राणी के आभ्यन्तर की सचेतन तलाश, ऐसे रूपाकारों की तलाश पर निर्भर है जिनके विन्यास का अनुभव तो किया जाता है किन्तु फिर भी वास्तव में वह हमारी पकड़ के बाहर ही रहता है। यहाँ कलारूप में अभिनेता की प्रस्तुति चित्र की अपेक्षा शिल्प के अधिक करीब है। चित्रकला रंगों को जोड़ने की कला है जबकि शिल्पी रूपाकार को ढँके रहने वाले आवरण को हटाता है। रूपाकार जो उस प्रस्तरखंड में पहले से ही अंतर्निहित है जिसमें से हम खोद कर निकालना चाहते हैं।

किसी निर्मिति-संघटना और रूपाकार के विन्यास के इस सारे काम के लिये फिर से पूरक अभ्यासों का एक सम्पूर्ण क्रम आवश्यक हो उठता है। शरीर के प्रत्येक अंग के लिये छोटे-छोटे प्रकरणों का आविष्कार। फिर भी कुल मिला कर निर्णायक सिद्धांत निम्नलिखित बना रहता है: हमारे भीतर जो कुछ छिपा है उसके भीतर घुसने की हम जितनी अधिक कोशिश करते हैं—दानोत्सर्ग—उतना ही अधिक हमें बाह्य अनुशासन को कसना पड़ता है: यह बाह्यानुशासन रूपाकार है, कृत्रिमता है, विचार-चित्र-लिपि है, चिह्न-संकेत है। इसी रूप में अभिव्यंजनात्मकता का सिद्धान्त निहित है। अभिनेता से संदर्भित प्रमेयों के लिये इतना काफी है।

प्रश्न—प्रेक्षक के संदर्भ में आपकी अवधारणा क्या है ?

उत्तर—इस सन्दर्भ में हमारे प्रमेयों में कुछ नया नहीं होगा। वे बिल्कुल वैसे होंगे जैसी अपेक्षाएँ किसी भी सच्ची कलाकृति—चित्र, संगीत, शिल्प, साहित्य आदि के प्रेक्षकों से की जाती हैं। हमलोग ऐसे प्रेक्षकों को लेकर परेशान नहीं होते जो रंगशाला इसलिए जाते हैं कि संस्कृति के साथ सम्पर्क की अपनी सामाजिक आव-

श्यता की पूर्ति कर सकें, अर्थात् उन्हें अपने मित्रों-सम्बन्धियों से बातें करने का मसाला मिल सके, कि वे अमुक-अमुक नाट्याभिनयों में गये थे, कि प्रस्तुति बड़ी रोचक थी आदि। दूसरे शब्दों में हम उसकी 'सांस्कृतिक आवश्यकता' की सन्तुष्टि का साधन बनें। यह सब झूठापन है। हम ऐसे प्रेक्षक लेकर भी परेशान नहीं होते जो दिन-भर के कठिन परिश्रम के बाद रंगशाला में आराम (Relax) करने आता है। परिश्रम के बाद आराम का अधिकार दर्शक को निश्चय ही है। लेकिन तब उसके लिये मनोरंजन के ढेर सारे दूसरे साधन हैं—कुछ खास तरह की फिल्मों से लेकर कैबरे और संगीत-सम्मेलन तक। हमारा सम्बन्ध ऐसे प्रेक्षकों से है जो सच्ची आत्मिक आवश्यता का अनुभव करते हैं, जो वस्तुतः प्रस्तुति के संपर्क में आकर आत्मविश्लेषण करना चाहते हैं। हम ऐसे प्रेक्षकों की परवाह करते हैं जो आत्मिक समन्वय-एकीकरण के प्रारम्भिक सोपान पर ही नहीं बने रहते, जो ऐसी आध्यात्मिक स्थिरता की स्थिति में नहीं रहते जहाँ वे क्या भला है क्या बुरा है बिल्कुल ठीक-ठीक जानने का दावा करते हैं। क्योंकि एलग्रीको, टामसमान, दोस्तोएव्स्की ने इन लोगों के लिये अपने आप को नहीं खोला था, बल्कि उन लोगों के लिये जो अपने आप को खोलने की असीम प्रक्रिया से गुजरते रहते हैं, जिनकी चिन्ता-जिज्ञासा सामान्य में नहीं होती बल्कि आत्म-सत्य और जीवन के अभिप्रायों के अनुसंधान में होती है।

शव की भयावह जड़ता

प्रश्न—क्या यह अतिविशिष्ट जनों का नाट्य नहीं है ?

उत्तर—हां, किंतु ऐसे विशिष्टजनों का जिनका सम्बंध सामाजिकता या सम्पत्ति के स्तर से नहीं है। शिक्षा से भी नहीं। श्रमिक, जिसने कभी विद्यालय का मुँह भी नहीं देखा, वह भी आत्मान्वेषण की सर्जनात्मक प्रक्रिया से गुजर सकता है जब कि विश्वविद्यालय का प्रोफेसर पहले से ही मृत, एक खास ढाँचे में ढल चुका, शव की भयावह जड़ता में रूपांतरित हो चुका रह सकता है। और यह मैं शुरू में ही कह दूँ कि हम ऐरे गैरे दर्शकों की परवाह नहीं करते बल्कि खास तरह के प्रेक्षकों को चाहते हैं। वर्तमान में अब भी नाट्य हमारे लिये आवश्यक बना हुआ है या नहीं इसे जानना बहुत मुश्किल हो गया है क्योंकि सामाजिक आकर्षण, मनोरंजन, रंगों और रूपों के प्रभाव, वे सब चीजें जिनके द्वारा उच्चतर क्षेत्र के जीवन का निरीक्षण किया जा सकता है आज टेलीविजन द्वारा अधिग्रहण कर ली गई हैं। हम लोग सब तोते की तरह ही सबाल दुहराते रहते हैं—क्या नाट्य की कोई आवश्यकता है भी ? लेकिन इसे हम बंधेबंधाए निश्चित उत्तर पाने के लिये पूछते हैं, कि हाँ यह आवश्यक है क्योंकि यह एक ऐसी कला है जो सदा आवश्यक है, जो सदा नवयुक्ती है। इसका प्रेक्षकसमुदाय एक बड़े पैमाने पर सुगठित है। लेकिन सिनेमा और टेलीविजन के

पर्दे के लिये तो दर्शक सुसंगठित नहीं है। यदि किसी दिन संयोगवश किसी करामात से सारी नाट्यशालाएँ बन्द हो जाएँ तो नागरिकों के एक बहुत बड़े समुदाय को इसकी खबर हफ्तों बाद लगेगी जबकि अगर सिनेमा और टेलीविजन बन्द हो जाएँ तो जनता दूसरे ही दिन चीखने चिल्लाने लगेगी।

संत अभिनेता और अंकिचनता का नाट्य

बहुत सारे रंगकर्मी इस समस्या से अवगत हैं किंतु वे इसके लिये गलत समाधान प्रस्तुत करते हैं : चूँकि सिनेमा अपनी तकनीकों के कारण नाट्य पर आधिपत्य करता जा रहा है इसलिये हमें नाट्य को और भी तकनीकों से युक्त बना देना चाहिए। नाट्यशालाओं की तरह तरह की योजनाएँ प्रस्तुत की जाने लगीं, ऐसी नाट्यप्रस्तुतियों की तैयारियाँ की जाने लगीं जिनमें अतिशीघ्रता से दृश्यों, प्रकाश, प्रकाश के स्रोतों, अभिनयशैली आदि में परिवर्तन किया जा सके। लेकिन इन सबके बावजूद भी सिनेमा और टेलीविजन की तकनीकों को नाट्य कभी नहीं पा सकेगा। नाट्य को अपनी सीमाएँ समझना ही है। यदि यह सिनेमा से अधिक समृद्ध नहीं हो सकता तो अकिंचन हो जाने दीजिए, यदि यह टेलीविजन की तरह अतिव्ययी नहीं हो सकता तो इसे संन्यासी हो जाने दीजिए, यदि इसमें तकनीकी आकर्षण नहीं आ सकता तो इसे सामान्यता तकनीक से परहेज करने देना चाहिए। इस प्रकार हमारे पास बच जाते हैं संतअभिनेता और अकिंचन नाट्य। एक ही ऐसा तत्व है जिसे न तो सिनेमा नहीं टेलीविजन नाट्य से छीन सकता है। यह तत्व है सजीवप्राणी का सामीप्य। अभिनेता की प्रत्येक अनुप्रेरणा, उसकी प्रत्येक जादुई क्रिया (जिसकी पुनर्रचना करने में प्रेक्षक असमर्थ होगा) महान हो उठेगी, सामान्यता से परे, तन्यमता के समीप। इसलिये यह आवश्यक है कि अभिनेता और प्रेक्षक के बीच की सारी दूरियाँ खत्म कर दी जाएँ, मंच हटा दिया जाए, सारे घेरेबंदियाँ तोड़ दी जाएँ। जो कुछ उग्र हिंस्र है वह प्रेक्षक के बिल्कुल करीब अभिनीत हो, प्रेक्षक अभिनेता के दिल की धड़कनें सुन सके, वह अभिनेता के प्रश्वास और पसीने का अनुभव कर सके। यहाँ हमें प्रकोष्ठ नाट्य की आवश्यकता का अनुभव होता है। आखिर भीड़ के लिये रंगशालाएँ हो ही क्यों? आज यह बात नहीं रह गई है कि बड़ी नाट्यशालाएँ आवश्यक हो ही। और यदि उनकी कुछ आवश्यकता है तो महज उन दर्शकों के लिये जिनकी कुछ खास किस्म की जरूरते हैं। प्रकोष्ठ नाट्यशालाएँ अकिंचन और कम हों। ये उन लोगों के लिये हो जो बेचैनियों के बीच अपने को बना रहे हैं। त्वरा और भग्नाशाओं से बनी हमारी सभ्यता के बीच वे एक प्रकार की भूमिस्थ आध्यात्मिक गुफाएँ हों।

प्रश्न—बेचैनी की स्थिति में पड़े व्यक्ति के मनोरंजन के अधिकार की समस्या का निराकरण आप कैसे करते हैं?

उत्तर--अभिनेता से साक्षात्कार के समय प्रेक्षक आत्मान्वेषण के लिये प्रेरणा-उत्तेजना पा सके इसके लिये किसी उभयसामान्य क्षेत्र का अस्तित्व आवश्यक है, किसी ऐसी चीज का दोनों में विद्यमान होना आवश्यक है, जिसे एक सी मुद्राभंगिमा द्वारा वे कोस सकें या जिसके सामने वे एक होकर नतजानु हो सकें। इसलिए नाट्य को बिना अधिक तनाव के उस पर आक्रमण करना चाहिए जिसे सामूहिक ग्रंथियाँ कहा जा सकता है जो सामूहिक अचेतन (अथवा अतिआत्म) के चिह्न हैं, वे मिथक हैं जो मन की रचनाएँ नहीं बल्कि खून की विरासत हैं, स्वाभाविक जलवायु हैं, धर्म हैं।

आद्यरूप (आर्केटाइप्स)

जब मैं आर्केटाइप्स की बात करता हूँ तो मेरा मतलब वैज्ञानिकों द्वारा निरूपित किन्हीं भीतरी परतों से नहीं है। मैं उन तात्विक चीजों के बारे में सोचता हूँ जो इतने घनिष्ठ रूप से मिश्रित हैं कि सम्भवत: उन्हें तार्किक विश्लेषण का विषय बनाना भी मुश्किल होगा : उदाहरण के लिए धार्मिक मिथक–ईसा का या मेरी का, वे जैव मिथक जो सामान्यतया सभी समुदायों में किसी न किसी रूप में जन्म लेते हैं, जन्म, मृत्यु और प्रेम के प्रतीक या अधिक व्यापक रूप में काम और निर्वाण के प्रतीक, राष्ट्रीय प्रतीक जिन्हें सूत्रों के रूप में घटाना मुश्किल होगा : किन्तु जिनका अस्तित्व तब हम अपने खून में महसूस करते हैं, जब हम 'एन्सेस्टर्स' का तीसरा भाग, 'कोर्डियन' या 'एवमारिया' पढ़ते हैं। फिर किसी नाट्यप्रस्तुति के लिये आवश्यक तत्वों की काल्पनिक खोज का भी प्रश्न नहीं है। मुझे विश्वास है कि यदि हम किसी प्रस्तुति या चरित्र पर काम करते हुए अपना सर्वाधिक ध्यान इस खोज पर केन्द्रित करें कि क्याकुछ हमें सबसे अधिक आघात पहुँचाता है, हमारे सर्वाधिक अंतरंग आत्म का अपमान करता है और साथ ही साथ हमें पावनकारी सत्य की सम्पूर्ण अनुभूति भी कराता है जो आगे चलकर हमें शान्ति प्रदान करेगा, यदि हम इसी मार्ग पर चलने की कोशिश करें तो हम अनिवार्यत: सामूहिक प्रस्तुतियों तक पहुँच जायेंगे। हालाँकि शुरू में इस अवधारणा को लादा नहीं जाना चाहिए, फिर भी इससे परिचित रहना इसलिये आवश्यक है कि इस यात्रा में हम सही रास्ते से भटक न जायें। प्रस्तुति के समय यह कौन-सा रूप ग्रहण करेगा ? यहाँ मैं उदाहरण देना नहीं चाहता। मैं इस क्रिया के विशेष गुण-चरित्र की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जिसमें संमोहन और निषेध का अतिरेक, स्वीकृति और अस्वीकृति, पवित्रता (सामूहिक प्रस्तुतियाँ, आद्यरूप) पर आक्रमण, अपवित्रीकरण और पूजा एकीकृत हैं। उत्तेजन-प्रेरणा की इस विचित्र प्रक्रिया को गतिशील करने के लिए, जहाँ तक प्रेक्षक का प्रश्न है, यह आवश्यक है कि वह अपने को उस लिखित साहित्य के उछालतख्त से मुक्त करे जो पहले से ही सामान्य साहचर्यों से समृद्ध है। इस प्रकार हमें या तो क्लासिकी

साहित्य की आवश्यकता है जिसका स्वयंअनुभव के साक्षात्कार में हम एक प्रकार से अपवित्रीकरण करते हैं लेकिन साथ ही साथ जिसे इसका सत्य भी प्रदान करते हैं; या फिर हमें ऐसा समकालीन पाठ्य चाहिये जिसमें ऐसे सस्ते लोकप्रिय साहित्य के भी तत्व समाहित हों जो बँधे-बँधाये रूढ़ भले हों किन्तु जिनकी जड़ें समाज के मनोविज्ञान में हों।

प्रश्न—सन्तअभिनेता का आदर्श! क्या यह स्वप्न नहीं है? सन्तभाव तक सबकी पहुँच तो नहीं हो सकती। कुछ चुने हुए लोग ही इस दिशा में चल सकते हैं। फिर इसका साधारणीकरण कैसे किया जा सकता है?

उत्तर—'संतअभिनेता' पद को धार्मिक संतभाव के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिये। यहाँ संत का प्रयोग रूपक के रूप में एक ऐसे व्यक्ति को परिभाषित करने के लिए किया जा रहा है जो कला के माध्यम से चिता पर चढ़ता है और आत्माहुति की क्रिया संपादित करता है। आपकी बात ठीक है, बहुत सारे संत-अभिनेताओं को इकट्ठा करना असीम दुष्कर कार्य है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, संत-प्रेक्षक पाना कहीं ज्यादा आसान है, क्योंकि प्रेक्षक रंगशाला में कुछ ही देर के लिये तल्लीन होने आता है और इसके लिए दैनिक कष्टदायक साधना आवश्यक नहीं है। इतने पर भी क्या यह अयथार्थ अवधारणा है? मैं इसे उतना ही सही मानता हूँ जितना प्रकाश-वेग से गतिशील होना: यह आवश्यक नहीं कि हम प्रकाश-वेग उपलब्ध कर ही लें, लेकिन उस लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए हम सचेतन और व्यवस्थित ढंग से प्रयास तो कर ही सकते हैं और इस प्रकार हम कई व्यावहारिक परिणामों तक पहुँच सकते हैं।

व्यापारियों के नाट्यउपकरण

अभिनेता का सर्जन खासतौर से प्रतिदानरहित कार्य है। यह उसके साथ ही खत्म हो जाता है; कुछ थोड़ी सी आलोचनात्मक समीक्षाओं के सिवा उसके कृतित्व का कुछ भी शेष नहीं रह जाता। और ये समीक्षाएँ भी उसके साथ न्याय नहीं करतीं—न तो उसके अभिनय के अच्छे पहलू के साथ नहीं खराब पहलू के साथ। इस प्रकार उसके संतोष का एकमात्र आधार प्रेक्षकों की प्रतिक्रिया ही रह जाती है। 'अकिंचन नाट्य' में न तो तालियों की गड़गड़ाहट का सिलसिला रहता है, नहीं गुलदस्तों की भेंट का, वहां तो एक खास किस्म के मौन का साम्राज्य रहता है जिसकी एक अलग ही मोहकता होती है। लेकिन जिसमें काफी गुस्सा भी रहता है—तिरस्कार तक; और यह गुस्सा-तिरस्कार दर्शक अपने प्रति नहीं करता बल्कि नाट्य के ऊपर ही डालता है। ऐसी स्थिति में भी प्रसन्न रहने की मानसिक ऊँचाई प्राप्त करना आसान नहीं। मुझे लगा है कि अकिंचननाट्य में अभिनय करते हुए भी कई-कई बार अभिनेता अपने अभिनंदन समारोह के सपने देखा करता है, जिसमें

उसके नाम का उद्घोष होता है, उसे फूलों से लाद दिया जाता है आदि आदि। ये सारे अभिनंदन-उपकरण सौदागरों के नाट्य की अनिवार्य विशेषताएँ हैं।

एक और दृष्टिकोण से अभिनेता का कार्य निष्फल सा हो जाता है : उसे निरंतर नियंत्रण के बीच से गुजरना पड़ता है। उसे अपने कार्यालय की मेज पर एकांत में नहीं सिरजना है बल्कि किसी अन्य की—निर्देशक की आँखों के सामने सिरजना है। दृश्यरचनाकला की बजाय अभिनेता की कला पर आधारित नाट्य का निर्देशक भी सामान्य नाट्य की तुलना में अभिनेता से कड़ी और कठिनतर माँगें करता है; वह कहीं अधिक पीड़ित कर देने वाले अभ्यासों-प्रयासों के लिए उसे विवश करता है। ऐसी स्थिति में यदि ऐसे निर्देशक में नैतिक शक्ति न हो, यदि उसकी धारणाएँ किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष परीक्ष्य न हों, यदि पारस्परिक आस्था की किरणें चेतना की सीमाओं के परे न पहुँचती हों, तो वह असहनीय हो उठेगा। किंतु ऐसी परिस्थितियों में भी वह निरंकुश शासक ही बना रहता है और अभिनेता उसके प्रति कुछ ऐसी यांत्रिक अचेतन प्रतिक्रिया देता है जैसी उदाहरणार्थ, विद्यार्थी अपने प्रोफेसर के प्रति, रोगी अपने चिकित्सक के प्रति, और सैनिक अपने अधिकारी के प्रति देता है।

अकिंचननाट्य चकाचौंध कर देने वाले व्यावसायिक भविष्य की ओर नहीं ले जाता, यह जीवनस्तर की बुर्जुआ अवधारणा को चुनौती देने में निहित है, इसके अस्तित्व का उद्देश्य है कि यह भौतिक समृद्धि के स्थान पर नैतिक समृद्धि को प्रतिष्ठित करे। लेकिन किसके मन में यह इच्छा छिपी नहीं रहती कि वह अकस्मात् सामाजिक सुख-समृद्धि प्राप्त कर ले। इस दृष्टिकोण से भी नकारात्मक अवरोध और प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं जो कमोवेश अस्पष्ट किस्म की होती हैं। अभिनेता ऐसी स्थिति को स्वीकार कर लेता है जिसमें अचेतन रूप से अपने चारों ओर वह ऐसा असंभव आश्रयस्थल खोजने लगता है जिसमें वह आग और पानी—संतभाव और दरबारी जीवन की ऐयाशी के साथ समझौता कर सके। इतने पर भी ऐसी परस्पर विरोधी स्थिति का आकर्षण इतना प्रबल है कि मैं जिस प्रकार के नाट्य की बात कर रहा हूँ उसमें यदि षड़यंत्र, एक दूसरे की जड़ खोदना, भूमिका के लिये कलह आदि जैसी आम चीजें दिखाई भी पड़ती हैं तो वह उन्हें नगण्य कर देता है। आदमी तो आदमी ही होते हैं और वे संकट, संघर्ष, विद्वेष, तिरस्कार आदि के वशीभूत होने से बच नहीं पाते, तब भी कहना ही पड़ता है कि इन सबके बावजूद इस प्रकार के कार्य से जो संतुष्टि मिलती है वह महत्वपूर्ण है। सबके ऊपर बात यह कि जो व्यक्ति अनुशासन, आत्मत्याग, आत्मनिग्रह व्यवस्थिकरण की इस विशिष्ट प्रक्रिया से गुजरते हुए अंत तक, सामान्य रूप से स्वीकृत सभी सीमाओं के परे जाता है वह एक प्रकार का आंतरिक-समन्वय सामंजस्य और शांति प्राप्त करता है और समृद्धनाट्य के

अभिनेता की तुलना में वह अधिक स्वस्थ होता है और उसकी जीवनशैली अधिक सामान्य होती है। मेरी यह बात सच्चाई है, कोई शब्दों का खिलवाड़ नहीं।

प्रश्न—विश्लेषण की यह प्रक्रिया निसंदेह समन्वय है, मेरा मतलब अभिनेता और समाज के समन्वय से है। क्या इसमें इस बात का खतरा नहीं है कि अभिनेता इस दशा में बहुत लंबे समय तक कार्य करेगा? मेरा तात्पर्य उसके मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि को लेकर है?

उत्तर—यदि इसे अंत तक पहुँचाया जा सके तो इसमें खतरा नहीं है। मानसिक रूप से पीड़ाजनक, संतुलन को तोड़ देनेवाली चीज अधूरे में छोड़ा हुआ कार्य है। यदि हम विश्लेषण और अपने को नंगा करने की इस प्रक्रिया (जो सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से समृद्ध परिणाम दे सकती है) को आधे मन से ही लें, यानी अगर हम अपने रोजमर्रा जिंदगी के नकली मुखौटे को लगाए ही रहें तो हमें ऐसे दर्द का एहसास होगा मानों कोई जबरदस्ती उसे उखाड़ने की कोशिश कर रहा है। किंतु यदि यह क्रिया आखीर तक चलाई जाती है तो फिर इस आधे गूँगेपन से हम और बँधे नहीं रह पायेगें। और तब हम अपने पूरे विवेक के साथ अपने रोजमर्रा के मुखौटे को पहन सकेंगे, पूरी तरह से यह जानते हुए कि इसका उद्देश्य क्या है और किस चीज को छिपाने के लिए इसका इस्तेमाल किया जा रहा है। यह हमारे अंतस में जो कुछ है उन सबका पुष्टिकरण है, और अब हमारा यह अंतस इस प्रक्रिया में अकिंचन न रहकर समृद्ध बन चुका होता है, इस प्रकार यह पुष्टिकरण पीछे ले जाने वाला नहीं, आगे बढ़ाने वाला बन जाता है और इसका असर मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा जैसा होता है—हमारी मनोग्रंथियाँ झड़कर गिरने लगती हैं।

दर्शक के साथ आत्मिक संघर्ष

इस पहलू के संदर्भ में अब दर्शक की स्थिति पर विचार करें। वह दर्शक जो अभिनेता द्वारा दिए गए आमंत्रण से लाभान्वित होता है, जिसमें गतिशीलता और इस प्रकार का झुकाव होता है, वह अपने को इस प्रक्रिया के प्रति समर्पित कर देता है और फिर जब वह ऐसे अभिनय-अनुभव से गुजर कर निकलता है तब वह अधिक संतुलित-समन्वित स्थिति में होता है। लेकिन ऐसा दर्शक जो किसी भी कीमत पर अपने झूठेपन और दिखावा को कायम रखने की हरचंद कोशिश में लगा रहता है वह ऐसी प्रस्तुति देखने के बाद और भी असंतुलित हो जाता है। मुझे पक्का विश्वास है कि कुल मिलाकर दूसरी तरह के दर्शकों के लिए भी, इस प्रकार की अभिनय-प्रस्तुति एक तरह की सामाजिक मनोचिकित्सा है। लेकिन अभिनेता के लिए यह केवल चिकित्सा है और वह भी इस शर्त पर कि अभिनेता आधे मन से इस काम को नहीं करता। यहाँ कुछ खास किस्म के खतरे भी हैं। रोज ब रोज 'वान गाग' बनने

के बजाय मि० जुरादें बनना कहीं कम नुकसानदेह है। लेकिन अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की पूरी चेतना के कारण हम कामना करते हैं कि जुरादें जैसे लोगों की अपेक्षा वानगाग जैसे लोगों की संख्या अधिक हो; हालांकि जुरादें का अस्तित्व बेशक सभी लोगों के लिये ज्यादा आसान होता। वानगाग इस एकीकरण-समन्वय की अधूरी प्रक्रिया का उदाहरण है। उसकी टूटनें एक ऐसे विकास की अभिव्यक्ति हैं जो यथार्थ जगत में अपनी पूर्णता नहीं पा सका। यदि हम टामस मान जैसे महान व्यक्तित्वों के संदर्भ में सोचें तो पता लगता है कि एक लंबे समय के दौरान एक तरह का समन्वय संतुलन उपलब्ध भी किया जा सकता है।

प्रश्न—मैं सोचता हूँ कि अभिनेता के आत्मविश्लेषण की इस प्रक्रिया में निर्देशक का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। निर्भरता का यह संबंध, अभिनेता और निर्देशक का यह अस्वास्थ्यकर घनिष्ट सहजीवन, अपने को किस प्रकार प्रस्तुत करता है? इस प्रकार की असामान्य क्रिया का नतीजा क्या हो सकता है?

उत्तर—यहाँ हम एक निर्णायक बिंदु पर पहुँच गए। अभी-अभी मैंने जो कुछ कहा है उसकी रोशनी में मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरे शब्द एक अजीब किस्म की झंकार पैदा करेंगे।

ऐसी अभिनय-प्रस्तुति दर्शकों के साथ एक तरह के आत्मिक संघर्ष की शुरुआत करती है, यह उत्तेजन और अतिरेक है, लेकिन इसका अनुसरण करके तभी नतीजा हासिल किया जा सकता है जब मूलत: दूसरों के प्रति लगाव हो, बल्कि अनुकूल भावना हो एक तरह की स्वीकृति हो। इसी तरह निर्देशक इतने जटिल और पीड़ाजनक इस कार्य की प्रक्रिया में अभिनेता की तब तक कोई सहायता नहीं कर सकता जबतक वह उतनी ही गर्मजोशी और जजबाती रूप में अभिनेता के प्रति खुला हुआ न हो जितना अभिनेता को इसके बदले में निर्देशक के प्रति होना चाहिए। भावनाहीन होकर नतीजे पाने की संभावना में मेरा विश्वास नहीं है। यहाँ बहुत जरूरी है कि मनुष्यों के प्रति गर्मजोशी से युक्त भावनाओं का अस्तित्व हो। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो कष्ट तो भोगता है लेकिन वह ऐसा नहीं है कि उससे घृणा की जाए।

निर्देशक की माँगें

गर्मजोशी के साथ यह खुलापन पकड़ में आनेवाली चीज है। अकेली यही चीज (यदि इसका पारस्परिक आदान-प्रदान हो) अभिनेता को, समझौता या अपमान के किसी भय के बिना ही, आत्यांतिक प्रयत्नों की अनुमति देती है। इस तरह का विश्वास पैदा करने वाले क्रियाकलापों द्वारा यह संभव हो सकता है कि अभ्यास (रिहर्सल) के दौरान शब्दों के प्रयोग से मुक्ति पाई जा सके। काम के दौरान किसी ध्वनि की शुरुआत या मौन के जरिये भी आपसी समझ तक पहुँचा जा सकता है। अभिनेता में जो चीज जन्म लेती है वह सामान्य रूप से पैदा होती है लेकिन आम

रिहर्सलों से मिलने वाली उपलब्धियों की तुलना में अभिनेता के लिए यह चीज कई गुना ज्यादा सही साबित होती है।

मैं यकीन करता हूँ कि यह प्रश्न एक ऐसे किस्म के काम का है जिसे किसी फार्मूला में परिभाषित कर सकना संभव नहीं। इसे समझना भी आसान नहीं। जैसे सभी चिकित्सक अच्छे मनो-चिकित्सक नहीं हो सकते उसी प्रकार सभी निर्देशक इस किस्म के नाट्य में सफल नहीं हो सकते। तकनीकी भाषा में कहें तो ऐसे निर्देशक को अभिनेता के सामने अभिनय करने के बजाय भावभंगिमा और ध्वनि द्वारा इशारा अधिक करना होगा, उपदेश-शिक्षा के बजाय उसे मौन द्वारा या जरा सा आँख झपका कर अभिनय का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत करना होगा कि वह उसे अच्छी तरह आत्मसात कर सके। उसे अभिनेता की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया में आनेवाले दरारों और मनोवैज्ञानिक टूटनों पर अपनी निगाह रखनी होगी कि वह ऐसे मौकों पर उसकी सहायता कर सके। उसे कठोर होना पड़ेगा लेकिन पिता या बड़े भाई की तरह, गुलाम से काम लेनेवाले मालिक की तरह नहीं। निर्देशन का दूसरा सिद्धान्त जो सभी व्यवसायों पर लागू होता है यह है कि यदि कोई अपने सहयोगियों से ऐसी माँगे करता है जिसका मूल्य x है तो उसे स्वयं अपने में उन्हीं मूल्यों की x_2 मात्रा पैदा करनी होगी।

प्रश्नकर्ता—इसका नतीजा यह होगा कि यदि कोई संतअभिनेता को लेकर काम करता है तो उसे अभिनेता का दूना संत होना पड़ेगा। इसका मतलब तो यह हुआ कि वह ऐसा महासंत होगा जिसका ज्ञान-विज्ञान नाट्य की तकनीकों और इतिहास की सीमाओं का अतिक्रमण करनेवाला होगा, जो मनोविज्ञान और नृतत्व विज्ञान का गहरा जानकार होगा, वह धर्म-विज्ञान का विश्लेषक होगा, आदि आदि। क्या ऐसा संभव हो सकता है ?

वेश्या अभिनेता : भँडुआ निर्देशक

उत्तर—मैंने जो कुछ अभिनेता की अकिंचनता के विषय में कहा है वह सब निर्देशक पर भी लागू होता है। वेश्याअभिनेता के रूपक को और आगे खींचा जाय तो इसकी समानता भँडुआनिर्देशक में मिलेगी और जैसे संतअभिनेता में से वेश्या अभिनेता के चिह्नों को पूरी तरह नहीं मिटाया जा सकता वैसे ही संतनिर्देशक में से भी भँडुयेपन को पूरी तरह नहीं हटाया जा सकता। निर्देशक की स्थिति ऐसी होती है कि उसे अपने में शासन करने की तिकड़म पैदा करनी ही पड़ती है। सामान्यतः ऐसी शक्ति नैतिक-हीनता को जन्म देती है। इसमें आदमियों से काम लेना सीखना पड़ता है, चालबाजी वाली चतुराई जरूरी हो जाती है और ठंडी अमानवीय चालें चलने की योग्यता अर्जित करनी पड़ती है। यह सब अनिवार्य रूप से निर्देशक की

परछाँई बनकर अकिंचनता के नाट्य में उसका पीछा करती रहती हैं। अभिनेता में जो आत्मपीड़न-रति का तत्व दिखाई पड़ता है वह वास्तव मे निर्देशक की सर्जनात्मकता के रूप मे जो पर-पीड़न-रति का तत्व रहता है उसी का निषेधात्मक प्रतिरूप है। यह अपने से ही संघर्ष की सार्वभौमिक प्रक्रिया का निषेधात्मक प्रतिरूप है। यहाँ भी स्पष्ट चीजों के साथ अस्पष्ट चीजें अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई हैं। अब अगरचे मैं हल्की गरमाहट, मामूलीपन, आसानी और आजकल चल रही ऐसी सारी चीजों के खिलाफ, सभी तरह के दुहरावों के खिलाफ, पक्ष ले रहा हूँ तो महज इसी लिये कि हम ऐसी चीजों की सर्जना करें जो निश्चित रूप से या तो रोशनी की ओर उन्मुख हों या अंधेरे की ओर। लेकिन इस सच्चाई को हमेशा ख्याल में रखें कि हमारी 'प्रकाशवृत्ति' के चारों ओर अंधेरे का एक ऐसा घेरा भी बना रहता है जिसे भेदते हुए तो हम निकल सकते हैं लेकिन जिसे नष्ट नही कर सकते।

प्रश्न—आपने जो कुछ कहा है उससे लगता है कि नाट्य में संतभाव की सृष्टि करने के लिये शारीरिक अभ्यास-व्यायाम और मनोतकनीक आवश्यक है। नाट्य की मौजूदा हालात में हम नाट्यकला के विद्यालयों या पारंपरिक अथवा प्रायोगिक संस्थाओं में इस दिशा की ओर ले जाने वाले किसी तरह के प्रशिक्षण या तैयारी की कोई कोशिश नहीं देखते। अगर कोई अभिनेताओं और निर्देशकों को इस तरह का प्रशिक्षण देकर उन्हें पूर्ण बनाना चाहे तो उसकी शुरूआत कैसे करे और कैसे काम को आगे बढ़ाए? रोजमर्रे की मामूली जिंदगी के घिसेपिटे रास्ते से दूर संत-नाट्य के सर्जन का परिप्रेक्ष्य क्या होगा?

उत्तर—मैं सोचता हूँ नाट्य के संकट को समकालीन संस्कृति के संकट की कुछ खास प्रक्रिया से अलग नहीं किया जा सकता। मसलन नाट्य के एक आधारभूत तत्त्व 'धार्मिक पावनता' और उसके अभिचार-कर्मकांड का लोप धर्म के क्रमिक ह्रास की न उलटी जा सकने वाली प्रक्रिया का ही नतीजा लगता है। यहाँ हम एक ऐसे प्रस्ताव की बात कर रहे हैं जिसका उद्देश्य नाट्य में एक ऐसी पवित्रता का सर्जन करना है जो धर्महीन हो। अब यह सवाल पूछा जा सकता है कि क्या सभ्यता-प्रक्रिया की मौजूदा रफ्तार में पूरे समाज के पैमाने पर ऐसा संभव हो सकता है?

यह पुनर्जीवन कहाँ से आएगा

शायद मैं यह न बता पाऊँ। इस उपलब्धि को पाने के लिए आत्मविस्तार जरूरी है। क्योंकि धार्मिक गहनता की जगह धर्महीन गहनता को स्थानापन्न करना जन-समुदाय की मानसिक स्वस्थता की दृष्टि से मनोसामाजिक आवश्यकता है। यह सब होना जरूर चाहिये, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि होगा ही। मैं सोचता हूँ यह एक तरह की नैतिक अवधारणा है, वैसे ही जैसे यह कहना कि आदमी को आदमी के साथ भेड़िए की तरह सलूक नहीं करना चाहिये। लेकिन जैसा हम जानते हैं,

कोई इन्हें व्यवहार में लागू नहीं करता। जो कुछ हो, मुझे यकीन है, नाट्य के स्वच्छताकरण की यह शुरूआत नाट्य के प्रचलित केंद्रों से नहीं हो सकती। लेकिन साथ ही साथ आमथियेटर में भी ऐसे लोग हुए हैं और अभी भी हैं जिन्हें हम धर्महीन संत मान सकते हैं—उदाहरण के लिये जैसे स्तानिस्लाव्स्की। स्तानिस्लाव्स्की ने इस बात की ताईद की कि नाट्य की जागर्ति और पुनर्नवीकरण की क्रमिक स्थितियाँ शौकिया नाट्य के क्षेत्र में जन्म ले रही हैं न कि जड़ीभूत और पथराये हुए व्यवसायिक नाट्यकर्मियों के बीच। बख्तानगोव के अनुभवों ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया। जापानी नोह नाट्य भी इसी बात को दुहरा रहा है क्योंकि यह जितनी अधिक जानकारी और प्रशिक्षण की माँग करता है उससे इसे अति व्यावसायिकता का दर्जा तो मिलता है लेकिन अपनी बनावट में यह अर्धशौकिया नाट्य बना रहता है।

पुनर्नवीकरण कहाँ से आयेगा? उन लोगों के जरिये जो प्रचलित नाट्य में अपनी स्थिति से असंतुष्ट हैं और स्वयं नाट्यप्रयोगशालाएँ बनाने की पहल करेंगे, जो अपने आप को अभिनेताओं के प्रशिक्षण की संस्था में रूपांतरित करेगें। या फिर ऐसे शौकिया लोगों के जरिये जो व्यावसायिक नाट्यकर्मियों के समानांतर काम करते हुए आत्मप्रशिक्षण द्वारा सामान्य अभिनेता के लिए आवश्यक प्रशिक्षण के दर्जे को पार कर जायेंगे और ऐसी अतिविशिष्ट योग्यताएँ हासिल करेंगे जो प्रचलित नाट्य-जरूरतों से बहुत ऊँचे स्तर की होंगी। संक्षेप में कहें तो ऐसे सनकी लोगों के जरिये जो कुछ भी खोने से नहीं डरते और जो कठोर परिश्रम करने वाले हैं।

मैं सोचता हूँ कि नाट्य के लिए माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की कोशिश शायद जरूरी है। अभिनेता अपना व्यवसाय सीखना बहुत देर में शुरू करते हैं, तब जब उनका मानसिक गठन पहले ही पूरा हो चुका होता है, और ज्यादा खराब बात तो यह कि वे नैतिक रूप से भी ढल चुके होते हैं। एक अनुभवी शिक्षाशास्त्री के मतानुसार नाट्यविद्यालयों के छात्रों का अधिकांश नवधनाढ्यों से बनता है जो सस्ती लोकप्रियता के भूखे होते हैं।

संगीतज्ञ और नर्तक की भाँति ही अभिनेता की शिक्षा के लिये भी उम्र का बहुत महत्व है। शुरू करते समय उसकी उम्र चौदह साल से अधिक नहीं होनी चाहिए। अगर संभव हो तो मैं इससे भी कम उम्र में शुरू करने की सलाह देता हूँ। शुरू के चार सालों में तकनीकी शिक्षा दी जाएगी जिसमें ज्यादा जोर व्यावहारिक अभ्यास-व्यायाम पर दिया जाएगा। इसके साथ ही मानविकी विषयों में भी पर्याप्त शिक्षा दी जानी चाहिए जिसका उद्देश्य किसी विषय के ज्ञान की कुछ मात्रा अर्जित करना न होकर विश्वसंस्कृति के सर्वाधिक फलप्रद तथ्यों से संपर्क और उनके प्रति संवेदनशीलता विकसित करना हो। चार वर्षों के इस प्रारंभिक प्रशिक्षण के बाद अभिनेता उच्चअध्ययन के दौर से गुजरेगा। इस क्रम में वह 'प्रयोगशाला समूह'

[लेबोरेटरी ग्रुप] में काम करेगा और व्यक्तिगत रूप से अभिनय के अनुभव संकलित करेगा। लेकिन इसके साथ ही कला, साहित्य आदि उन विषयों के क्षेत्रों में भी उसकी शिक्षा जारी रहेगी जो अभिनय के पूर्ण विकास के लिये आवश्यक हैं। नाट्य-प्रयोगशाला में चार वर्षों के इस अभ्यास के बाद उसे उच्च डिप्लोमा दिया जा सकता है। तो आठ वर्षों की ऐसी साधना के बाद ही अभिनेता अपने भावी कार्यों के लिये आंशिक रूप से तैयार होगा। उसे किसी अभिनेता के मार्ग में आने वाले खतरों से बचा कर परे नहीं रखना चाहिए बल्कि उनसे निपटने के लिये उसमें अधिक बड़ी क्षमताएँ सर्जित करनी चाहिए और उसके चरित्र को स्पष्टता से आकार देना चाहिए।

प्रयोगशाला समूहों द्वारा ठोस उपलब्धियाँ अर्जित कर लेने के बाद इन समूहों द्वारा अलग-अलग स्टूडियो का संगठन उपयोगी होगा। ऐसे स्टूडियो किसी निश्चित कालसीमा के लिये प्रशिक्षण नहीं देगें बलिक प्रशिक्षार्थियों की वास्तविक ज्ञानसीमा की जरूरतों के अनुसार उनकी कालसीमा का निर्धारण होगा। बाहर से आने वाले व्यावसायिक अभिनेताओं को भी यहाँ कुछ निश्चित शैक्षिकक्रियाओं से गुजरने का प्रावधान रहेगा। इन क्रियाओं का एक हिस्सा नाट्यप्रयोगशालाओं के अभिनेताओं के लिये अनिवार्य होगा।

ये सभी बातें लक्ष्यपूर्ति की दिशा में आधी यात्रा ही हैं। वास्तविक समाधान तो कठोर नियमों से अनुशासित और अकिंचनता के नाट्य के लिए समर्पित अनुसंधान-संस्थानों के निर्माण से ही हो सकता है। ऐसे संस्थानों के रखरखाव का खर्च तो प्रादेशिक नाट्यएकेडेमियों और समारोहों पर व्यय की जाने वाली धनराशि के आधे हिस्से से ही निकल आएगा। ऐसे संस्थानों में नाट्य के छोरों को छूने वाली समस्याओं के विशेषज्ञ-विद्वानों की बहुत छोटी टोली रहेगी। उदाहरण के लिए जिसमें मनोविश्लेषक, सांस्कृतिक नृतत्वशास्त्री, नाट्यप्रयोगशाला के अभिनेताओं की एक टोली और नाट्य के माध्यमिक विद्यालय के प्रशिक्षकों की एक टोली होगी। इसी के साथ जुड़ा हुआ एक छोटा प्रकाशनगृह भी होगा जो इसी प्रकार के दूसरे केंद्रों और संबद्ध क्षेत्रों में काम करने वाले दूसरे लोगों से विचारविनिमय के लिए पद्धति संबंधी ठोस नतीजों को प्रकाशित करे। इस संदर्भ में यह बेहद जरूरी है कि इस तरह के सभी अनुसंधानों में एक या कई नाट्यसमीक्षकों को भी गहरे जोड़ा जाए जो एक बाहरी आदमी की तरह नाट्य की सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से प्रस्तुतियों के कमजोर, भूले हुए या बेचैनी पैदा करने वाले तत्वों का विश्लेषण करें।

प्रश्न—ऐसा नाट्य किस तरह हमारे अपने युग से संदर्भित होगा ? ऐसा मैं विषयवस्तु और समकालीन सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण की दृष्टि से पूछ रहा हूँ। हमारे युग की समस्याओं, पहेलियों और यथार्थ के पहलुओं, जिन्हें हम अब तक

बंधेबँधाये तरीकों से हल करने की कोशिश करते रहे हैं, को देखने की यह क्या हमें नई दृष्टि दे सकेगा ?

हमारे युग का नाट्य

उत्तर—इसका उत्तर मैं अपने नाट्य में किये जाने वाले कार्यों की दृष्टि से दूँगा। यद्यपि हमारा नाट्य अक्सर क्लासिकी पाठ्यसामग्री का इस्तेमाल करता है तब भी यह समकालीन नाट्य है क्योंकि यह हमें अपने वर्तमान साँचों और गहरी जड़ों के साथ मुकाबले में लाता है और इस तरह यह हमें अपने आज को कल के और कल को आज के दृष्टिकोण से देखने का मौका देता है। हालाँकि यह नाट्य जिस भाषा में यह नाटक अभिनीत होता है उसके शब्दों की बुनावट के परे जाकर भावभंगियों और ध्वनियों की ऐसी तात्विक मूल-भूत भाषा का इस्तेमाल करता है जो सार्विक होती है, तब भी ऐसा नाट्य निश्चित रूप से राष्ट्रीय होता है क्योंकि यह अपने अंतर्निरीक्षण पर आधारित होता है और राष्ट्रीय परिवेश में सामाजिक अतिआत्म में पैठता है जो इस समाज से अविभाज्य और बिल्कुल स्पष्ट है। यदि हम बड़ी गहराइयों में, अपने विचारों और व्यवहारों की तर्कसंगतता में भीतर तक घुसना चाहते हैं और उनकी छिपी परतों और गुप्त अभिप्रायों तक पहुँचना चाहते हैं तो हमें नाट्यप्रस्तुति की संपूर्ण चिह्न-प्रतीक-प्रणाली को ऐसा बनाना होगा कि वह हमारे वर्तमान को, हमें अभिभूत कर हमारा निर्माण करने वाले यथार्थ को, भावभंगियों, बड़बड़ाहटों, गली-कूचों और जलपानगृहों में लक्ष्य की जाने वाली स्वरभंगियों की अध्वनी भाषा को अपने में समाहित कर सके। संक्षेप में कहें तो हमारी नाट्यभाषा को अपने निरीक्षण द्वारा प्राप्त मानव-व्यवहार-प्रणालियों से फूट कर निकलना चाहिए। हम अपवित्री-करण की बात करते हैं। लेकिन यह :हमारी घोषणाओं और रोजमर्रा जिंदगी के व्यवहारों की पाशविक टकराहटों, हमारे भीतर बैठे पुरखों के हमारे अनुभवों, आसान जिंदगी बसर करने के रास्तों की हमारी खोजों, जीवनसंघर्ष की हमारी धारणाओं तथा हमारी व्यक्तिगत ग्रंथियों और समाज की समग्रताजन्य ग्रंथियों के सिवा और क्या है? यह सब कहने का मतलब यह निकला कि हमारी क्लासिकी नाट्य की हरेक प्रस्तुति हमारी अपनी कल्पनाओं, हमारी अपनी परंपराओं और दर्पण में दिखाई पड़ने वाले स्वयं अपने बिंब पर गहरी नजर डालना है, न कि उस कथा को दुहराना है जो कभी आदमी की कल्पना थी।

समकालीन वस्तुओं पर रची गयी प्रस्तुतियाँ वर्तमान के ऊपरी वेष्ठन और / अथवा इसकी गहरी जड़ों तथा गुप्त अभिप्रायों की सहप्रस्तुति है।

संक्षेप में यह राष्ट्रीय है क्योंकि यह अपने आत्म की संपूर्ण खोज है, यह यथार्थवादी है क्योंकि यह सच्चाई का अतिरेक है। यह सामाजिक है क्योंकि यह दर्शकों को अभिप्रेरित करता है जो सामाजिक प्राणी हैं।

तीसरा नाट्य

यूजेनियो बार्बा

पिछले कुछ वर्षों से कई देशों में नाट्यक्रियाकलापों का अपना एक अलग तरह का द्वीपमंडल सा बनता जा रहा है। इसे शायद ही कुछ लोग जानते हों; यह कभी नाट्यसमारोहों में प्रस्तुत नहीं किया जाता, इसके बारे में नाट्यसमीक्षक कभी कुछ लिखते नहीं, और इस पर कोई सोचविचार नहीं करता।

संस्कृति की दुनिया द्वारा पहचाने गये नाट्यों से अलग यह बिलकुल दूसरा ही ध्रुव है जिसे कोई नाम देना मुश्किल है। एक ओर तो संस्थागत नाट्य है जिसे सांस्कृतिक मूल्यों का प्रसारण करने के लिए आर्थिक सहायता और संरक्षण मिलता है, यह अतीत और वर्तमान के लिखित नाटकों से सर्जनात्मक मुठभेड़ का सजीव बिंब सा लगता है—बल्कि मनोरंजन-व्यवसाय का श्रेष्ठ अभिजात संस्करण जैसा; दूसरी ओर अवाँगार्द नाट्य है—प्रयोग करने वाला, अनुसंधान करने वाला, श्रमसाध्य या मूर्तिभंजक नई मौलिकता की खोज में लगा हुआ, परंपरा के रूपांतरण के नाम पर संरक्षित, सामाजिक व्यवस्थाओं के ही भीतर कला-क्षेत्र में नवीनताओं के लिये खुला हुआ।

तीसरा नाट्य संस्कृति के केंद्रों या राजधानियों के किनारे उसके बाहरी छोर पर, या फिर उसके बिलकुल ही बाहर अपनी जिंदगी जुड़ाता है। यह नाट्य ऐसे लोगों द्वारा सर्जित होता है जो अपने को अभिनेता, निर्देशक या नाट्यकर्मी कहते तो हैं लेकिन वे पारंपरिक तरीके की नाट्यशिक्षा से शायद ही कभी गुजरे हों; इसलिये वे व्यावसायिक रूप से प्रतिष्ठित नहीं होते।

लेकिन वे शौकिया नाट्यकर्मी नहीं हैं। उनका सारा दिन नाट्यानुभवों से भरा होता है—या तो प्रशिक्षण-प्रक्रिया में या फिर उन प्रस्तुतियों की तैयारी द्वारा जिनके प्रेक्षकों को खोजने के लिये भी उन्हें संघर्ष करना पड़ता है।

नाट्य के पारंपरिक मानदंडों के अनुसार यह घटना-क्रिया महत्वहीन लग सकती है; लेकिन सामाजविज्ञान के दृष्टिकोण से तीसरे नाट्य में सोचने के लिये काफी मसाला है।

अपने बीच संपर्कहीन द्वीपों की तरह योरोप, उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया और जापान के युवालोग, जिंदा बने रहने के संकल्प के साथ अपना नाट्यदल बनाने के लिये इकट्ठा होते हैं।

लेकिन ये दल बस दो ही स्थितियों में जिंदा बचे रह सकते हैं: या तो माँग और पूर्ति के नियमों को स्वीकारते हुए, फैशनपरस्त रुचियों में ढलकर, राजनीतिक और सांस्कृतिक सिद्धांतवादियों के तरजीहों को मानते हुए, और नवीनतम बहु-चर्चित-प्रशंसित नतीजों को लेकर स्थापितनाट्य के घेरे में घुसा जाए; या फिर

अपने चुने हुए क्षेत्र को निजीपन देने के लिए लगातार मेहनत करते हुए वह क्रमशः आगे बढ़ता जाए, अपने दल के लिये जो तात्विक तौर पर आवश्यक हो उसे खोज कर दूसरों को भी इस फर्क और विविधता का सम्मान करने के लिए विवश करे।

शायद सिर्फ यहाँ, इस तीसरेनाट्य में ही, कार्य-कारण संबंधी अभिप्रायों से परे हटकर कोई यह खोज सकता है कि नाट्य का जीवन-क्रियाओं से युक्त मूलभूततत्व क्या है, कि वह दूरवर्ती अर्थ क्या है जो नाट्य में ऐसी नई ऊर्जाएँ संकलित करता है जो तमाम तरह की बाधाओं के बावजूद नाट्य को हमारे समाज में सजीव बनाए रखता है।

दुनियाँ के तमाम हिस्सों के, अलग-अलग तरह के लोग अपनी वैयक्तिक निजी जरूरतों की अभिपुष्टि को अपने चतुर्दिक यथार्थ से जोड़कर विस्तार देने के लिये, नाट्य को एक ऐसा पुल समझते हैं जो लगातार खतरों के बीच किसी तरह खड़ा है।

जब हम इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि जिस यथार्थ में हम जिंदा रहते हैं उसे तय करने वाली चीजें बिलकुल दूसरे ही किस्म की हैं तब फिर बदलाव के लिये हमने खास तौर से नाट्य को ही क्यों चुना ? क्या यह आत्म-प्रवंचना का, अंधेपन का सवाल है ?

उनके लिये शायद नाट्य अपनी उपस्थिति का एहसास कराने का अपना निजी तरीका है, [समीक्षक इसे शायद 'नये अभिव्यंजनात्मक रूप' कहना पसंद करें] कि जिससे वे आदमियों के बीच और ज्यादा मानवीय रिश्ते खोजें जिसका मकसद एक ऐसे सामाजिक जैव-कोश की रचना करना हो जिसके भीतर अभिप्राय, आकांक्षाएँ और निजी जरूरतें क्रियाओं में रूपांतरित होने लगें।

ऊपर से लादे गए मनमाने अमूर्त विभाजन—विभिन्न स्कूल [संप्रदाय, पंथ], शैलियाँ, प्रवृत्तियाँ, और दूसरी तरह के तमाम लेबुल जो स्वीकृत नाट्यों में व्यवस्था बनाते हैं, यहाँ किसी काम के साबित न होंगे। यहाँ न तो शैलियों, नहीं अभिव्यंजनात्मक प्रवृत्तियों का ही कोई महत्व है। तीसरे नाट्य को जो चीज सबसे अलग बनाती हैं, इसके तमाम जगह बिखरे दलों और उनके अनुभवों में जो चीज सर्वसमान रूप से उपस्थित है और उनमें एकसूत्रता लाती है वह तनाव [टेंशन] है जिसकी परिभाषा कर सकना बहुत मुश्किल है। यह कुछ ऐसा है मानों वैयक्तिक निजी जरूरतें—आदर्श, भय, बहुविध संवेग, आवेग, जो अन्यथा छिपे ही रह जाते—कार्य में रूपांतरित होना चाहते हैं—एक ऐसी अभिव्यक्ति, एक ऐसे रुख के तहत जो बाहर से नैतिक अनुशासन के रूप में ठीक-ठाक लगता है। और यह सिर्फ व्यवसाय तक सीमित न रह कर पूरी रोजमर्रा जिंदगी तक फैला होता है। लेकिन आखीर में उसकी कीमत सबसे पहले चुकाने वाले तीसरे नाट्य के ही लोग होते हैं।

संपूर्ण बदलाव के लिये इंतजार करता हुआ कोई आदमी भविष्य के ऐसे सपने में डूबा बैठा नहीं रह सकता जो हमारे उठाए गए हर कदम के साथ और भी दूर खिसकता जाता है तथा समझौतों, अनुपस्थितियों, और इंतजार की नपुंसकता को पनपाता है।

आदमी नये जैव-कोष्ठ का निर्माण तुरत चाहता है लेकिन उसमें अपने को अलग-थलग नहीं रखना चाहता।

एक दल-संगठन के रूप में अपनी सत्ता को कल्पना की दुनिया में डुबो देना, दिखावा-बहाना न कर सकने की हिम्मत पैदा करना, तीसरे नाट्य का यही विरोधाभास है।

प्रशिक्षण का सवाल

प्रश्न—मान लीजिए हमें तीसरे नाट्य से संबंधित एक पारिभाषिक शब्दावली तैयार करनी है। क्या आप उसमें 'प्रशिक्षण' शब्द को स्थान देगें ?

उत्तर—मैं समझता हूँ यह मूलभूत शब्द है। अगर अधिकांश दलों को समान रूप से कोई एक बात विशिष्ट बनाती है तो वह यह कि वे रोज प्रशिक्षण का कार्यक्रम चलाते हैं। पारंपरिक नाट्य में अभिनेता को कुछ समय के लिए प्रशिक्षु [अपरेंटिस] रहना पड़ता है और तब वह व्यवसाय में प्रवेश करता है। अब उसके विकास की संभावनाएँ उन विभिन्न भूमिकाओं तक ही सीमित हो जाती हैं जो उसे प्रस्तुति के लिए मिलती हैं। यहाँ बड़े साफ तौर से यह बात जाहिर होती है कि प्रशिक्षण वह छिपा हुआ बीज है जिससे 'प्रस्तुति' के प्रत्यक्ष फल को लेकर पौधा उगता है।

प्रश्न—प्रशिक्षण, अभ्यास और प्रस्तुति [ट्रेनिंग, रिहर्सल, परफारमेंस] इन तीन शब्दों के बीच आप कैसा रिश्ता कायम करते हैं ?

उत्तर—प्रशिक्षण मुक्ति का ऐसा क्षण है जिसमें निष्कर्ष-निर्णयों की परवाह किये बिना आप अपने को खोलते हैं। यह वही चीज नहीं जो रिहर्सल है क्योंकि रिहर्सल का संबंध नतीजे से है जब कि प्रशिक्षण का नहीं। पारंपरिक नाट्य में पूर्वापर दो स्थितियाँ होती हैं—रिहर्सल और प्रस्तुति; लेकिन तीसरे नाट्य में तीन स्थितियाँ होती हैं—प्रशिक्षण, रिहर्सल और प्रस्तुति। प्रशिक्षण रिहर्सल से जुड़ा हुआ नहीं है। बहुत से दलों का ऐसा प्रशिक्षण कार्यक्रम है जिसका प्रस्तुति के लिए अभ्यास से कोई ताल्लुक नहीं। दो समानांतर पटरियां हैं। प्रशिक्षण उनमें से एक है। रिहर्सल और प्रस्तुति दूसरी पटरी है। दल और उसकी क्रियाओं की गाड़ी इन दोनों पटरियों पर से गुजरती हुई आगे बढ़ती है।

प्रश्न—यहां क्या एक और शब्द को शामिल भर कर लेने का सवाल नहीं है ? पारंपरिक नाटच में प्रस्तुति के लिए रिहर्सल है। आपके तीसरे नाटच में रिहर्सल के लिए प्रशिक्षण है और प्रस्तुति के लिए रिहर्सल। तब क्या यह कहना ज्यादा ठीक नहीं है कि प्रशिक्षण रिहर्सल का रिहर्सल है ?

उत्तर—रिहर्सल के लिये रिहर्सल एक अच्छी परिभाषा है। लेकिन अलग-अलग दल के लिए स्थितियों में बहुत बड़ा फर्क होता है। कुछ दल प्रशिक्षण को ऐसे आरंभ-बिंदु के रूप में शुरू करते हैं जिसे बाद में रिहर्सलों में शामिल कर लेते हैं और नतीजन वह फिर प्रस्तुति में भी शामिल हो जाता है। कुछ दूसरे उसे अलग रखते हैं। अधिकतर दलों की रुझान प्रशिक्षण का इस्तेमाल ऐसे नतीजों के खदान के रूप में करने की होती है जिन्हें वे रिहर्सलों और फिर प्रस्तुतियों में काम ला सकें या फिर प्रशिक्षण का उपयोग वह ऐसी मनोशारीरिक स्थिति तक पहुँचने मे करते हैं जो रिहर्सल की उड़ान भरने के लिए मैदान का काम कर सके।

प्रश्न—हम पूर्वापर तीन स्थितियों—प्रशिक्षण-अभ्यास-प्रस्तुति की ओर फिर लौटें। प्रशिक्षण की अपेक्षा अभ्यास प्रस्तुति के अधिक निकट दिखाई पड़ता है। लेकिन इसके विपरीत हम देख यह रहे हैं कि प्रशिक्षण स्वयं प्रस्तुति बन जाने की ओर उन्मुख है। आप इसकी क्या व्याख्या करते हैं ?

उत्तर—नाट्य का मेरा सिद्धांत बड़ा बुनियादी है। मेरे लिए नाटच ऐसा क्षण है जिसमें कोई व्यक्ति एक ऐसे स्तर पर ऊर्जा का विकिरण करने लगता है जो उसकी रोजमर्रा जिंदगी से अलग है और जिससे वह व्यक्ति आकर्षक-संमोहक हो उठता है। मेरे लिए नाट्य ऐसी ऊर्जाओं का संकलन है जो अपनी ओर खींचता है। प्रशिक्षण में ऊर्जाओं का संपूर्ण गति-संचालन होना चाहिए। सबसे अधिक प्रदर्शन-भव्यता वाला [स्पेक्टेकुलर] प्रशिक्षण वह है, जिसमें पूरा शरीर अपनी संपूर्णता के साथ जीवंत हो उठता है। सिर्फ मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण का निंदालु असर पड़ता है। रहस्य की बात यह है कि बिखेरे बिना ऊर्जा को कैसे विकीरित करें, कैसे इसे एक खास तरह के अवरोध [रेसिस्टेंस] से गुजारें कि भार और गति, बल में बदल जाएँ। प्रशिक्षण मे जिस पहले अवरोध का सामना करना पड़ता है वह ऐसे पूर्व-निश्चित व्यायाम हैं जो मुश्किलों का एक सिलसिला बनाते हैं। ऊर्जा जब किसी बाधा से टकराती है तो उसे अपना रूपांतरण करना ही पड़ता है। और यहीं से नाट्यक्षण की शुरुआत होती है।

प्रश्न—मैं खास मुद्दे की बात करूँ। इस बात को जान लेने पर भी कि प्रशिक्षण की तुलना मे अभ्यास [रिहर्सल] प्रस्तुति के ज्यादा करीब है, तीसरे नाट्य का दर्शक यह क्यों अनुभव करता है कि वह प्रस्तुति नहीं देख रहा है ? ऐसी कौन

सी बात है जिसके कारण वह समझने लगता है कि प्रशिक्षण का इस्तेमाल प्रस्तुति की तरह किया जा रहा है ?

उत्तर—प्रशिक्षण में अभिनेता उतना मुक्त रहता है जितना आशुसर्जन [इम्प्रोवाइ-जेशन] में, जबकि रिहर्सल हमेशा एक ऐसा सोपान होता है जिसपर वह सचेतन या अचेतन रूप से एक ढाँचा खड़ा करता है। इसमें वह प्रशिक्षण के दौरान विकीरित ऊर्जाओं को एक तरह से चोली में छिपाने की कोशिश करता है। इस तरह देखने पर रिहर्सल उस शेर को पालतू बनाने का संघर्ष है जिसे प्रस्तुति के दौरान फिर से जंगली बनाना है।

प्रश्न—अच्छा, तो प्रशिक्षण को दर्शक इसलिये मानता-पहचानता है कि इसमें बड़ी मात्रा में स्वतंत्रता का अनुभव होता है—ऊर्जा की अबाध विमुक्ति का। तब क्या हम कह सकते हैं कि 'प्रशिक्षण—अभ्यास—प्रस्तुति' के मार्ग से चल कर ऊर्जा का क्रमिक क्षय होता जाता है ?

उत्तर—हाँ ! न्यूक्लियर रियेक्टर की तरह अभिनेता अपनी सारी ऊर्जाओं को स्वतंत्रता से एक बारगी ही विमुक्त नहीं कर सकता, अन्यथा अभिव्यंजनात्मक अनु-शासन की दृष्टि से वह संकट के बिंदु तक पहुंच जाएगा, दूसरे शब्दों में मनोचिकित्सीय नाटच तक। उसे बाढ़ को पीछे खींच कर बाँध बनाना होगा। रिहर्सल यही बाँध है जो ऊर्जाओं के प्रवाह को नियंत्रित कर उन्हें मनचाहे नतीजों की नहरों में बहा देता है। इसलिये प्रशिक्षण से रिहर्सल की यात्रा के दौरान ऊर्जा में अवनति होती है, लेकिन प्रस्तुति में उसमें फिर उठान आता है। अब अगर रिहर्सल की क्रमा-वस्था की गिरावट के बावजूद प्रस्तुति में अभिनेता मूलभूत ऊर्जा को फिर से पा लेने में सफल नहीं हो पाता तो प्रस्तुति सिर्फ शुद्ध तकनीक बनकर रह जाती है या फिर वह निर्देशक की प्रस्तुति होती है जो ऊपर-ऊपर से प्रतीक-चिह्नों की क्रमावली को थोपता है। प्रशिक्षण के नाटचतत्व प्रस्तुति में फिर से उमड़ आने चाहिए जहाँ यह अहसास हो कि अभिनेता जो कुछ कर रहे हैं उसमें निर्देशक की मौजूदगी है, लेकिन अदृश्य रूप में।

प्रश्न—ऊर्जा की वक्ररेखा के प्रशिक्षण और प्रस्तुति दो उच्चतम बिंदु हैं। लेकिन क्या हम ऊर्जा की सिर्फ मात्रा के संदर्भ में बात कर रहे हैं या उसके गुणों की समा-नता के भी संदर्भ में ?

उत्तर—प्रस्तुति में प्रशिक्षण प्रतिबिंबित होता है। अगर प्रशिक्षण शरीर को पालतू बनाने के उद्देश्य से दिया गया है तो प्रस्तुति में वह साफ दिखाई पड़ेगा। तकनीकी दृष्टि से प्रभावशाली भले ही लगे, लेकिन अधिकांश प्रशिक्षण का इस्तेमाल शरीर को पालतू बनाने के साधन के रूप में किया जाता है, अपने ही शरीर के औपनिवेशीकरण—इसके ऊपर बाहर से एक ऐसी नई तरह की संस्कृति लादने के

लिये किया जाता है जिसके सही होने का निर्णय दिमाग ने लिया है। अगर आपने मांसपेशियों को प्रशिक्षण दिया है तो प्रस्तुति भी मांसपेशियों वाली ही होगी, अगर आप मनोवैज्ञानिक ढंग के निंदालु प्रशिक्षण से गुजरे हैं तो प्रस्तुति में उसका भी असर दिखाई पड़ेगा। प्रशिक्षण और प्रस्तुति में वोल्टेज की समतुल्यता होती है। यदि प्रशिक्षण २२० वोल्ट पर दिया गया है तो प्रस्तुति भी २२० वोल्ट वाली ही होगी। और प्रशिक्षण ६ वोल्ट वाला होगा तो प्रस्तुति भी ६ वोल्ट पर होगी। प्रशिक्षण के समय अभिनेता को संचालित करने वाली बैटरी का जो पावर होगा वही पावर प्रस्तुति के समय भी होगा।

प्रश्न—यदि प्रशिक्षण और प्रस्तुति, दोनों में एक ही गुणधर्म वाली ऊर्जाएँ होती हैं तो फिर प्रस्तुति की जरूरत ही क्या है ?

उत्तर—प्रशिक्षण का ताल्लुक उसे ग्रहण करने वाले अभिनेता और उसके सहयोगियों तक ही होता हैं। यह सर्जनात्मक कार्य, सामाजिकता की पहली सीढ़ी भर है। प्रस्तुति दूसरी और अंतिम सीढ़ी है—इस रूप में कि इसमें प्रेक्षक भी शामिल हो जाते हैं जो प्रशिक्षण के भागीदार नहीं होते। प्रशिक्षण की क्रमावस्था में होने वाला कार्य अभिनेता को एकांगी बना देता है—हालांकि उसी वक्त वह उसे दूसरों के और भी करीब लाता है। लेकिन अगर वह अपने घेरे को बड़ा करना चाहता है तो इसे वह प्रस्तुति के साधन के जरिये ही कर सकता है। यह एक तरह का विरोधाभास है कि स्वतंत्रता आपको दूसरों से अलग कर देती है। जब अभिनेता विकल्पों में से चुनाव के एक सिलसिले को लेकर अपनी स्वतंत्रता के साथ मुठभेड़ करता है और प्रस्तुति में उन्हें जिंदगी बखशने का उपाय करता है तब उसमें यह संभावना पैदा होती है कि वह अपने से बाहर निकल सके, अपने दल के घेरे को पार कर सके।

प्रश्नकर्त्ता—तब हम कह सकते हैं कि प्रस्तुति के बिना प्रशिक्षण अधूरा सामाजीकरण है ?

उत्तर—हां, बिल्कुल ठीक ! अगरचे आप प्रशिक्षण का इस्तेमाल जानबूझ कर सामाजीकरण की एक स्थिति के रूप में न करें। मेरी कोशिश 'द बुक आव डांसेस' इसका एक उदाहरण है। किन क्षणों में प्रशिक्षण प्रस्तुति में रूपांतरित हो जाएगा, इस पर मुनहसर करता है कि प्रशिक्षण का सामाजिक इस्तेमाल कैसे किया गया है ? यह सिर्फ मोंताज पर मुनहसर नहीं है। प्रशिक्षण को एक बनाकर, एक ढाँचा देकर, एक खास तरह की प्रस्तुति हासिल की जा सकती है। ऐसा इसलिए है कि प्रशिक्षण किसी कथावस्तु [थीम] पर आश्रित नहीं होता जबकि प्रस्तुति होती है। प्रशिक्षण में आपके पास बुनियादी नाट्यसामग्री की एक आकृति भर होती है। या उदाहरण के लिये जैसे, जब अभिनेता थकावट के खिलाफ संघर्ष करता है या फिर किसी नये

कार्य की सटीकता में अनायास-सहज प्रतिक्रियाओं द्वारा डाली गई रुकावट से जब वह लड़ता है। प्रस्तुति में नाट्यवस्तु कहीं ज्यादा गुंफित और जटिल होती है। प्रशिक्षण में नाट्यवस्तु जहाँ बिम्बों और साहचर्यो का एक बहुत सीमित क्रम भर ही दे सकती है वहीं प्रस्तुति की नाट्यवस्तु की जड़ें ऐतिहासिक संदर्भो में निहित होती हैं। और इस बुनियादी फर्क को दर्शक एक बारगी ही पहचान लेता है।

●

यूजेनियो बार्बा के बारे में

मि० बर्बा, क्या आप अपनी जिंदगी के बारे में संक्षेप में कुछ बताएँगे ?

सन् १९५४ ई० में मैं १७ साल की उम्र में स्कैंडिनेविया आया। मुझे नार्वे में गर्मी के मौसम में चलने वाला वेल्डर का काम मिल गया। मैं वहाँ एक साल ठहरा। फिर मैंने नार्वे की नावों पर दो साल तक मल्लाह का काम किया। जब मैं वेल्डर का काम कर रहा था तभी कुछ दिनों बाद ओस्लो यूनिवर्सिटी में मैंने अपना दाखिला करा लिया था। मुझे नार्वेजियन, फ्रेंच और धर्म के इतिहास में डिग्री प्राप्त हुई। १९६० में मैंने अपने को नाट्य में लगा देने का निर्णय लिया और यूनेस्को के जरिये मुझे पोलैंड में इस विषय का अध्ययन करने के लिये छात्रवृत्ति मिली जहाँ मैं चार वर्षों तक रहा।

एक साल तक तो मैंने वारसा के नाट्यस्कूल में शिक्षा प्राप्त की और तीन साल ग्रोटोवस्की के साथ ओपोल में गुजारे जहाँ उसका नाट्यकेन्द्र था। बाद में १९६५ में ग्रोटोवस्की रोक्ला चले आए।

मैं नार्वे लौट आया जहां मैंने थियेटर की दुनिया में घुसने की कोशिश की, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ, मेरे लिए सब दरवाजे बंद थे। एक ही रास्ता था कि मैं खुद शुरूआत करूँ। चूँकि व्यावसायिक अभिनेताओं को अपने साथ काम करने के लिये राजी करना बेहद मुश्किल था, मैंने कुछ ऐसे नौजवान लोगों से संपर्क किया, जो भावनिष्ठा के साथ नाट्य करना चाहते थे लेकिन मेरी जैसी स्थिति में ही पड़े थे; स्टेट थियेटर स्कूल ने उनका दाखिला लेने से इनकार कर दिया था। शुरू में हम ग्यारह लोग थे। इनमें से सिर्फ दो मेरे साथ होलस्टेब्रो आये और आज वे मेरे घनिष्ठतम सहकर्मी हैं। ये हैं एल्सेम्मारी लाडविक और टोर्गेइर वेथाल।

लोग कहते हैं कि ग्रोटोवस्की से आपने अपने संबंध तोड़ लिये हैं।

थियेटर में लोग हमेशा अपने गुरु, अपनी परंपरा—जिसमें से वे उगे बढ़े हैं—से इंकार विरोध करके अपनी मौलिकता स्थापित करना चाहते हैं। मेरा सोचने का तरीका इससे बिल्कुल अलग है। अगर कोई ऐसा आदमी है, जिसे मैं अपना गुरु, अपना स्वामी कह सकता हूँ तो वह सिर्फ ग्रोटोवस्की हैं। उन्होंने मुझे काम करना सिखाया है और उनके काम को मैं सबसे ज्यादा सम्मान देता हूँ। उनके बुनियादी सिद्धांत, काम करने की उनकी प्रक्रिया, उनकी व्यावसायिक चेतना अब भी मेरे लिए चुनौतियों से भरे हैं।

जबतक ऐसा लगता है कि गुरु के पास आपको देने के लिए अभी भी कुछ ऐसा है, जो आपके निजी और स्वतंत्र विकास को प्रेरित कर सकता है, तबतक आप उसके शिष्य हैं। इस अर्थ में मैं अभी भी ग्रोटोवस्की का शिष्य हूँ और आने वाले लंबे समय तक बना रहूँगा।

●

कुछ प्रतिवेशी कलाएँ

फिल्म के सौंदर्यशास्त्र की ओर

हरबर्ट रीड

किसी भी कला के सौंदर्यशास्त्र का विरोध उसके कलाकार द्वारा सदा से होता आया है और फिल्म-कला के ऊपर सिद्धांत लादे न जाएँ इसके पक्ष में एक विशेष कारण भी है। इस कला ने अभी तक रूपग्रहण नहीं किया है: और किसी ऐसी चीज के लिये सिद्धांतों का निर्माण करना जो अभी अस्तित्व में ही न आयी हो सिद्धांतवादिता के अविवेक की हद प्रतीत हो सकती है। किन्तु एक प्रकार का सौंदर्यशास्त्र तात्विक रूप से पूर्वपीठिका है। यह कला के सार्विक नियमों की खोज है, और यदि फिल्म को कला होना है तो ये सैद्धांतिक विवेचन इसके लिए भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने अन्य किसी कला के लिए, और ये इसकी विकास-रेखा को निर्देशित कर सकते हैं।

क्या फिल्म "कला" है? लेकिन यह दूसरी और कौन सी चीज हो सकती है? एक यांत्रिक प्रक्रिया? पर, उदाहरण के लिए ऐसा ही तो उत्कीर्णन भी है; ऐसी ही वह प्रत्येक कला है, जो किसी औजार का इस्तेमाल करती है। कोई विशेष प्रक्रिया कला है अथवा नहीं, इसका निर्णय करने के लिए हमें केवल एक प्रश्न पूछने की आवश्यकता है। क्या इसमें "चयन" सम्मिलित है? क्योंकि चयन का अर्थ है (क) वह मानदण्ड जिसके लिए चयन किया जाता है और (ख) इस मानदण्ड के अनुसार चुन सकने की संवेदनक्षमता। किसी मानदण्ड के अनुसार चयन में संवेदनक्षमता का उपयोग कला की प्रारम्भिक परिभाषा है। मैं समझता हूँ कि यह दिखाया जा सकता है कि चयन फिल्म का नितान्त प्रारम्भिक सिद्धान्त है और इसलिए फिल्म तात्त्विक रूप से एक कला है।

फिल्म चाक्षुष है। यह तथ्य सौंदर्यशास्त्र के दृष्टिकोण से इसे तुरत चाक्षुष या प्लास्टिक कलाओं से, जैसा कि अधिक सामान्य किन्तु कम सटीक रूप से पुकारा जाता है, जोड़ देता है। "चलचित्र" "द मूवीज" फिल्म को अबतक दिये गये नामों में से यह सबसे अधिक वर्णनात्मक है। चित्र + गति, यह है फिल्म की परिभाषा, और यदि हम इस नवीन तत्त्व के लिए आवश्यक संशोधनों को चित्र-कला के सौंदर्य-शास्त्र में सम्मिलित कर दें तो हमें फिल्म का सौंदर्यशास्त्र प्राप्त हो जायगा।

किन्तु यह उतना सरल नहीं है जितना प्रतीत होता है। चित्र में इस नवीन तत्त्व का सम्मिलन ऐसी दशाएँ उत्पन्न करता है, जो चित्रकला (हमें चित्र ही कहना चाहिये) को फिल्म से प्राय: पूर्ण रूप से अलग कर देती हैं। चित्र और फिल्म के

बीच यह एक तात्त्विक अन्तर—बल्कि विरोध है। चित्र की रचना विषयीगत होती है और फिल्म की विषयगत। पटकथा-लेखक के कार्य का मूल्यांकन हम चाहे जितना भी अधिक करें—वास्तविक व्यवहार में इसका मूल्यांकन बहुत कम होता है—हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि फिल्म की रचना मन से सीधे निकलकर उसी प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं होती, जिस प्रकार रंग जैसे तरल माध्यम से होती है, बल्कि इसमें वास्तविक दृश्यात्मक जगत की भारी स्थूल सामग्रियों को खण्ड-खण्ड करना पड़ता है।

चित्र एक संश्लेषण है (मैं इस अपरिष्कृत धारणा को छोड़े देता हूँ कि यह अनुकरण है); फिल्म तात्त्विक रूप से विश्लेषण है। चित्रकार अपनी दृश्यात्मक अनुभूतियों के चुने हुए तत्त्वों की अपने मन में रचना करता है (अर्थात् संश्लेषण करता है)। (रचना की वास्तविक प्रक्रिया में कल्पना और संवेदनशीलता से निर्देशित होकर वह अपनी अनुभूतियों से परे भी चला जाता है।) फिल्म का निर्देशक भी उन्हीं दृश्यात्मक अनुभूतियों से प्रारम्भ करता है, लेकिन वह अपनी विषय-सामग्री से बँधा रहता है। अपनी सामग्री को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए—उसकी वास्तविकता तथा सूचनात्मक मूल्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बनाने के लिए, उसे अपनी कल्पना के सातत्य को तोड़ना पड़ता है। महत्व की एक सीढ़ी से दूसरी पर उछलना पड़ता है। उसे दृश्य के महत्वपूर्ण पहलुओं को पाने के लिए उसका विश्लेषण करना पड़ता है। (उदाहरण के लिए "रेन" या "पियरेमेण्ट" जैसी फ़िल्मों में कैमरे की टेक है "कहो कब ?" दिग्दर्शक "अब" चिल्लाता हुआ फेरेट की भाँति भागता रहता है।)

फिल्म को अशौच माननें वाले इसकी प्रक्रिया की यान्त्रिक प्रकृति पर जोर देते हैं (मानो रंगने की तूलिका, उत्कीर्णन का औजार अथवा पियानो भी यान्त्रिकता के ही रूप न हों)। उनका कथन है कि फिल्म के लिए सच्ची प्रेरणा उसकी यान्त्रिक सम्भावनाओं में ही पायी जा सकती है। औजार ही कला का माध्यम है। (Der Apparat ist die Muse-Bela Balazs) किन्तु उपकरण और सामग्री या माध्यम में अन्तर करना आवश्यक है। औजार, और औजार द्वारा जिस माध्यम पर कार्य किया जाता है, उसके बीच अन्तर करना आवश्यक है। शिल्पी का माध्यम उसकी छेनी नहीं है, बल्कि स्फटिकखण्ड है। अधिक सटीक रूप से कदाचित् इन दोनों का संघात है, क्योंकि स्फटिकखण्ड पर छेनी की अनुभूति के प्रति ऐन्द्रिय संवेदना पर ही सर्जनात्मक प्रेरणा निर्भर करती है। कैनवस पर रंग में डूबी हुई तूलिका के स्पर्श में भी वही ऐन्द्रिय तत्त्व है और संगीत में भी यही तत्त्व स्पष्टतः परिलक्षित होता है। कैमरा फिल्मनिर्देशक का औजार है और उसका माध्यम प्रकाश—या संभवतः स्थूल पदार्थों पर प्रकाश का संघात है। अच्छा तो यह होगा कि

हम कैमरे को प्रकाश की छेनी मान लें, जो पदार्थों की वास्तविकता को तराशता है। किसी भी स्थिति में प्रकाश ही माध्यम है।

हम लोग "चयन" शब्द को छोड़ सकते हैं; क्योंकि अपने प्रयोग में यह बहुत "स्थिर" है। हमें फिल्म की गतिशीलता, उसकी नमनीयता पर जोर देने की जरूरत है। क्योंकि यही वह विशेषता है, जिसके गुण से फिल्म कला बनती है। हमने गतिशीलता और नमनीयता को परस्पर-परिवर्तनशील शब्दों के रूप में व्यवहृत किया है। किन्तु उदाहरण के लिए यह उल्लेखनीय है कि शिल्पकला में किसी वस्तु को इसलिए परिवर्तित किया जाता है, उसे नमनीय बनाया जाता है, जिससे वह अचल, पूर्ण और शाश्वत अवस्था को प्राप्त कर सके। फिल्म में वस्तुओं की अचलता (उनके गतिशील होने पर भी) परिवर्तित की जाती हैं, नमनीय बनायी जाती है, इसलिए कि वह गतिशील, सापेक्ष और अस्थिर वस्तु बन सके। "शिल्प" स्थान की कला है, जबकि संगीत "काल" की कला है। फिल्म "स्थान-काल" की कला है। यह स्थान-काल का सातत्य है।

कम से कम तीन ऐसी दिशाएँ (या आयाम) हैं जिनमें फिल्म की गतिशीलता सम्पन्न हो सकती है (१) कैमरे कीं गति, (२) प्रकाश की गति, (३) और चित्रांकन की वस्तु की गति। इन गतियों के संयोग प्लास्टिक रूप की असीम संभावनायें उत्पन्न करते हैं।

फिल्म की सच्ची नमनीयता, वह नमनीयता जो फिल्म को अनुपमेय बनाती है—प्रकाश की नमनीयता है। जिस प्रकार तात्विक चित्र अमूर्त चित्र है उसी प्रकार तात्विक फिल्म अमूर्त फिल्म होगी—प्रकाश और छाया की एक "शुद्ध" कृति। किन्तु ऐसी फिल्में केवल शुद्ध कलावादियों के लिए हैं।

"रूप" का प्रश्न कठिन है। चित्र में भी हमें बन्दरूप (वह रूप जो चित्रित सतह की भूमि और चौखटे द्वारा निश्चित होता है) तथा खुलेरूप (वह रूप जो इन सीमाओं की उपेक्षा करता है और अपने को चित्र की भूमि में विस्तृत कर देता है जैसा कि विशेष रूप से बरोक कला में व्यक्त हुआ है) के बीच अन्तर करना पड़ता है। बन्दरूप तथा चित्रात्मक संयोजन के लिए हम "स्थिर चित्रों" को ले सकते हैं—किन्तु तात्विक रूप से फिल्म खुलारूप है। यह सतत रूप से चित्रांकित वस्तुओं के चतुर्दिक स्थान को अपने में समाहित करती रहती है और वह भी पर्दे की सीमाओं से परे। यह खण्ड द्वारा पूर्ण की अभिव्यक्ति का प्रयास करती है। यह काटों (कट्स) की कला है – मितव्ययिता पूर्ण काटों (कट्स) की।

फिल्म की स्वतंत्रता ही इसके लिए भय उत्पन्न करती है। कला-रूप में फिल्म की समस्या उपयुक्त परम्पराओं की खोज है। इसे नाटक के लिए उपयुक्त संकलनों

को त्याग कर "स्थान-काल सातत्य" के उपयुक्त संकलनों को ढूंढना पड़ेगा। (नाटक का ही फिल्मरूप अत्यन्त दुर्बल होता है।) कदाचित फिल्म की एकमात्र सम्भव अन्विति किसी भी अन्विति का अभाव है। तात्विक रूप से फिल्म अतार्किक है। फिल्म में घटनाएं समानान्तर रूप से घट सकती हैं; उन्हें आयाम की एक से अधिक इकाइयों में प्रदर्शित किया जा सकता है, स्वयं "काल" को भी नियन्त्रित किया जा सकता है। फिल्म की एकमात्र अन्विति उसका सातत्य या प्रवाह है।

सामान्य सवाक् चित्रों में देखा जा सकता है कि कितनी आसानी के साथ वह प्रवाह भंग कर दिया जाता है। संवाद गति के प्रवाह को बाधित कर देते हैं या कम से कम उसमें देर कर देते हैं। हम देखने के बजाय सुनने लग जाते हैं। किन्तु यदि हम एक बार भी सिनेमा में सचेतन रूप से सुनने में मग्न हुए तो मानो हम रंगशाला में पहुंच गये।

सवाक् फिल्म में स्पष्ट कला-रूप का विकास ढूंढना कठिन है। किन्तु हमें उन दो प्रकार की सवाक् फिल्मों में अन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिये जिनमें से एक में तो संवादों का पूरा और सामान्य प्रयोग होता है और दूसरे में संवाद केवल विशिष्ट प्रभाव के लिए काम में लाये जाते हैं। संभाषण भी "प्रभाव" हो सकता है जैसा कि हम रेनी क्लेयर की फिल्मों में देखते हैं। इन फिल्मों में संभाषण का उपयोग बहुत कम किया गया है और ये प्रवाह में कभी बाधा नहीं उपस्थित करते। संभाषण की गति फिल्म की गति के साथ चलना चाहिए। दोनों में "काल" की समानान्तरता आवश्यक है। किन्तु सामान्य फिल्मों में "काल" का अत्यधिक संकोचन कर दिया जाता है इसलिए उसमें संभाषण का संकोचन भी उसी अनुपात में होना चाहिए।

फिल्म के साथ संगीत के सहकार के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। संगीत की गति का प्रवाह फिल्म की गति के समानान्तर होना ही चाहिए। इसलिए यह आवश्यक है कि या तो फिल्म संगीत का प्रतिरूप हो (जैसे संगीत के साथ नृत्य करते हुए नर्तक की फिल्म) अथवा संगीत की ही रचना फिल्म के अनुसार हो (जैसे "पोटेमकिन" के लिए एडमण्ड मीजेल का संगीत)।

इसका यह अर्थ नहीं कि सवाक् फिल्मों का कोई भविष्य ही नहीं। किन्तु इसके नियम शुद्ध फिल्म के नियम न होंगे और यह जितनी जल्दी अपनी मुक्ति का मार्ग ढूंढ सके उतना ही अच्छा है। रुडोल्फ अर्नहीम "कला रूप में फिल्म" नामक पुस्तक में निम्नलिखित उदाहरण देता है। 'संगीत के एक टुकड़े की रचना अकेले पियानो पर बजाने के लिए की जा सकती है। इसके बाद इसी टुकड़े को वायलिन के साथ बजाने के काम में लाया जा सकता है। तात्विक रूप से तो यह संगीत का वही टुकड़ा रहेगा किन्तु यदि फिर पियानो और वायलिन के टुकड़े को अलग-अलग लिया जाय तो वे अपने मूल रूप से भिन्न हो जायेंगे। एक साथ बजाये जाने पर दोनोंमें से

प्रत्येक ने एकान्विति के लिए अपने को संशोधित कर लिया। इसी प्रकार आदर्श सवाक् चलचित्र के लिए संवाद और फिल्म दोनों को एक दूसरे के अनुकूल संशोधित होना आवश्यक है।

फिल्म की चित्रांकनप्रक्रिया की नमनीयता को हम छोड़ भी दें, तब भी मोंताज की प्रक्रिया में हम फिल्म के कलारूप की उपयुक्तता पा सकते हैं। मोंताज यन्त्रीकृत कल्पना है। निर्माता जान-बूझकर कैमरे की निर्वैक्तिता भंग करता है। इसके यन्त्रीकृत उत्पादनों को लेकर (कितना कम यन्त्रीकृत यह है, हम पहले ही देख चुके हैं।) उनका संयोजन वह उतनी ही स्वतन्त्रता के साथ करता है, जितनी स्वतन्त्रता के साथ चित्रकार रंगों और आकारों का संयोजन करता है। सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार करने पर यह फिल्म-निर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवस्था ठहरती है। इसका अनुभव पुडोवकिन और तिमोशेन्को जैसे फिल्मशास्त्रियों ने किया है। अर्नहीम उपर्युक्त पुस्तक में उनके सिद्धान्तों की परीक्षा करता है और उन्हें तर्कसंगत क्रम में संक्षिप्त कर (बल्कि विस्तृत कर क्योंकि उनसे चार पृष्ठ भरे हैं) उपस्थित करता है। चार प्रमुख सिद्धांत हैं। (१) स्वयं काट का सिद्धांत (२) काल की अवस्थाएं (३) स्थान की अवस्थाएं और (४) कथासामग्री के सम्बन्ध। पहले प्रश्न का सम्बन्ध लय के प्रश्न से है। (सापेक्ष रूप से लम्बे और बराबर के दृश्यों से प्रशान्त लय उत्पन्न होती है, लम्बे के अनन्तर छोटे दृश्यों के क्रम से अधिक तीव्र लय की उत्पत्ति होती है; इत्यादि) इसी में दृश्य के अंदर दृश्य, समानान्तर चलने वाले दृश्य, खंड को पूर्ण के साथ संलग्न करने के सभी उपाय, क्लोजअप, "कन्सनट्रेशन" इत्यादि के प्रश्न भी सम्मिलित हैं। दूसरे सिद्धान्त का सम्बन्ध समकालीनता का प्रभाव, स्मृति और भविष्यदृष्टि का प्रभाव, आकस्मिक प्रभाव तथा समयसंकोचन के प्रभाव आदि से सम्बन्ध रखता है। तीसरा सिद्धान्त भी एक ही दृश्यखण्ड में विभिन्न घटनाओं को दिखला कर या एक ही दृश्य के एक स्थानप्रत्यय से हटकर दूसरे स्थानप्रत्यय को प्रदर्शित कर उसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करता है। चौथा सिद्धान्त प्रभावों की समानान्तरता या उनका विरोध अथवा दोनों एक साथ उपस्थित करता है। (उदाहरण के लिए तिमोशेन्कों की एक फिल्म में अपनी कालकोठरी में बन्द एक कैदी के जंजीर से जकड़े हुए पैरों को दिखलाने के बाद ही रंगशाला में नृत्य करते हुए नर्तक के पैरों को दिखलाया गया है।)

फिल्म की नमनीयता (अर्थात कलात्मक सम्भावनाओं) पर हम जितना ही अधिक बल देते हैं फिल्मनिर्माण की प्रक्रिया में हम उतना ही अधिक कल्पनाशील कलाकार की आवश्यकता महसूस करते हैं। और यह बात वर्तमान प्रवृत्ति के बिल्कुल

विरुद्ध है। आजकल तो सिनेनाट्यलेखक के महत्व को अत्यंत नगण्य समझा जाता है। किंतु जब फिल्म अपने सब तकनीकी साधनों का पूरा उपयोग कर चुकेगी तो यह निश्चित रूप से कवियों की ओर मुड़ेगी। क्योंकि अन्तिम रूप से किसी कला का गुण उसकी रचना या उसका निर्देशन करने वाले मन के गुणों पर निर्भर करता है। कोई भी कला केवल यान्त्रिक प्रेरणाओं पर जीवित नहीं रह सकती। समाचार फिल्मों, वैज्ञानिक फिल्मों और घटनाओं का अंकन करने वाली फिल्मों का स्थान सदैव बना रहेगा, किंतु अंत में जनता कल्पना और स्वप्न (विजन) के फिल्म की मांग करेगी। और तब दिन आयेगा कवि का, सिनेनाट्यलेखक का अथवा हम चाहे उसे और भी जिस किसी नाम से पुकारें। क्योंकि वास्तव में यह कलाकार एक नये किस्म का कलाकार होगा—ऐसा कलाकार जिसमें चित्रकार की चाक्षुष संवेदनशीलता होगी, कवि का स्वप्न होगा और संगीतज्ञ की कालसंवेदन होगी। माध्यम के रूप में फिल्म की कलात्मक संभावनाओं पर संदेह करने के बजाय हमें मनुष्य की ही कलात्मक योग्यता पर संदेह करना चाहिए, जिससे कि वह इस नवीन माध्यम द्वारा उपस्थित किये गये अवसरों की ऊँचाई तक पहुँच सकता है। यह एक प्रकार की पैंडोरा की नई संदूक है जिसे सिनेनिर्माता अपने साथ लिए फिरता है। इसमें से उसने सभी प्रकार की बुराइयां निकाल छोड़ी हैं लेकिन जिसके तल में अब भी आशा शेष है।

●

कवि और फिल्म

हरबर्ट रीड

प्रत्येक कलात्मक कृति सर्जनात्मक कल्पना की देन है, और फिल्म को भी 'कला' संज्ञा धारण करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए अवश्य ही सर्जनात्मक कल्पना की सृष्टि बनना पड़ेगा।

जब तक हम 'सर्जनात्मक कल्पना' इस अस्पष्ट वाक्यखंड की परिभाषा न कर लें, यह अपनी पूरी अर्थवत्ता नहीं प्रकट कर सकता। इस प्रसंग में मैं विशेष रूप से 'सर्जनात्मक' शब्द का व्यवहार करना नहीं चाहता। यह कलाकार को ईश्वरतुल्य भूमिका प्रदान कर देता है जो उसके अहं के लिये कल्याणकारी नहीं। इस पृथ्वी पर कुछ भी नवीन नहीं है और महानतम कलाकार भी अधिक से अधिक यही कर सकता है कि वह वर्तमान तत्वों के ही नवीन संयोजन ढूँढ़ निकाले। यह वास्तविक रूप से सृष्टा बनना नहीं है। यह पुनर्सर्जक बनना है, मनोरंजक बनना है, प्रकाशक बनना है और भावनादायक बनना है। किंतु कल्पना के प्रसंग में 'सर्जनात्मक' शब्द का मेरे व्यवहार करने की सार्थकता इस बात में है कि कल्पना से मेरा मतलब केवल मानसिक क्रियाओं से नहीं है, उससे कुछ अधिक से है। केवल कल्पना नहीं, मूर्तिकृत कल्पना। कल्पना, जो अपने पदार्थगत समानान्तर दृश्य, शब्द और स्पर्श में पाती है। कल्पना, जो आकारों, ध्वनियों और संहतियों के इंद्रियग्राह्य रूपों में अनूदित हुई हो।

किंतु स्वयं 'कल्पना' भी अस्पष्ट शब्द है। हमारा इससे मतलब क्या है? 'कल्पना' के अर्थ पर दो हजार वर्षों से भी अधिक से विचारविमर्श होता आया है। अरस्तू ने बड़ी सटीकता के साथ इस पर विचार किया और अरस्तू से आगे बढ़कर यह बहस मध्यकालीन विद्वत्तावाद की महान परंपरा तक पहुँची; फिर उस परंपरा से चलकर यह स्वच्छन्दतावादी निकाय—हमारे देश (इंगलैंड) में विशेष रूप से कालरिज— तक पहुँची; और हम अब भी कल्पना के अर्थ पर बहस कर रहे हैं। इसी बीच सत्रहवीं शताब्दी में डेकार्ट के नेतृत्व में दर्शन का एक संप्रदाय सामने आया जिसने कल्पना के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया या इसे तर्क की अपेक्षा इतना महत्वहीन माना कि यह उपेक्षित हो सके और हो जाय। दर्शन का यह सम्प्रदाय विद्वत्तावाद के अस्त और स्वच्छंदतावाद के उदय के बीच मैदान में रहा। इस सम्प्रदाय की प्रधानता के युग को कभी-कभी तर्क का युग अथवा प्रबुद्धता का युग भी कहा जाता है। यह कला की पतनोन्मुख शैलियों का युग है। अतः हम निष्कर्ष

निकाल सकते हैं कि कल्पना तर्क की विरोधनी भले ही हो कला के लिये यह तात्विक रूप से आवश्यक है। एक तार्किक कलाकृति, यह शब्दों का परस्पर-विरोध प्रतीत होता है और मैं समझता हूँ यह शब्दों का परस्पर-विरोध है। यह एक ऐसा अंत-विरोध है जो बहुत से आधुनिक फिलमनिर्माताओं के उद्देश्यों और पद्धतियों में वर्तमान है।

शताब्दियोंव्याप्त कल्पना की यह चर्चा जिसका मैंने उल्लेख किया है—इंजेनियम और फैण्टेसिया के बीच अन्तर कर सकने में सफल हुई है। कल्पना और मनस्तरंग के बीच। यह अन्तर सदैव स्पष्ट नहीं रखा गया था, क्योंकि सभी चीजों को नगण्य करते हुए उन्हें एकता तक पहुँचाने की निराशाजनक इच्छा के साथ इंजेनियम और फैंटेसिया—कल्पना और मनस्तरंग—दोनों को नगण्य करते हुए एक ही मानसिकशक्ति तक पहुँचा कर उन्हें कल्पना संज्ञा देने की प्रवृत्ति सदैव से रही है। निश्चिततः यह व्यर्थ की आकांक्षा थी, क्योंकि वस्तुतः इनमें दो स्पष्ट बिभिन्न प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं।

इंजेनियम—कल्पना—की परिभाषा 'दो विभिन्न वस्तुओं में समानताएँ देखने या ढूँढने की क्षमता' के रूप में की जा सकती है। हम कहते हैं व्यक्ति उतना ही शीतल है, जितनी ककड़ी। इससे हमारा मतलब यह होता है कि ककड़ी और व्यक्ति जैसे दो नितान्त विभिन्न वस्तुओं में भी शीतलता का सामान्य तत्व हम देखते हैं अथवा किसी ऐसे व्यक्ति के कार्यों का वर्णन करते हुए जो चढ़ते हुए बाजार में 'स्टाक' रखे हुए है, हम कहते हैं कि 'वह एक अच्छी चीज पर जम रहा है, जैसे पानी ठंडी धातु पर जमता है. ये उपमा और रूपक के प्रारम्भिक उदाहरण हैं, किन्तु काव्य की सम्पूर्ण कला ऐसी ही क्रियाओं से जन्म लेती है। जब ऐसी तुलनाओं में शब्दों का चयन आकस्मिक रूप से किया जाता है (जैसा ककड़ी के सम्बन्ध में है, क्योंकि ककड़ी के अतिरिक्त दूसरी और भी चीजें शीतल हैं।) तो इस क्रिया को फैंसी अथवा मनस्तरंग कहा जा सकता है और यह वही चीज है, जिसे कालरिज ने 'स्थान और काल' के क्रम से भ्रष्ट स्मृति का एक ढंग कहा है, यह इच्छा की एक क्रिया है जिसमें चयन भी सम्मिलित है—निश्चित और निर्लिप्त वस्तुओं का चुनाव, जिन्हें किन्हीं प्रकाशपूर्ण साहचर्यों के रूप में लाया जा सकता है।

किंतु इंजेनियम, फैंसी, विट या और भी चाहे जो संज्ञा हम इसे दें, इसमें ही साहित्यिकसृजन में संलग्न मानसिक क्रियाएँ पूर्ण नहीं हो जातीं। एक दूसरी भी प्रक्रिया है, जो संवेगात्मक तनाव की अवस्था के साथ आरम्भ होती है और अनुभूति के इस केन्द्र के प्रति उन वस्तुओं और घटनाओं को आकर्षित करती है, जो अनुभूति को रूप देते हैं अथवा व्यक्त करते हैं। और तब ये वस्तुएँ या घटनाएँ आकस्मिक नहीं रह जातीं, बल्कि सटीक और आवश्यक हो उठती हैं। प्रत्येक वस्तु मूल

संवेग की शक्ति और रंग का समर्थन निश्चित रूप से करती है। यदि हम कालरिज का उद्धरण पुनः दें तो कल्पना की शक्ति अपने आप को संवेग की सामान्य की अपेक्षा आधिक्यपूर्ण स्थिति के साथ सामान्य की अपेक्षा अधिक क्रम के संतुलन और समायोजन में अपने को व्यक्त करती है; सदैव जाग्रत निर्णय और स्थिर आत्मनियंत्रण, उत्साह, गहरी अनुभूति और ओजस्विता के साथ मिश्रित होकर।

फिल्म प्रक्षेपित बिंबों द्वारा अपना प्रभाव उत्पन्न करती है। पर्दे पर प्रक्षेपित होकर ये बिंब दर्शकों के मानस में संग्रहीत बिंबों के साथ सद्यः संबद्ध हो जाते हैं और बिंबों के इस साहचर्य अथवा सहस्थिति से ही आश्चर्य, आनन्द, सुख, अभिमान अथवा दु;ख के वे संवेग प्रवाहित हो उठते हैं, जिन्हें हम सिनेमाघर में अनुभव करते हैं।

दृश्यबिंबों के ऊपर की इस निर्भरता से ही इस धारणा ने जन्म लिया कि फिल्म कलारूप में तभी सफल हो सकती है, जब वह सभी प्रकार के अमूर्तिकरणों से बचे और अपने को सतर्कतापूर्वक स्थूल बिंब तक ही सीमित रखे। साल्वाडर डाली, जिसने Babaous नामक एक अत्याधुनिक फिल्म की पटकथा की रचना की है, इस प्रकार लिखता है—

"सामान्य धारणा के विपरीत, विचार की वास्तविक प्रक्रियाओं को अभिव्यक्त करने के लिए साहित्य, चित्र, शिल्प और वास्तु की अपेक्षा सिनेमा अधिक अकिंचन और सीमित है। इससे प्रायः नीचा रूप यदि कोई है तो वह केवल संगीत है, जिसका आध्यात्मिक मूल्य, जैसा कि सभी जानते हैं, नहीं के बराबर है। अपनी प्रकृति से ही सिनेमा आधारभूत रूप से प्रक्रिया की ऐंद्रिक, असंस्कृत और उपकथात्मक सतह से, लयात्मक प्रभावों से, एक शब्द में, संगति से बँधा है। और संगति, जो अमूर्तिकरण का उदात्त उत्पादन है, अपनी परिभाषा से ही स्थूल और परिणामतः काव्य के दूसरे छोर पर है।

"पर्दे पर बिंबों का शीघ्र अनवरत परिवर्तन स्थूल को पाने के सारे प्रयत्नों को बाधित कर देता है और प्रायः सदैव ही उसके ऐच्छिक, भावात्मक, प्रगीतात्मक गुण को समाप्त कर देता है। स्मृति का रचनातंत्र, जिसपर से बिंब विशेष रूप से प्रत्यक्ष ढंग से कार्य करते हैं, स्वयं स्थूल के विघटन तथा आदर्शीकरण की ओर उन्मुख होता है।

"जाग्रत जीवन में स्थूल का प्रच्छन्न उद्देश्य और तीव्र संवेग प्रायः सदैव विस्मृति में डूबा रहता है, किंतु वे स्वप्न में पुनः सतह तक उठ आते हैं। काव्य के अन्य किसी प्रकार की अपेक्षा फिल्म का काव्य प्रगीतात्मकता के वास्तविक स्तर तक

पहुँचने के पूर्व स्थूल अतार्किकता में एक पूर्ण स्वप्न परिवर्तन की मांग कहीं अधिक करता है।"

और इसी धारणा के आधार पर फ्रांस में अतियथार्थवादी फिल्में निर्मित हुईं। ऐसी फिल्में जिनकी विषयसामग्री पूर्ण रूप से अतार्किक है, ऐसी फिल्में, जिनकी तुलना केवल स्वप्न, बल्कि दुःस्वप्न से ही की जा सकती है और जो स्वप्न की ही विशेषताओं को धारण कर अपनी शक्ति और सजीवता प्राप्त करती हैं। इस प्रकार की सर्वोच्च फिल्म है, ज्याँ कोकट की 'कवि का रक्त'। यह जार्ज आरिक के संगीत से समन्वित है। फिल्म निर्माण में यह एक जीवन्त प्रयोग है। यह एक कवि की कृति है। यह किसी कैमरामैन, या फिल्म के सर्जक को आप और जो भी दूसरा नाम देना चाहें, की कृति नहीं है, किंतु एक ऐसे व्यक्ति की कृति है, जो सर्वप्रथम और सर्वोत्तम रूप से तथा सदैव कवि है।

मैं समझता हूँ इस प्रकार की फिल्म कल्पना—काल और दिक से निष्कासित स्मृति, की शैली की हमारी परिभाषा में सटीक रूप से ठीक बैठती है। इसका प्रभाव इसकी स्थूलता, अतार्किकता और विचित्र स्वप्न की भाँति इसके बिम्बों की उर्वरकता पर निर्भर करता है। निश्चित रूप से यह उसी प्रकार की आत्यन्तिकता है जिस प्रकार प्रगीतकाव्य अभिव्यक्ति की आत्यन्तिकता है। यह तर्कसंगति को अस्वीकृत कर देती है; यह प्रगीतात्मक प्रभाव ढूंढती है—स्थूल की प्रत्यक्ष संवेदना। डाली की तरह का अतियथार्थवादी यदि किसी प्रकार की व्यापारिक फिल्मों को स्वीकृत कर सकता है तो स्पष्टतः वे हैं मार्क्स बन्धुओं की फिल्में। किंतु कोकट की फिल्म अथवा एनिमल क्रैकर जैसी फिल्मों में जो तत्व छाये हैं वे ही अन्य अधिकांश अच्छी फिल्मों में भी वर्तमान रहते हैं। और वे हैं किसी अमूर्त भावना को व्यक्त करने के लिए स्थूल बिम्ब को आकस्मिक रूप से प्रक्षेपित करना, समानधर्मिता को संकेतित करने के लिए दो बिम्बों को प्रक्षेपित करना।

Turksib नामक फिल्म में पानी की हिलकोरों के तुरन्त बाद सूत की गड़ारियों का स्पन्दनशील चक्कर दिखलाया गया है। गत्यात्मक कार्य और कारण में निहित प्रक्रियाओं की जटिल विचारधारा को प्रेषित करने का यह एक शक्तिशाली स्थूल प्रयास है। इस प्रकार की फिल्मों को जो सबसे बड़ा भय है वह है पुनरुक्ति का : अनेक फिल्मों में एक ही प्रकार के बिम्बों के बार-बार प्रयोग का। प्रकृति की शन्ति को व्यंजित करने के लिए आकाश की पृष्ठभूमि में झूमते हुए अन्न की बालियों का और यात्रा, गति, शक्ति आदि को व्यक्त करने के लिए इंजन के पहियों और पिस्टनों का क्लोजअप हमने कितनी अधिक बार देखा है। किंतु यह दोष उन शक्तियों की कमी के कारण है जिन्हें सामान्य फिल्मों से स्पष्टतः दूर रखा जाता है।

फिल्म को महान कला बनाने के लिए इन शक्तियों को इसमें आना ही चाहिये और फिल्म के तकनीकों की क्षमताएँ संकेत देती हैं कि यह एक दिन महान कला बनेगी। फिल्म को स्वयं काव्यात्मक शक्ति की आवश्यकता है। फिल्मनिर्माण की प्रक्रिया में इस शक्ति की कमी के कारण न केवल फिल्म में फैन्टेसी का अभाव है बल्कि कल्पनात्मक फिल्मों की ही प्रायः पूर्णरूप से कमी है।

कल्पनात्मक फिल्म—कलात्मक कृति के रूप में फिल्म, जो महान नाटक, महान साहित्य और महान चित्र के समकक्ष हो—तब तक सर्जित नहीं हो पायेगी जब तक कवि स्टूडियो में प्रवेश नहीं करता।

मैं जानता हूँ कि इस विचार के विरोध में कौन सी बात तुरंत रख दी जाती है—इस नवीन तकनीक का पूरा उपयोग करते हुए नवीन माध्यम की कठोर शर्तों के साथ काम करने की आवश्यकता; कैमरा ही फिल्मकलाकार का माध्यम (muse) है; साहित्यिक फिल्म सफल नहीं हो सकती तथा और भी ऐसी बहुत सी बातें।

ऐसे दृष्टिकोण के सम्बन्ध में मुझे केवल दो बातें कहनी हैं। पहली बात तो यह कि प्रत्येक कला में तकनीक के विषय में बहुत सी लम्बीचौड़ी बातें पारिभाषिक शब्दों में कही जाती हैं। तकनीक का अधिकांश कुछ ही दिनों में—ज्यादा से ज्यादा एक-दो वर्ष में—सीखा जा सकता है किंतु यदि कल्पनात्मक या सर्जनात्मक प्रतिभा की कमी हो तो तकनीकी क्षमता की बड़ी से बड़ी मात्रा भी किसी भी माध्यम में कलात्मक कृति को जन्म नही दे सकती। स्वभावतः तकनीक का प्रभाव कवि की संवेदनशीलता पर पड़ना ही चाहिए, उसे अपने माध्यम से प्रेम करते हुए उत्साह के साथ उसमें कार्य करना चाहिए। किंतु केवल साधन ही नहीं साध्य को भी सृजित कर सकने की क्षमता से युक्त कल्पना एक ईश्वरीय देन है और उसे हम काव्यात्मक प्रतिभा कहते हैं।

दूसरे, वे लोग हैं जो इस बात को अस्वीकार करते हैं कि फिल्म के दृश्यालेख और साहित्य में भी कोई सम्बन्ध हो सकता है। मेरी समझ से उनके मन में फिल्म की उतनी मिथ्या धारणा नहीं है जितनी स्वयं साहित्य की। ऐसा प्रतीत होता है मानों वे साहित्य को कुछ अभिजात और एकेडेमिक जैसी चीज समझते हैं। दूसरे शब्दों में वे उसे ईश्वर द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत, शुद्ध व्याकरण और सिसरो के समान भड़कीले वाक्यखंडों के संयोग से बनी कुछ चीज समझते हैं। ऐसी धारणा उनकी संवेदना की दुर्बलता को व्यक्त करती है। यदि मुझसे पूछा गया होता कि अच्छी रचना का सबसे बड़ा गुण क्या है तो मैं इसे एक शब्द में व्यक्त करता : दृश्यात्मक। यदि आप साहित्य के मूल तत्व तक पहुँचना चाहें तो एकमात्र इसी उद्देश्य तक पहुँचेंगे : शब्दों के माध्यम से बिम्बों को प्रेषित करना। किंतु बिम्ब में प्रेषणी-

यता अवश्य होनी चाहिए। मन में देखने की शक्ति पैदा कर देना। मस्तिष्क के आन्तरिक पर्दे पर वस्तुओं और घटनाओं के गतिशील चित्र प्रक्षेपित करना। घटनायें और वस्तुएं जो सामान्य की अपेक्षा अधिक क्रमशीलता के साथ सामान्य की अपेक्षा अधिक संवेगात्मक स्थिति के संतुलन और पुनर्ऐक्यीकरण की ओर गतिशील होती हैं। यही अच्छे साहित्य की परिभाषा है। और यही—होमर एवं शेक्सपीयर से लेकर जेम्स ज्वायस एवं हेनरी मिलर तक—प्रत्येक अच्छे कवि की उपलब्धियों की परिभाषा है। यही आदर्श फिल्म की भी परिभाषा है।

मोंताज

स्येर्गेई एइजेन्श्तेइन

हमारी फिलमकला में एक ऐसा युग था जब मोंताज को ही सबकुछ समझा जाता था। फिर ऐसा युग आया जब मोंताज को निरर्थक मान कर तिरस्कृत किया गया। इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों में से किसी से भी सहमत न होते हुए भी हम यह स्वीकार करना आवश्यक समझते हैं कि दर्शकों को प्रभावित करने के लिए सिनेकला (Cinematography) जिन तत्वों का उपयोग करती है उनमें मोंताज का महत्वपूर्ण भाग है। मोंताज सिनेकला की प्रत्येक कृति का अनिवार्य अंग है। चूँकि अब तो मोंताज के पक्ष-विपक्ष का तूफानी संघर्ष समाप्तप्राय है, हमलोग इस समस्या पर नये दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं। यह इसलिए और भी आवश्यक है कि उन दिनों जबकि मोंताज को अस्वीकृत किया जा रहा था, इसके उन निर्विवाद पहलुओं का भी विरोध किया गया जिनके ऊपर कभी किसी परिस्थिति में भी आक्रमण नहीं किया जा सकता था। बात यह है कि हाल के कुछ वर्षों में कुछ फिलमनिर्माताओं ने मोंताज का इतने पूर्णरूप से परित्याग कर दिया कि वे इसके आधारभूत उद्देश्य और लक्ष्य, जो प्रत्येक कलाकृति के शैक्षिक उद्देश्य से अलग किये जा सकते हैं, को भी भूल गये। ये लक्ष्य और उद्देश्य हैं पूरी फिलम या उसकी एक उपकथा (Episode) के बीच वस्तु-संविधानक, क्रिया और गति के निर्वाह में अन्तःसंबंध और अनुक्रम (Sequence) की आवश्यकताएँ। मोंताज की इस उपेक्षा का परिणाम यह होता है कि कभी-कभी बहुत बड़े निर्माताओं द्वारा भी निर्मित विभिन्न विधाओं की बहुत सी फिल्मों में कहानी से उत्पन्न होने वाली उत्तेजना की बात तो दूर सामान्य नैरेटिव में तर्कसंगत प्रवाह तक नहीं रह पाता। इस दोष को दूर करने के लिए फिलम-निर्माताओं की आलोचना करने की उतनी जरूरत नहीं है जितनी खोये हुए मोंताज-कौशल के पुनरुद्धार की। इसकी आवश्यकता इसलिए और भी बढ़ जाती है कि हमारी फिल्में अत्यधिक संवेगात्मक कहानियाँ होनी चाहिए न कि तथ्यों की तर्कसंगत प्रतिकृति मात्र।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मोंताज एक शक्तिशाली उपकरण है।

पहली बात तो यह कि हम मोंताज का उपयोग ही क्यों करते हैं? मोंताज का अत्यन्त उग्र (Fanatical) विरोधी भी इस बात को स्वीकार करेगा कि इसका कारण यह नहीं है कि हम असीम लम्बाई की फिलम नहीं बना सकते इसलिए फिलम के छोटे-छोटे टुकड़ों को एक दूसरे के साथ जोड़ने के लिए हमें प्रायः मजबूर होना पड़ता है।

मोंताज के मामलों में वाममार्गी दूसरे छोर पर पहुँच गये। फिल्म के टुकड़ों का उपयोग करते हुए उन्होंने मोंताज के एक विशेष गुण का अनुसंधान कर डाला। इसने उन्हें इतना अधिक प्रभावित किया कि वे कई वर्षों तक इसके प्रभाव से मुक्त न हो सके। यह गुण प्रकट करता है कि यदि फिल्म के दो टुकड़ों को एक साथ जोड़ दिया जाये तो यह योग अनिवार्य रूप से एक नये प्रत्यय (Concept) का सृजन कर डालेगा। इस योग से एक नवीन गुण का जन्म होगा।

यह केवल एक विशेष सिनेमैटोग्राफिक प्रक्रिया मात्र नहीं है। जब भी हम दो तथ्यों, प्रक्रियाओं या वस्तुओं की एक साथ उपस्थिति करते हैं तभी हम निश्चित रूप से इसी प्रक्रिया को क्रियाशील पाते हैं। जब हम दो वस्तुओं को एक साथ रखी देखते हैं, हम एक विशेष निष्कर्ष निकाल लेते हैं—प्रायः अनायास। उदाहरण के लिए एक कब्र को लीजिए। कल्पना कीजिये कि एक स्त्री इसके समीप शोकवस्त्रों में विलाप कर रही है। और यह प्रायः निश्चित है कि आप यही निष्कर्ष निकालेंगे कि वह स्त्री विधवा है। एम्ब्रोसी विएर्स की लघुकथा का प्रभाव भी हमारे प्रत्यक्षीकरण के इसी गुण पर आधारित है। लघुकथा इस प्रकार है :

विधवावेष में एक स्त्री एक कब्र के पास रो रही थी। एक सहानुभूतिशील आगन्तुक ने उससे कहा, "अपने को सांत्वना दें भद्रे! ईश्वर की कृपा असीम है। आपके पति के अतिरिक्त एक और ऐसा व्यक्ति कहीं न कहीं जरूर मौजूद है जिसके साथ आप अब भी आनन्दपूर्वक रह सकती हैं।" "था" सुबक कर स्त्री ने कहा, "था तो; लेकिन यह उसी की कब्र है।"

इस लघुकथा का पूरा प्रभाव पूर्वनिर्धारित इस अनुमान पर आधारित है कि कब्र और उसके पास विधवावेष में रोती हुई स्त्री का अर्थ इसके सिवा और कुछ दूसरा नहीं हो सकता कि कोई विधवा अपने पति के लिए रो रही है। किन्तु वास्तविकता यह है कि जिस पुरुष की मृत्यु पर वह रो रही है वह उसका पति नहीं बल्कि प्रेमी है।

इस परिस्थिति का प्रयोग प्रायः पहेलियों में भी किया जाता है। हम यहाँ लोक-वार्ता से एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, 'The raven flew while the dog sat on its tail.' क्या यह सम्भव है? दो तत्वों को एक साथ पाकर हम उन्हें अनायास ही आपस में जोड़ देते हैं। यह पहेली सामान्यतया इस ढंग से रखी जाती है, जिससे इसका यह मतलब निकले कि कुत्ता कौवे की दुम पर बैठा था जबकि वास्तव में दोनों क्रियाएँ एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। एक—कौवा उड़ रहा था, दो—कुत्ता अपनी ही दुम पर बैठा था।

अतः इस तथ्य में आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है कि जब फिल्म का एक टुकड़ा दूसरे टुकड़े के बाद आता है तब दर्शक उससे कोई विशेष निष्कर्ष निकाल लेते हैं।

मैं समझता हूँ कि हमें स्वयं तथ्यों की, उनकी मौलिकता की, अथवा उनकी सामान्यता की आलोचना न करके उनसे निकलने वाले अनुमानों और निष्कर्षों की आलोचना करनी चाहिए। हम इनकी आलोचना करेंगे और उन्हें सुधारने की कोशिश करेंगे।

० ० ०

जब हमने स्वयं इस बात की ओर संकेत किया था कि विवेचन की जाने वाली प्रक्रिया मोंताज को समझने और उसपर अधिकार करने के लिए असंदिग्ध रूप से महत्वपूर्ण है तब हम कहाँ गलती पर थे ? उन दिनों की हमारी उत्साहपूर्ण स्थापनाओं में क्या कुछ गलत और क्या कुछ सही था ?

जो कुछ सही था (और है) वह यह कि मोंताज के दो टुकड़ों की सहस्थिति एक प्रकार का 'उत्पादन' (Product) है, न कि जोड़। ऐसा इसलिए कि दो टुकड़ों को अलग-अलग लेने पर जो प्रभाव हमें मिलता है, दोनों की सहस्थिति से प्राप्त होने वाला निष्कर्ष उससे गुणात्मक रूप से भिन्न होता है। (आप चाहें तो कह सकते हैं कि यह भिन्नता आयाम या शक्ति की होती है।) यदि हम अपने पुराने उदाहरण को लें तो देखते हैं कि स्त्री एक प्रतिरूप (Representation) है, उसका शोक-वस्त्र भी प्रतिरूप है। ये दोनों आब्जेक्टिव रूप से प्रतिरूपित हो सकते हैं। किन्तु इन दोनों प्रतिरूपों की सहस्थिति से उत्पन्न होनेवाला 'विधवा' का प्रत्यय प्रतिरूपित नहीं हो सकता। यह एक नई धारणा है, नया प्रत्यय है, नया बिंब है।

इस विवादरहित प्रक्रिया के हमारे पुराने प्रयोग में गलती क्या थी ?

गलती सहस्थिति की संभावनाओं के अतिमूल्यांकन और सहस्थिति में रखी जाने वाली सामग्री की समस्याओं के अनुसंधान के कम मूल्यांकन में निहित थी।

जल्दीबाजी करके मेरे आलोचकों ने इसे फिल्म के टुकड़ों की वस्तु (content) में रुचि की कमी के रूप में उपस्थित किया। ऐसा उन्होंने इसलिए किया कि किसी समस्या के विशेष क्षेत्रों या पहलुओं में निहित रुचि के अनुसंधान को उन्होंने अनुसंधायक द्वारा उपस्थित किये जाने वाले तथ्यों के प्रति उसके रुख के साथ एक समझ लिया।

इसे मैं उन्हीं के विवेक पर छोड़ता हूँ।

जैसा कि मैं अब अनुभव करता हूँ, उस समय भी मैं इस तथ्य से बहुत अधिक चमत्कृत हुआ था कि फिल्म के टुकड़े, भले ही वे बिलकुल असंबंधित हों, और कभी-

कभी इसके बावजूद भी एक 'तीसरी कुछ चीज' को जन्म देते हैं और जब फिल्म संपादक उन्हें अपनी इच्छानुसार एक साथ जोड़ता है, तब वे आपस में संबधित हो जाते हैं।

इस प्रकार मैं उन संभावनाओं से परिचालित हुआ, जो सामान्य फिल्म संरचना और निर्माण की दशाओं के लिए सहज नहीं थे।

इस प्रकार की सामग्री और प्रक्रिया के प्रयोग ने स्वभावत: मुझे 'सहस्थिति' की क्षमताओं पर विचार करने की दिशा में प्रेरित किया। स्वयं टुकड़ों की प्रकृति के विश्लेषण पर मैंने कम ध्यान दिया और मैंने यदि इस पहलू पर अधिक ध्यान दिया भी होता तो वह पर्याप्त न होता। केवल अलग-अलग टुकड़े की वस्तु पर ध्यान केंद्रित करने की प्रवृत्ति का परिणाम मोंताज के पतन और उससे उत्पन्न होने वाले विवादों के रूप में सामने आया।

तब इन दो अतिवादी प्रवृत्तियों के बीच संतुलन लाने के लिए हमें क्या करना चाहिए था ?

हमें अपना ध्यान उस तत्व पर केन्द्रित करना चाहिये था जो प्रत्येक फ्रेम (चौखटे) की वस्तु और इन वस्तुओं की आपस मे संरचनात्मक सहस्थिति, दोनों का नियामक है। दूसरे शब्दों में हमें अपना ध्यान 'संपूर्ण', 'सामान्य' और एकीकृत करने वाले तत्व पर केंद्रित करना चाहिये था।

एक अतिवाद हमें संरचना की तकनीक की समस्याओं (मोंताज की पद्धतियों) को अत्यधिक महत्व देने की दिशा में ले गया तो दूसरा अतिवाद सरचना के तत्वों (एक शाट की वस्तु) को अत्यधिक महत्व देने की दिशा में।

हमें इस एकीकृत करने वाले तत्व की खास प्रकृति का और अधिक पूर्णता के साथ अध्ययन करना चाहिए था। हमें उस तत्व का अध्ययन करना चाहिए था जो प्रत्येक फिल्म में प्रत्येक अलग-अलग शाट की वस्तु, और उनकी विभिन्न प्रकार की सहस्थितियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली वस्तु, दोनों का समान रूप से नियमन करता है।

किंतु इस कार्य को करने के लिए अनुसंधायकों को उन विरोधी (Paradoxical) उदाहरणों पर अपना ध्यान नहीं केंद्रित करना चाहिये था जिनमें यह संपूर्ण 'सामान्य' और 'अन्तिम' स्वयं अप्रत्याशित रूप से आ जाता है। उन्हें तो उन उदाहरणों पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिये था, जिनमें अलग-अलग टुकड़े आपस में जोड़े जाते हैं, जिनमें 'संपूर्ण', 'सामान्य', और 'अन्तिम' पूर्वनिश्चित रहते हैं और जो फिर स्वयं अपनी सहस्थिति के तत्वों और

पद्धतियों का पूर्व निश्चय करते हैं। इस प्रकार के उदाहरण नार्मल, सामान्य रूप से स्वीकृत और व्यापक होते हैं। यहां 'संपूर्ण' तीसरी कुछ चीज के रूप में सामने आता है; किंतु इस बात की सामान्य तसबीर कि किस प्रकार प्रत्येक शाट और मोंताज या दोनों की वस्तु निर्धारित होती है, इससे स्पष्ट रूप से सामने आ जायगी। ये उदाहरण ही वास्तव में सिनेमैटोग्राफी के खास उदाहरण हैं।

जब मोंताज का निर्माण इस दृष्टिकोण से किया जाता है तब सहस्थिति में रखे जाने वाले शाट सही रूप से संबंधित हो जाते हैं। इससे भी बड़ी बात यह है कि मोंताज की प्रकृति यथार्थवादी फिल्मनिर्माण की कला से अलग नहीं है बल्कि यह फिल्म की वस्तु को यथार्थवादी ढंग से उपस्थित करने का एक अत्यंत संगत एवं व्यावहारिक साधन है।

मोंताज की यह धारणा वास्तव में हमें देती क्या है? इस प्रकार की स्थिति में मोन्ताज का प्रत्येक टुकड़ा कुछ असम्बद्ध चीज नहीं रह जाता बल्कि यह सामान्य थीम का विशेष प्रतिरूप (representation) बन जाता है। यह सामान्य थीम शाट के सभी टुकड़ों में समान रूप से निहित रहती है। किसी विशेष मोंताज-निर्माण में इस प्रकार के विशेष विवरणों की सहस्थिति उसी 'संपूर्ण' और सामान्य' को उत्पन्न करती है जिसने प्रत्येक विवरण अर्थात् सामान्यीकृत बिंब को जन्म दिया है जो लेखक और उसके बाद दर्शक के मन में थीम पुनः सजीव कर देता है।

और यदि हम साथ-साथ रखे गये फिल्म के दो टुकड़ों की अब परीक्षा करें तो हम उनकी सहस्थिति को एक नई रोशनी में देख सकेंगे।

किसी अभिव्यक्त होती हुई थीम के तत्वों में से क और ख टुकड़े को सह-स्थिति में रखा जाय तो उससे एक ऐसा बिंब उत्पन्न होगा जिसमें थीम की वस्तु अपने सर्वाधिक सजीव रूप में उपस्थित होगी।

यदि हम अपने इस पूर्वअनुमान को अधिक संक्षिप्त और सटीक नियम के रूप में व्यक्त करना चाहें तो वह इस प्रकार होगा :

''किसी खुलती हुई थीम के अन्दर की सभी सम्भव विशेषताओं के बीच से प्रतिरूप 'क' और प्रतिरूप 'ख' को इस प्रकार चुना जाना चाहिये जिससे उनकी सहस्थिति (उन्हीं की सहस्थिति, किन्हीं अन्य तत्वों की नहीं) दर्शकों के प्रत्यक्षीकरण और उनकी भावनाओं में स्वयं थीम का यथा सम्भव पूर्णतम बिम्ब उत्पन्न कर सके।

मोंताज सम्बन्धी अपने विवेचन में हमने दो शब्दों प्रतिरूप (Representation) और बिम्ब (Image) का प्रयोग किया है। अपनी समझ के अनुसार इन दोनों के अन्तर को हम कुछ शब्दों में समझाने का प्रयत्न करेंगे।

° ° °

हम एक अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण पर विचार करें। हम औसत आकार के समतल धरातल वाली एक सफेद तश्तरी, जिसकी परिधि को साठ बराबर हिस्सों में विभाजित कर दिया गया हो, लें। प्रत्येक पाँचवें हिस्से को १ से १२ तक के अंकों से अंकित कर दें। तश्तरी के मध्य में धातु की दो लम्बी तीलियाँ जो अपने मुक्तसिरे की ओर क्रमशः पतली होती गई हों, लगा दें। एक तीली तो त्रिज्या जितनी लम्बी हो और दूसरी उससे कुछ छोटी हो। अब हम यह मान लें कि बड़ी तीली का सिरा तो संख्या बारह पर है और छोटी तीली का सिरा १ से क्रमशः घूमता हुआ १२ पर पहुँचता है। यह इस तथ्य के ज्यामितिक प्रतिरूपों का क्रम होगा कि दोनों तीलियाँ क्रमशः ३०, ६०, ९० आदि से लेकर ३६० डिग्री तक के कोण बनाती हैं।

यदि तश्तरी में ऐसा यन्त्र लगा दिया जाय, जिससे ये तीलियाँ समान गति से घूमने लगें तो इसके सतह के ज्यामितिक अंक एक विशेष अर्थ प्राप्त कर लेगें। तब यह केवल प्रतिरूप मात्र न रह जायगी, बल्कि समय का बिम्ब बन जायेगी।

ऐसी स्थिति में प्रतिरूप, और वह बिम्ब जो मन में इससे उत्पन्न होता है, आपस में इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि डायल पर की सूइयों की ज्यामितिक स्थिति को समय के प्रत्यय से पृथक करने के लिये अत्यन्त विशिष्ट परिस्थितियों की आवश्यकता होगी। फिर भी यह बात हम सब के साथ हो सकती है, हालाँकि वह अत्यन्त असामान्य परिस्थितियों में ही होगी।

व्रोन्स्की की उस समय की स्थिति को याद कीजिये जब अन्ना कैरेनिना उसे बतला चुकती है कि वह गर्भवती है। जिस उदाहरण का हम विवेचन कर रहे हैं वह दूसरे भाग में चौदहवें अध्याय के आरम्भ में वर्णित है।

"कैरेनिना के बारामदे में व्रोन्स्की इतना उद्विग्न हो उठा था और विचारों में इतना अधिक डूब गया था कि जब उसने अपनी घड़ी पर निगाह डाली तब उसने सूइयों और डायल को तो देखा, लेकिन समय की अनुभूति न कर सका।"

घड़ी को देख कर उसके मन में समय का बिम्ब न उत्पन्न हो सका। वह सूइयों और डायल के केवल ज्यामितिक प्रतिरूप ही देख सका।

हम देखते हैं कि खगोलीय समय अर्थात् घण्टे के साधारण मामले में भी डायल के ऊपर की प्रतिकृति मात्र पर्याप्त नहीं है, केवल देखना ही काफी नहीं है। केवल ज्यामितिक आकार को न देखकर, यदि हम उस 'समय' के बिम्ब का प्रत्यक्षीकरण करना चाहते हैं जिसमें कोई घटना घट रही हो तो जो कुछ हम देखते हैं उसके

साथ कुछ और बातें भी होनी चाहिए। यहाँ तालस्ताय हमें यह बतलाते हैं कि यदि इस प्रक्रिया का अभाव होता है तो क्या होता है।

यह प्रक्रिया है क्या? डायल पर सूइयों की स्थिति उन बहुत सी अनुभूतियों और स्मृतियों के साथ जुड़ी हुई है, जिनका सम्बन्ध अंक द्वारा संकेतित समय के साथ है। उदाहरण के लिए हम अंक '५' को लें अपनी कल्पना में हम इस अंक को उन अनेक घटनाओं के साथ जोड़ते हैं, जो इस समय घटित होती हैं। चाय, दिन भर के काम की समाप्ति, बसों-गाड़ियों पर भीड़, किताबों की दूकानों का बन्द होना तथा इस समय की विशिष्ट गोधूली वेला। प्रत्येक स्थिति में हमारे मनमें उन घटनाओं के प्रतिरूप-चित्रों की शृंखला स्वतः ही उद्‌भूत हो जाती है जो सायं ५ बजे घटती हैं। ये सब चित्र मिलकर ही हमारे मन में सायं ५ बजे का बिम्ब बनाते हैं।

तो ऐसी यह प्रक्रिया है जो अत्यन्त सूक्ष्म रूप से सम्पन्न होती है। रंगमंच पर भी जब हम दिन और रात के विभिन्न कालखंडों से सम्बद्ध अंकों के बिम्बों का अर्थग्रहण करते हैं तब भी यह प्रक्रिया लागू होती है।

इसके बाद मानसिक शक्ति की मितव्ययिता को शासित करने वाले नियम क्रियाशील हो उठते हैं। यह प्रक्रिया सघनीकृत होने लगती है। शृङ्खला की मध्यवर्ती कड़ियाँ अलग हो जाती हैं और अंक तथा उससे संबंधित कालखंडों के हमारे प्रत्यक्षीकरण के बीच एक तात्कालिक और प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो जाता है। व्रोन्स्की के उदाहरण से हमें ज्ञात होता है कि तीव्र मानसिक अस्त व्यस्तता के कारण यह संबंध टूट भी सकता है और तब प्रतिरूप तथा बिंब दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र होकर अपना अलग अलग अस्तित्व रखने लगते हैं।

बिम्ब के जिस जन्म का अभी हमने वर्णन किया उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया के साथ हमारा सम्बंध है। बिम्ब के जन्म की प्रक्रिया (mechanism) के साथ हमारा सम्बन्ध इसलिये है कि वास्तविक जीवन में भी ऐसी ही प्रक्रिया क्रियाशील रहती है जो कला में बिंबों के सृजन की पद्धति के लिए आधार बनती है।

●

आधुनिक नृत्यबोध

कैथेराइन डनहम

दिक् और गुरुत्वाकर्षण पर विजय प्राप्त करने की चुनौती जीवजगत् में विकास-क्रम के जटिलतर सोपान पर पहुँचे हुए प्राणियों की सहजात विशेषता सी प्रतीत होती है। अक्सर यह चुनौती एक सौष्ठवपूर्ण अभिव्यक्ति बन जाती है, जिसमें रूप और ताल समन्वित होते हैं। चौपायों के बच्चों का दौड़ना, उछलना, कूदना, कुलाँचे भरना, चिड़ियों के नृत्य-गीत का जटिल पैटर्न, हाथियों के झुण्ड की मौसमी केलि-क्रीड़ा---ये सभी लयात्मक गति और संयोजित पैटर्न की गहरी प्रेरणा के उदाहरण हैं। मानो प्रकृति के साथ आंगिक संबंध स्थापित करने की चेष्टा के फलस्वरूप ही नृत्य की शिथिल परिभाषा 'लयात्मक गति' प्रागैतिहासिक काल से आजतक मानव के भौतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक संगठनात्मक परिवर्तन के विभिन्न दौरों से गुजरकर भी बनी चली आ रही है।

परिभाषा करने का अर्थ बहुधा बिना किसी शर्त के सीमा बाँध देना है और गहराई में स्थित आधारभूत आंतरिक स्रोतों, अनुभूतियों और आदिम पैटर्नों की परिभाषा करने की कोशिश सच पूछिये तो बिलकुल बेकार सी है। 'लयात्मक गति' नृत्य के लिए यह परिभाषा बहुत अधूरी सी लगती है, जबतक इसमें ध्वनियों के अनुभवों का एक रूप, अनुभूतियाँ, और कामनाएँ स्वतः ही सम्मिलित न मान ली जायँ। परिभाषा खोजते-खोजते एक बार मैं इस नतीजे पर पहुँची : नृत्य एक या अनेक कारणों से लयात्मक गति है : सामाजिक संश्लेषण, मनोवैज्ञानिक या शरीर-शास्त्रीय चेतना, प्रदर्शनात्मकता, आत्मसम्मोहन, आनंद, भावोन्माद, यौनचयन, क्रीड़ा-मनोरंजन, कलात्मक मूल्यों का विकास, आक्रामक या अनाक्रामक क्रिया की उत्तेजना, सामाजिक पैटर्न की स्वीकृति या अभिवृद्धि तथा अन्य। मैं अनुभव करती हूँ, यह विवरण परिभाषा की बजाय वर्णन के अधिक निकट है। ऐसा तब अक्सर हो उठता है, जब आपस में गुंथी हुई विशेषताओं के एक खास विस्तार के कारण समस्या का हल अतिसरलीकरण या अतिजटिलीकरण के अलावा और कुछ नहीं रह जाता। शब्दीकरण का अंत बंध्यत्व में होता है और किसी कलात्मक सृष्टि के अधिकांश से संबंध रखने वाली सौंदर्यानुभूति का वर्णन करने की जब चेष्टा की जाती है तो पीड़ाजनक सरलता के कारण प्रयत्न असफल सा हो जाता है। (इस समय मैं भी दूसरे अनेक कलाकारों की भाँति अपने को इस संकट में पाती हूँ और शब्द बाहुल्य

द्वारा एक ऐसी अनुभूति की व्याख्या करने का प्रयत्न कर रही हूँ, जिसकी जड़ें मानव की व्यक्तिगत सामाजिक अखंडता की शक्तियों की कुंजी हो सकती हैं।)

नृत्य की सार्वजनीनता, इतिहासकारों, दार्शनिकों, चित्रकारों, शिल्पियों आदि द्वारा तो प्राचीन काल से ही स्वीकृत होती चली आयी है, लेकिन अभी हाल में ही इसमें नृशास्त्री, मानसशास्त्री और शरीरशास्त्री भी गहरी रुचि लेने लगे हैं। हाल के ही कुछ वर्षों से अभिव्यक्ति के इस रूप के प्रति न केवल मनोरंजनात्मक और रंग-मंचीय दृष्टि से बल्कि इसमें निहित सांस्कृतिक तत्वों के परीक्षण तथा समाजशास्त्रीय, जीवशास्त्रीय एवं मानसशास्त्रीय दृष्टि से इसके रूपों और महत्व के तुलनात्मक बिश्लेषण के दृष्टिकोण से भी लोगों के मन में गहरी अभिरुचि विकसित होने लगी है। किंतु चूँकि नृत्य का सांस्कृतिक महत्व आज मुख्यतः लोकगाथात्मक रंगमंच, कैमरे द्वारा उसके सौंदर्यदोहन और यात्रागाथाओं के निरंतर बढ़ते हुए साहित्य द्वारा प्रकाश में आ रहा है, आधुनिक समाज में एक ऐसे झगड़े का जन्म हो गया, जिसका अंत नृत्य को कला और विज्ञान के बीच तथा अभिव्यक्ति और मनोरंजन के बीच की दुविधापूर्ण स्थिति में रखकर ही हो सका। मुझे तो यह द्वैधता बेकार सी लगती है, क्योंकि कला और वैज्ञानिक अन्वेषण के मार्ग बहुधा एक दूसरे से होकर गुजरते हैं या एकीकृत हो जाते हैं, अतः झगड़े की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती। आदिवासी समाजों में व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन के दोनों पहलुओं में नृत्य क्रियात्मक तत्व के रूप में स्वीकृत है और इसी कारण वहाँ वर्गीकरण का संघर्ष पैदा ही नहीं होता। लोकगाथात्मक या आदिमयुगीन स्थिति में रहने वाले लोगों की भावदशाएँ, दमित भावनाएँ, चुनौतियाँ, पीड़ाएँ और आनंद अब भी कर्मकांडीय नृत्य द्वारा ही व्यक्त होते हैं और आवश्यकतानुसार नियंत्रित, मुक्त या किसी विशेष धारा में प्रवाहित होते हैं। सामुदायिक अभिव्यक्ति के रूप में नृत्य का सावधानीपूर्वक निरीक्षण करके ही मनोविज्ञान, दर्शन और सांस्कृतिक पैटर्न के संबध में अनेक उपयोगी सिद्धांतकल्प प्राप्त किये जा सकते हैं।

मानव की कामनाएँ दो दिशाओं में घूमती प्रतीत होती हैं—एक तो सैंकड़ों सहस्राब्दियों पीछे, अँधेरे युग की गहरी आदिम भावनाओं के खिचाव की ओर और दूसरे उच्चतर समन्वय तथा अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण अस्तित्व की ओर। पूर्णता की यह कामना उसे ईश्वर की कल्पना की ओर ले जाती है; और ले जाती है प्रकृति की ओर, प्रत्येक व्यक्ति में निहित अनेक व्यक्तित्वों के एकीकरण की ओर, शिवभावना की खोज की ओर, सीधे-सादे शब्दों में यह उसे अदृष्ट प्रकाश की ओर ले जाती है। पर यह सब कुछ निर्भर है व्यक्ति के चरित्र और उस सांस्कृतिक परिवेश के प्रकार पर, जिसमें वह अपने को पाता है तथा उन अनेक तत्वों पर, जिन्हें मनोवैज्ञानिक या शरीर-

शास्त्री अबतक ढूंढ नहीं पाये हैं। जब इस एकीकरण की कुछ मात्रा व्यक्ति उपलब्ध कर लेता है, तब कुछ अंशों तक एक प्रकार की बेचैनी से छुटकारा ही उसका पुरस्कार होता है।

चूंकि हमारे अपने औद्योगीकृत समुदायों में बेचैनी की बढ़ती के पूरे प्रमाण मौजूद हैं, यह बिल्कुल समयोचित और अत्यंत रुचिकर कार्य होगा कि आदिम या लोक-दशा में अब भी रहने वाले समुदायों का निरीक्षण कर हम यह देखें कि नृत्य कितनी दूर तक समन्वयात्मक तत्व के रूप में क्रियाशील है, कितनी दूर तक लयात्मक गतियाँ व्यक्ति और समुदाय के जीवन में गहरे उतरती हैं और समतुल्यता को प्रभावित, सन्तुलन की रक्षा और संवेगों का मार्गीकरण करती हैं। हमें अपनी रुचि आदिम या लोक कहलाने वाले समुदायों तक ही सीमित कर देने की आवश्यकता नहीं है। अंग-संचालन की लयात्मक गतियों के कारण आधुनिक समुदाय भी हमारे निरीक्षण के पात्र बन जाते हैं। सभ्यीकरण की बारीकियों और संस्कारों को आत्मसात करने की प्रक्रिया में हम न जाने कैसे इस निर्णय पर पहुँच गये कि जिन मानदंडों से अब भी आदिम या लोकदशा में रहने वाले समुदायों का मूल्यांकन किया जाता है, उनसे हमारा अपना मूल्यांकन होना उचित नहीं। स्पष्ट ही यह बिल्कुल गलत धारणा है और यदि हम विकासोद्‌गम तथा संस्कृतीकरण के दृष्टिकोण से देखें तो आधुनिक जीवन की अनेक जटिल समस्याएँ कम दुर्भाग्यपूर्ण लगेंगी तथा उनके हल किये जा सकने की अधिक संभावनाएँ नजर आयेंगी। आधुनिक समाज में नृत्य बालरूम की स्थितियों और रंगशाला या मनोरंजन तक ही सीमित होकर रह गया है। विश्लेषण में नृत्य में भाग लेने वाली जनता अर्थात् दर्शकों की अभिरुचि का बहुत महत्व है। यदि हम अधिक औद्योगीकृत महानगरों में सामाजिक नृत्यों के प्रति जनता की अभिरुचि का परीक्षण करें तो पिछली शताब्दी में तेजी से बदलते हुए नैतिकता, विश्वास, अर्थरचना और लोकाचार के साथ-साथ एक निश्चित पैटर्न का विकास हम देख सकेंगे।

औसत महानगरों की लय ऐसी नहीं है जिससे समन्वय का विकास हो सके, बल्कि ठीक इसका उलटा है। या शायद अभी भी हम धरती के गर्भाशय की गतियों से भ्रूण की भांति इतने बँधे हुए हैं कि अपनी जीवनशैली के कारण निरंतर बढ़ती हुई विरोधात्मक स्थितियों का जो भार हम पर लदता जा रहा है, उसके साथ हम सामंजस्य नहीं बैठा पा रहे हैं। हमारे कदम बेतरतीब पड़ते हैं, हमारी अंगस्थितियों और आकृतियों में संतुलन नहीं रह गया है और जिस वायुमण्डल में हम साँस लेते हैं उसके साथ अपनी भावना को हम एकात्म नहीं कर पाते। मानवनिर्मित असंख्य मशीनों और संस्थाओं तथा भय, चिंता एवं आस्थाहीनता से उत्पन्न होने

वाली अन्तर्विरोधिनी गतियाँ और लय हम पर छाती जा रही हैं। स्वयं मानवशरीर की विविध लय, हृदय की धड़कन, श्वासप्रक्रिया की गतियाँ, मस्तिष्ककेंद्रों से उत्सर्जित कोमल लहरियाँ, रक्तप्रवाह और माँसपेशियों के अचेतन संचालन औद्योगिक युग के परिणाम—विसंगति और स्वरों की कर्कशता के साथ लगातार प्रतियोगिता करते रहते हैं। आधुनिक मानव का सामाजिक नृत्य—जो रंगमंच के अलावा सांस्कृतिक रिक्थ के रूप में नृत्य का एक मात्र चिह्न रह गया है. औद्योगिकक्रान्ति के ठीक पहले प्रवर्तित होने वाले महान् वाल्जयुग के साथ ही बढ़ती हुई न्यूरेस्थेनिया-समन्वयात्मक प्रवृत्ति का क्रमिक ह्रास उस आधारभूत विसंगति को व्यक्त करने लगा जिसमें आज हम अपने को पाते हैं।

इस बात के प्रभूत प्राणिशास्त्रीय प्रमाण हैं कि प्रत्येक प्राणीभूत में एक प्रकार का आधारभूत व्यवस्थाक्रम विद्यमान रहता है। उसमें एक ऐसी गति रहती है जो अस्तव्यस्त या रूपहीन नहीं होती : उसमें जीवन का एक ऐसा पैटर्न होता है जिसकी गति-संयोजना कलाचार्यों द्वारा निर्मित श्रेष्ठ नृत्य-नाट्यों से भी कहीं अधिक सावधानीपूर्वक की गई होती है। इस क्रम-व्यवस्था के दृश्यप्रमाणों-प्रतिरूपों की खोज में दार्शनिक, वैज्ञानिक और सर्जनशील कलाकार सदा से रत रहे हैं और सौभाग्यवश अब भी लगे हुए हैं। इस खोज में दिशापरिवर्तन की स्पष्ट और आरंभिक शर्त यह है कि हम उन समुदायों का अध्ययन करें जो आपेक्षिक रूप से औद्योगिकीकरण की जटिलताओं से मुक्त स्थिति में भी अब भी रह रहे हैं।

सचेतन क्रियाओं से उत्पन्न गतियों और ध्वनियों के अतिरिक्त तात्विकरूप का एक और अधिक अगम्य रूप भी है। दैनिक जीवन की अनेक आकस्मिक स्थितियों—मुर्गों की लड़ाई देखनेवाली भीड़ की गतियों और ध्वनियों में, चौरस्तों या बाजारों में अचेतन रूप से लोगों के बन जाने वाले शिल्पसौंदर्यमण्डित झुण्डों में, फेरीवालों की पुकारों में, और समुद्रतट पर बोझा ढोने वाले मजदूरों की अर्धनृत्यात्मक गतियों में इस लय का दर्शन किया जा सकता है। समाज के सुसंस्कृत लोग तो अब शारीरिक रूप से नृत्य में केवल पार्टियों, नाइटक्लबों या कार्निवल में ही भाग ले पाते है। जनसमुदाय का अधिकांश, जिनमें किसान मजदूर, और कच्ची सड़क के किनारों के छोटे-छोटे दुकानदार भी शामिल हैं, अपनी जीवानुभूतियों, अपने संवेगों, अनुभवों, उल्लासों-पीड़ाओं में ही नृत्य की गति को ढूंढ आनंद ले लेता है। इस प्रकार अपने में ही नृत्य की गति ढूंढ लेने से जीवन सहनीय हो जाता है।

किसी भी समुदाय के संवेगात्मक जीवन को उसके कलारूपों में आसानी से पढ़ा जा सकता है। और चूंकि नृत्यकला जीवन के क्षणों को निरंतर दिक्, काल

और गति के समन्वित रूप में पकड़ने की कोशिश करती रहती है, किसी भी युग के सांस्कृतिक पैटर्न का पता लगाने के लिए इसे हम खरा इतिहासकार मान सकते हैं।

चेतन और अचेतन मन के बीच लगातार चलते रहने वाली लुकाछिपी की लीला भौतिक रूप में अपनी अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम आधार मानवशरीर में पाती है जो सब कुछ को एक साथ ही स्वीकार कर सकता है। चाहे अकेले या सामूहिक रूप से मानव जब नृत्यरत होता है तो उसके विविध व्यक्तित्व भी एक साथ नृत्य करने लगते हैं। और उसका नृत्य तथा उसके संवेग इतनी स्पष्टता से सम्प्रेषित होने लगते हैं मानों ये किसी सार्वजनीन भाषा में लिखे या बोले गए हों।

किसी आदमी के व्यक्तित्वकी विशिष्टताओं के मानदण्ड या नियंत्रकतत्व के रूप में लयों और गतियों में अनुसंधान का क्षेत्र प्राय: असीमित रूप से फैला हुआ है। सामुदायिक विशिष्टताओं और सांस्कृतिक पैटर्न के रूप में नृत्य का कुछ अध्ययन हुआ तो है लेकिन वह भी बिखरे हुए सतही दस्तावेजों के रूप में है, उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

●

शिल्पकला का आधुनिकीकरण

जोशे दे क्रीफ्ट

आप जितनी भी चीजों के बारे में बहस करते हैं, उनमें से प्रत्येक को एक सिर और एक पूँछ होती है। कुछ लोग सिर पकड़ते हैं और कुछ लोग पूँछ। अधिकांश लोग शरीर को तो भूल ही जाते हैं। कला के बारे में बातें करते समय भी यही घटना घटती है। कला की व्याख्या नहीं की जा सकती। कैसे की जा सकती है, जबकि यह मनुष्यों में अव्याख्येय भावनाएँ जगाती है। आप अपने विचारों के बारे में बहस कर सकते हैं, अपने तरीकों के बारे में बहस कर सकते हैं, अपनी पहुँच के बारे में बहस कर सकते हैं। लेकिन जिस कला की आप सृष्टि करते हैं, उसे तो बस देखा जा सकता है। कला अपने लिए स्वयं बोलती है।

शिल्प मेरे लिए क्या है ?

यह मेरी प्रीति, मेरे दर्शन और मेरे विचारों की सामग्री में अभिव्यक्ति है। मैं प्लास्टिक रूपों का उपयोग उसी प्रकार करता हूँ, जिस प्रकार लेखक शब्दों का करता है। छेनी और हथौड़े से निर्मित रूप में मेरी भावनाएँ मुक्ति पाती हैं। मैं किसी कलाकृति के निर्माण की भावना लेकर कार्यारम्भ नहीं करता, हालाँकि मुझे आंतरिक आशा और पूरा विश्वास रहता है कि इसे कलात्मक मूल्य प्राप्त होगा। मैं सामग्री पर इसलिए कार्य करता हूँ कि उसका सर्वोत्तम प्राप्त कर सकूँ।

शिल्पी बनने के लिए आदमी में सामग्री और शारीरिक श्रम के प्रति प्रेम होना चाहिये। आप सामग्री के साथ जितना अधिक काम करते हैं, आपकी मित्रता उसके साथ उतनी ही बढ़ती है। यदि आप पत्थरों को पसन्द करते हैं और उन्हें गढ़ते हैं तो किसी भी पत्थर में आपको रूपों की असीम संभावनाएं नजर आयेंगी।

शिल्पी के लिए पत्थर मोहक होते हैं। पत्थर जितने अधिक ऊबड़-खाबड़ और टेढ़े मेढ़े होते हैं उनकी मोहकता उतनी ही अधिक होती है। किसी पत्थर के गोदाम में पड़ा हुआ आयताकार पत्थर का टुकड़ा आपसे कुछ नहीं कहेगा। हाँ यदि आपके मन में कोई स्थिर, पूर्वनिश्चित, विचार है जिसे व्यक्त करने के लिये किसी खास किस्म के संगमर्मर या ग्रेनाइट की जरूरत है तो बात दूसरी है। लेकिन मेरे साथ यह बात बहुत कम होती है। मैं जिस धारणा को लेकर काम शुरू करता हूँ वह कभी कठोर या अनमनीय नहीं होती........मैं पत्थर के किसी टुकड़े को देखता हूँ और मेरे मन में उसे गढ़ने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है....जैसे जैसे मैं काम करता जाता हूँ वैसे-वैसे

मेरे विचारों का विकास होता जाता है, और जबतक सामग्री है तब तक परिवर्तन करने की गुंजाइश भी है। मैं न तो पत्थर का गुलाम हूँ और न मैक्विटी का उपयोग करता हूँ।

मैक्विटी किसी प्रतिमा को अभिप्रेत बड़े आकार में अन्तिम रूप से तैयार करने के पूर्व वस्तु अथवा व्यक्ति का लघुप्रतिमा के रूप में अध्ययन है। इसका प्रयोग असंदिग्ध रूप से उतना ही प्राचीन है जितनी स्वयं शिल्पकला। फिर भी सम्भवतः संसार की अधिकांश निम्नकोटि की शिल्पकृतियों के लिये यही उत्तरदायी है। यदि आप प्रत्येक शब्द या तूलिका-स्पर्श को उसके लघु आकार से बड़े आकार में दुहराते चलें तो निश्चय ही कहीं न कहीं आवश्यक संवेगों को आप खो बैठेंगे। इस प्रकार आप अन्तिम कलाकृति पर एक ऐसा बाह्य आकार लाद देते हैं जिसका जन्म उसके स्वाभाविक गुणों से नहीं हुआ है। लेकिन यदि आप मैक्विटी का प्रयोग केवल सामान्य आधार के रूप में करें और अपने वास्तविक निर्माण में पूरी स्वतंत्रता से काम लें तो बात दूसरी है। अन्यथा आप कारीगर मात्र बनकर रह जायेंगे जिसका काम दिन भर परिश्रम करना है। इस प्रकार के काम का कैसा परिणाम हो सकता है इसकी हम आसानी से कल्पना कर सकते हैं।

सामग्री के सीधे उपयोग के प्रति दिनोंदिन रुचि बढ़ती जा रही है। इस सिद्धांत का समर्थन और प्रयोग मैं पिछले पचास वर्षों से, जबसे मैंने गढ़ने का काम शुरू किया, करता आ रहा हूँ। जब मैंने अपना काम आरम्भ किया था तब लोगों में ऐसी प्रवृत्ति नहीं के बराबर थी। उन दिनों हर चीज का माडल मिट्टी या प्लास्टिसिन से बनाया जाता था और तब कारीगरों द्वारा चलाये जाने वाले व्यापारिक स्टूडियो में पत्थर या कांसे में ढाल दिया जाता था। मैंने स्वयं कुछ वर्ष मैसन ग्रेवर नाम के पेरिस-स्थित एक ऐसे ही स्टूडियो में गुजारे हैं। वहाँ मैं केवल प्रक्रिया सीखने के उद्देश्य से गया था। किंतु सीधेगढ़ने में मेरी रुचि और मेरा विश्वास इससे भी पुराना है। जब मैं सोलह वर्ष का था तो मैड्रिड के निकट एस्कीमो लोगों के एक जत्थे ने अपना तम्बू गाड़ा। उनकी प्रदर्शनी में मैंने गढ़नेवालों का एक समूह देखा जो हाथी-दांत की मूर्तियाँ और अलंकरण बनाते थे। उस समय मुझे भी गढ़ने का थोडा सा अनुभव था क्योंकि तेरह वर्ष की अवस्था में मैंने अपना कुछ समय स्पेन के चर्च के लिए धार्मिक प्रतिमाएँ बनाने वाले एक मूर्तिकार के शागिर्द के रूप में गुजारा था। यह अनुभव मेरे लिये असंतोषजनक था क्योंकि इन प्रतिमाओं में कल्पना का उपयोग बहुत कम होता था और ज्यादातर ये सत्रहवीं शताब्दी की प्रतिकृतियाँ हुआ करती थीं। किंतु इन एस्कीमो लोगों ने अपनी सादगी और सीधी अभिव्यक्ति से मुझे बहुत प्रभावित किया। हाथीदांत के छोटे-छोटे तुच्छ टुकड़ों से ये स्मरणीय महान शिल्प-

कृतियों का निर्माण करते थे। यद्यपि ये शिल्पकृतियां काफी छोटी होती थीं फिर भी इनमें शक्ति, बल, और शान्ति होती थी। उस समय से हमेशा के लिए मेरी रुचि ऐसी शिल्पकृतियों में हो गयी जिनका निर्माण इसी प्रकार सीधे ढंग से होता था।

बाद में, उन्नीस वर्ष की अवस्था में जब मैं अपनी कला सीखने पेरिस गया तो मैंने देखा कि वहाँ हरेक आदमी मिट्टी या प्लास्टिसिन में काम कर रहा है। मुझे तो ये पदार्थ हमेशा से मूलतः मृत प्रतीत होते रहे हैं। मिट्टी की अपनी कोई इच्छा नहीं, कोई अवरोध नहीं। यह एक ऐसे आदमी की तरह है जो हमेशा हाँ-हाँ कहता है। इसमें पराजित करने को कुछ भी नहीं रहता। मिट्टी कोमल होती है और आपकी इच्छानुसार बहुत जल्दी मुड़ जाती है। मिट्टी का काम करते समय आप इतनी शीघ्रता से सृजन करते हैं कि अपने विचार को पूर्णता प्रदान करने के पूर्व ही आपको अपना संवेग समाप्त कर देना पड़ता है। मिट्टी में पत्थर, धातु, या लकड़ी की भाँति आंतरिक साहस नहीं है। माडलकृत रूप में यदि कोई सजीव चीज है तो वह उसका आर्मेचर है जिसे आप तैयार करते हैं। विद्यालयों में माडल बनाने के अभ्यास से एक लाभ यह होता है कि इससे विद्यार्थियों में प्रकृति के रूपों के प्रति अधिक सजगता का विकास होता है। लेकिन इस बात को हमेशा याद रखना चाहिये कि माडल बनाने की प्रक्रिया गढ़ने की प्रक्रिया से बिल्कुल उलटी है।

व्युत्पत्तिशास्त्र के दृष्टिकोण से स्कल्पचर का अर्थ है मनुष्य के हाथों द्वारा गढ़ी गई कोई चीज। आज इस शब्द का प्रयोग ढीले-ढाले रूप से तमाम चीजों के लिए किया जाता है जो स्थानगत रूपों में कलाकार की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं। ऐसी बहुत सी चीजों के लिए 'शिल्पकृति' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिन्हें मैं इस नाम के उपयुक्त नहीं समझता। लेकिन ऐसी दूसरी चीजें हैं जिन्हें हमें इस शब्द की सीमा में स्वीकार करना पड़ेगा।

किसी भी स्थिति में प्रश्न यह है कि इसे कौन कर रहा है? यदि आप संगीतज्ञ नहीं हैं फिर भी कैसीरोल्स तथा लकड़ी की खपाचियों से संगीत उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं तो आप केवल शोरगुल की अर्थहीन ध्वनियाँ ही उत्पन्न कर पायेंगे। वास्तविक संगीतज्ञ इन्हीं उपकरणों से आनन्ददायक ध्वनियाँ उत्पन्न कर सकता है। एक पुरानी कहावत है कि सच्चा शिल्पी केवल छेनी और हथौड़ी मात्र से उत्कृष्ट कलाकृतियों का निर्माण कर सकता है। आधुनिक शिल्पी के सामने सैकड़ों प्रकार की सामग्रियाँ हैं और इन्हें समझने तथा इनसे प्रेम करने वाले आदमी के लिए इनमें से प्रत्येक अपनी खास विशिष्टता और सौन्दर्य से युक्त है। वास्तव में महत्वपूर्ण यह नहीं है कि सामग्री क्या है, महत्वपूर्ण आपकी अभिव्यंजना है। किंतु शिल्पकारिता

के दृष्टिकोण से किसी सामग्री के प्रति घनिष्ठ परिचय और प्रेम बिना कलासर्जन संभव नहीं।

आज के शिल्पी के लिए जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण और कठिन निर्णय करना है वह यह कि अपने व्यक्तित्व और विचारों के अनुरूप ढल सकने वाली सामग्री का चुनाव वह कैसे करे। वह एक सामग्री का प्रयोग कर सकता है या कई को एक में मिला सकता है। वह सोलो की सर्जना कर सकता है अथवा सिम्फनी की। सभी द्वार उन्मुक्त हैं........यह व्यक्ति के ऊपर निर्भर है।

यद्यपि मैंने अपनी अधिकांश कृतियों का निर्माण पत्थर या लकड़ी को प्रत्यक्षरूप से गढ़ कर किया है फिर भी मैंने प्रायः अन्य सभी उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग और उनके साथ प्रयोग भी किया है। विशेषरूप से पीटे गए शीशे, तांबे, टिन और धातु की बनी हुई सामग्रियों का। उदाहरणार्थ सन् १९२५ में स्टोव की पाइपों, तेल के डब्बों, सायकिल की ट्यूबों, इनसुलेशन किये गये तार के टुकड़ों तथा और भी अनेक तरह की अजीबोगरीब चीजों का उपयोग मैंने अपनी पिकाडोर नामक कलाकृति के निर्माण में किया था। इस कृति का निर्माण सांड़ों के अखाड़े के उन जेन्डर्मियों के अभिमान को व्यक्त करने के लिए किया गया था जो अर्धमृत बलिदानी घोड़ों पर शान से दौड़ते थे। सवार अपने हाथ में पर्दे के छड़ का भाला लिये था और सींगों से फटे हुए घोड़े के पेट में से ट्यूब और तार निकल पड़े थे। इस पिकाडोर को जब पेरिस में प्रदर्शित किया गया तब इस पर काफी आलोचनाएँ हुई। अधिकांश आलोचना का विषय इसकी रचना में प्रयुक्त सामग्री की वैधता थी। किंतु पिकाडोर की रचना तो अपनी सामग्री से अभिन्न थी। इस सामग्री के अभाव में तो इस कृति का निर्माण ही संभव न था। अपने उत्साह में मैंने इस प्रकार की और भी कई कृतियों का निर्माण किया जिनमें मातृत्व और आस्टिय नामक कृतियाँ भी है। यह एक प्रकार की आतिशबाजी का प्रदर्शन था जिसके द्वारा अर्थों की अभिव्यक्ति की गई थी।

मैंने इस दिशा में अपना प्रयास जारी रखा होता यदि माजोर्का द्वीप की एक गढ़ी के लिए दो सौ कलाकृतियों के गढ़ने का आमन्त्रण मैंने स्वीकार न कर लिया होता। वहीं के देशी पत्थरों को सीधे गढ़ते हुए इस काम में जो अठारह महीने मैंने गुजारे उनमें मेरी यह धारणा और भी पक्की हुई कि सामग्री पर सीधे काम करना ही वास्तविक सर्जनात्मक कला है और पत्थर तथा लकड़ी ही ऐसी सामग्री है जो मुझे स्थायित्व और स्मारकता की वे संभावनाएँ प्रदान कर सकती है जिन्हें मैं हमेशा खोजता रहा हूँ। मैं प्रयोग करता हूँ........लेकिन हमेशा लौटकर इन्हीं दो सामग्रियों के पास आना पड़ता है जो बिना मैक्विटी के सीधे गढ़न की अपेक्षा रखती हैं—

संभवतः अपनी प्राकृतिकता, सादगी और उस आन्तरिक शक्ति के कारण जिसकी मैं पहले ही चर्चा कर चुका हूं।

मेरा यह इरादा कतई नहीं है कि मैं शिल्पी की सामग्रियों को सीमित कर दूं; लेकिन फिर भी मैं एक बात बतला देना चाहता हूँ कि मेरी निगाह में वह एक अजीब किस्म का कलाकार होगा जो अपने बारे में, अपनी जिंदगी, अपनी कला के बारे में इतने तुच्छ ख्याल रखे कि वह ऐसी सामग्रियों को लेकर रचना करे जिनमें वास्तविक स्थायित्व की जरा भी आशा नहीं। प्रयोग ठीक है.........लेकिन इसका उद्देश्य भी तो कुछ ऐसी चीज पाना है जो पाने के योग्य हो, रखने लायक हो।

शिल्पकला की सर्जना स्थायी सामग्रियों में करने में समय लगता है और सामग्री के उपयुक्त दक्षता प्राप्त करने के लिए वर्षों के अनुभव और साधना की जरूरत पड़ती है। स्थायित्व तक पहुँचने का कोई संक्षिप्त रास्ता नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे समन्वय-एकता की जगह कोई दूसरी चीज नहीं ले सकती। मात्रा में बहुत अधिक रचने की लालसा खतरनाक है क्योंकि इससे आप उस आनंद से वंचित हो जाते हैं जो अपने विचारों और सामग्रियों के प्रति मैत्री रखने से आपको प्राप्त होता है। सामग्रियों में ऐसे गुण होते हैं जो बोलते हैं। आप उन्हें सुन सकते हैं यदि सुनने की परवाह करें।

मुझे महसूस होता है कि पत्थर पर वायुहथौड़े के उपयोग से मेरी विचारधारा बाधित होती है। एकबार जब मैं एक म्यूजियम में शिल्पनिर्माण का प्रदर्शन कर रहा था तो मुझ पर आरोप किया गया कि मैं आदिमकालीन औजारों का उपयोग करता हूँ। उस समय मैंने अपने आलोचक को समझाया कि मशीन का उपयोग करने पर मशीन की गति और उसका शोर मेरे और पत्थर के बीच दीवार बन जाता हैं। मैं अपने विचारों को सुनना चाहता हूँ और यह भी सुनना चाहता हूं कि पत्थर मुझसे क्या कहता है। इससे भी बढ़कर मैं पत्थर को चाहता हूँ नहीं तो मैं उसे गढ़ता ही क्यों ? मशीन का आविष्कार समय और श्रम की मितव्यिता के लिए हुआ है। कलाकार को धीरे-धीरे ही चलने दें, वह समय और श्रम बिना परवाह के खर्च करे।

शिल्पकला का सृजन त्रिआयामात्मक रूप में स्थान में होता है। मेरे विचार से इस उद्देश्य तक पहुँचने के लिए सबसे आधारभूत सिद्धान्त पिंडाकार और सतह किनारों (कांट्यूर) का उपयोग करना है। मैं इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता कि शिल्प कोई यांत्रिक खिलौना है, इंजिनियरिंग का कोई कौशल है, अथवा किसी सामग्री में स्थानों का एक क्रम है। यह वह रूप है जिसे स्वयं सामग्री को ही आपने प्रदान किया है।

मेरे इस तर्क को उलटने की कोशिश भी की जाती है। स्थानात्मक रूपों को सामग्री द्वारा व्यक्त करने की कोशिश की जाती है। मैं उन प्रयोगों के विरुद्ध नहीं हूँ जो शिल्पकला के क्षेत्र को विस्तृत कर सकते हैं। फिर भी मैं यह महसूस करता हूँ कि कला को अपने रूपों द्वारा ही संवेगात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न करना चाहिए। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि स्थान की भावना संवेगात्मक होने के बजाय बौद्धिक अधिक है। रीता स्थान हमेशा वही रहता है, असीम रूप से परिवर्तनशील ....आकार और सतह किनारे में, कठोरता या कोमलता में, प्रकाशग्रहण करने के तरीकों में, रंगों में............, उन सारी चीजों में जो हमें संवेगात्मक और संवेदनात्मक रूप से अपने प्रति सजग करती हैं। रीतास्थान ऊब पैदा करने वाला होता है किन्तु जैसा कि मैं एक सच्ची शिल्पकृति के संबंध में अनुभव करता हूँ, सामग्री को दुलराया जा सकता है, उसे महसूस किया जा सकता है और उसे प्यार किया जा सकता है। स्थान को रूपायित करने के प्रयत्नों में भी यह सामग्री ही है जो हमारा ध्यान अपनी ओर खींचती है और जिसे हम उसके अपने गुणों के कारण पसंद करते हैं।

क्या मुझे दुहराने की इजाजत है कि शिल्पकृति वह रूप है जिसे आप सामग्री को प्रदान करते हैं, वह एक ऐसी वस्तु है जिसे हर ओर से, प्रत्येक परिप्रेक्ष्य से देखा, छुआ, और समझा जा सकता है। अपने समन्वित रूप में शिल्पकृति का आधार ऐसा होना चाहिए कि उससे कुंडलाकार गति पैदा हो सके..........कि सतह घुमावों के द्वारा ऐसा सातत्य व्यंजित हो जो निरंतर अंतर्धान और व्यक्त होता रहे, जिससे दर्शक यह अनुभव कर सके कि शिल्पकृति पूर्णरूप से स्थान में अवस्थित है। जब यह सतह–घुमाव सफल होता है (संभवतः इसका अस्तित्व केवल आकार के संदर्भ में ही रह सकता है) तभी दर्शक चाहे जिस कोण से देखे यह अनुभव कर सकेगा कि इस कृति का अस्तित्व गोलाई में है, स्थान के सभी ओर है। आकारों के रूप में पिंडों की अर्थवत्ता, स्थान में उनकी सजीवता तथा एकत्व की भावना व्यंजित करने के तरीकों पर निर्भर है।

सीधे गढ़ने का अर्थ है कि सामग्री में छिपे हुए जिन रूपों को कलाकार ने देखा है उन्हें मुक्ति प्रदान कर सृजन करे। बल्कि यह कहना ज्यादा अच्छा होगा कि जिन रूपों की सृष्टि उसने अपने मन में की है उन्हें सामग्री में प्रक्षेपित करे। दोनों ही स्थितियों में गढ़ने का अर्थ है उस अतिरिक्त सामग्री को हटाना जो रूपों को आच्छादित किए है।

जब मैं गढ़ता हूँ तब हमेशा एक प्रकार का पारस्परिक संबंध होता है। मेरे और सामग्री के मध्य एक तरल और लययुक्त आदान-प्रदान होता है। यह आदान

प्रदान रुकता नहीं............बल्कि जब रुकता है तब कृति पूर्ण हो जाती है अथवा कम से कम उतनी दूर तक पहुँच जाती है जितनी दूर तक मैं उसे एक बार में पहुँचा सकता हूँ। माइकेलेंजेलो ने एक बार कहा था—शिल्पकृति कभी पूर्ण नहीं होती, आप तब रुक जाते हैं जब छेनी हथौड़ी मेज पर रख देते हैं। इन्हें आप तब तक नहीं रखते जबतक जिन संवेगों के कारण आपने आरंभ किया था वे चुक नहीं जाते। संवेग चुक जाने पर भी अगर अपना काम आप जारी रखते हैं तो आपकी कृति बारीकियों के अतिरेक में डूब जायगी।

जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कोई किस तरह अपनी शिल्पकृति को रूपायित करता है यह बिल्कुल व्यक्तिगत बात है........साधन और ढंग........।

कला के सभी पहलुओं में यही बात है। सच्चा कलाकार कोई विशेषज्ञ नहीं होता जो अभिव्यक्ति के एक ही ढंग से बंधा रहे। वह कभी कला को त्यागता नहीं, उसका संपूर्ण जीवन उससे ओतप्रोत रहता है। मुहब्बत की ही तरह यह भी एक आवेग है जो उस पर अधिकार जमा लेता है। चूँकि उसकी कला एकमात्र उसी पर निर्भर होती है, वह अहंवादी हो उठता है; और क्योंकि वह सर्जक होने का प्रयत्न करता है जो अपने आप में मानवता की आकांक्षाओं का प्रतीक है, उसे अपने आप को स्वीकार करना और कला में अपने को प्रतिष्ठित करना सीखना चाहिए। यह उसकी प्रौढ़ता का वास्तविक चिह्न है।

कोई भी कलाकार सिद्ध होकर पैदा नहीं होता। वह केवल कलाकार की आत्मा लेकर पैदा होता है। उसका विकास पिरामिड की भाँति होना चाहिए........विस्तृत आधार पर ठोस।

मैं अपने विद्यार्थियों को सीधे गढ़ने को प्रोत्साहित करता रहता हूँ क्योंकि इससे उन्हें वह शक्ति प्राप्त होती है जो इसके लिए आवश्यक अनुशासन से उत्पन्न होती है; क्योंकि इससे उन्हें चुनौती का उत्तर देने का संतोष प्राप्त होता है। चुनौती श्रीगणेश को ठोस बनाती है। पत्थर में आदमी खुद ढूंढता है...........।

मैं आजकल के उन शिल्पियों के मन की अशान्ति को पहचानता और समझता हूँ, जो मुझसे भिन्न मार्ग अपनाना चाहते हैं। मैं कला के किसी आन्दोलन या प्रवृत्ति का विरोध नहीं करता। वृक्ष की सभी डालें और टहनियां तने का ही विकास है। प्राय. कुछ काटछांट की जरूरत तो पड़ती है लेकिन समय पाकर कमजोर टहनियाँ सूखकर गिर पड़ती हैं।

कमजोर टहनियों में से एक है जिसे आदिम कला कहा जाता है। आज आदिम कला असंभाव्य है। प्रत्येक व्यक्ति सभ्य नागरिक हो चुका है और सभ्यता में इतना

डूब चुका है कि इस कला की आधारभूत अचेतन प्रवृत्तियों को पुनः नहीं पा सकता। नागरिक अनजानपन और अभिरुचिहीनता तो अप्रौढ़ता ही है........मूर्खता। प्रत्येक व्यक्ति की, उसकी वास्तविक उम्र से भिन्न, कला की उम्र होती है जो उसकी कल्पना के अनुसार रूपों को सृजित करने की समर्थता या असमर्थता पर निर्भर रहती है।

सामान्य जनता हमेशा ही उन रूपों के बजाय जिन्हें कला व्यक्त करना चाहती है, कारीगरी में ज्यादा दिलचस्पी लेती है। वृक्ष की एक और कमजोर डाल है वह शिल्पकृति जिसका निर्माण प्रभावों के प्रति इस दिलचस्पी के निमित्त होता है........ उलटफेर के लिए ही सतही उलटफेर, जान-बूझकर उत्पन्न की गई पूर्वयुगीनता और विनष्टता (पुरानी मूर्तियाँ बेचनेवालों का धोखा), और सामग्री का सामान्य दुरुपयोग। यह तो स्वभावतः ठीक है कि कलाकार को अपनी कारीगरी जाननी ही चाहिये............।

दूसरी ओर एक नया अंगविज्ञान है, जिसने उन मूल्यों की तलाश की है, जो स्वयं रूपों में निहित हैं। एक अधिक व्यापक विचार यह है कि प्रकृति की अनुकृति करने के बजाय यदि आप उसे संशोधित समायोजित करते हैं तो प्रकृति के अधिक निकट आ सकते हैं। सामग्री के प्रत्यक्ष उपयोग के प्रति अधिक अभिरुचि हो रही है और नितांत नवीन सामग्रियों की उपस्थिति अपने प्रयोग की नवीन तकनीकों की मांग कर रही है और फिर भी ऐसा लगता है कि हम मानों कोलाहल के युग में रह रहे हैं। कलाओं में इतनी भिन्नताएँ पहले कभी नहीं देखी गयीं। यह आधुनिक मनुष्य की ही अस्थिरता की ओर संकेत करती सी प्रतीत होती है।

संभवतः वैज्ञानिक विकासचक्र की गति हमारे युग के मनुष्यों के मन से स्थायित्व की भावना ही निकाले दे रही है, क्योंकि इस गतिशील युग में मनुष्य स्वयं अपना संतुलन कायम रखने का असफल संघर्ष कर रहा है। आज का आदमी भँवर में पड़े हुए बोतल के काग की तरह हो गया है। वह समझता है कि वह आगे बढ़ रहा है, जब कि वस्तुस्थिति यह है कि वह विस्मृति के चतुर्दिक चक्कर काट रहा है। धारा जितनी तीव्र होती जाती है, उतना ही वह केन्द्र के समीप पहुँचता जा रहा है। दिन प्रतिदिन उसका विलयन समीपतर आता जा रहा है।

सदा से ही कलाकार का उद्देश्य जीवन के विषय में अपने विश्वास और अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करना रहा है। वह मानव की सृजनात्मक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति कर मानवजाति को ऊपर उठाता रहा है। वह अपने स्वप्नों और निरीक्षणों, दोनों की अभिव्यक्ति करता रहा है। मैं यह नहीं कहता कि कलाकार आवश्यक रूप से प्रकृति का सतही अनुकरण मात्र करे, हालांकि वह प्रकृति के रूपों से

दूर जा ही नहीं सकता, क्योंकि यदि आप देखने की कोशिश करें तो सब उनमें मिल जायेंगे। कलाकार के रूप में मानव भी प्रकृति का ही एक टुकड़ा है, फिर भले ही उसकी कलाकृति कितनी ही दुरूह या पृथक् क्यों न प्रतीत हो।

वर्षों पहले कला के संबंध में मेरा भी रूढ़िवादी दृष्टिकोण था, किंतु समय के साथ-साथ मेरे विचार भी बदलते गये। मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि आज कला के नाम पर जो कुछ किया जा रहा है वह सबका सब भले ही प्रभावोत्पादक न हो, फिर भी वह अच्छे भविष्य का संकेत देता है। मैं समझता हूँ कि दीर्घकाल से जोती हुई, किंतु बिना बोई हुई जमीन पर यह भ्रूणीय आरंभ है। मैं शिल्पकला के भविष्य की पूरी और साफ तसवीर तो नहीं खींच सकता, लेकिन मैं साफ देख रहा हूँ कि शिल्पकला की सीमाएँ विस्तृत हो गयी हैं और इसमें नवीनता के कई रूप आ गये हैं। उनमें से हम किसे स्वीकार या अस्वीकार करें, यह हमारी समझ और कलाकार की प्रौढ़ता के ऊपर निर्भर है।

स्वयं अपने काम में मैं पहले से कहीं अधिक स्वतंत्रता का अनुभव करता हूँ और दिन प्रतिदिन यह स्वतंत्रता बढ़ती ही जाती है। मैं नहीं चाहता कि यह द्वार मेरे लिए अथवा किसी और के लिए भी बंद हो।

कला के लंबे इतिहास में मेरे लिए यह सबसे अधिक उत्तेजनापूर्ण युग है। सन् १९०० ई० से हम सभी ने अभूतपूर्व परिवर्तनों और बीजारोपणों का अनुभव किया है। शिल्पकला १९ वीं शताब्दी की गुलामी से मुक्त हो गयी है। पेंटोग्राफ, कंपास, प्वाइंटिंग मशीन और माडलों की रुखी अनुकृति, सबसे मुक्ति मिल गयी है। जंजीरें तोड़ दी गयी हैं और पर्दे फाड़ दिये गये हैं। ठोस विचारों पर आधारित नयी स्वतंत्रताएँ पुनरुज्जीवित हो उठी हैं। वह कला, जो एक दिन मरणोन्मुख थी, आज ताजी हवा में साँस ले रही है।

मेरा विश्वास है कि भविष्य में शिल्पात्मक अभिव्यक्ति के मुख्य आधार प्रस्तर और धातु ही होंगे और इनका उपयोग प्रत्यक्ष रूप से किया जायेगा। गढ़ने के लिए आवश्यक कलात्मक समन्वय के साथ उनका बढ़ता हुआ उपयोग स्थिरता की वह भावना वापस लाने में सहायता पहुँचा सकता है, जिसकी कामना हम इतने दिनों से करते आ रहे हैं।

मैं आशा करता हूँ कि युवा शिल्पी उन सेतुओं की रक्षा करेंगे, जो उन्हें प्राचीन काल के शिल्पियों से जोड़ती हैं, कि भविष्य में जो नया मार्ग वे बनायेंगे वह अपने मूलोद्गम से जुड़ा रहेगा। आदिम होने के लिए नहीं.........बल्कि सच्चा होने के लिए.........और इन युगातीत तत्वों के सहारे आधुनिक और सार्वभौम विचारों को प्रेषित करने के लिए।

●

वैज्ञानिक युग में स्थापत्य और आकल्पन

वाल्टर ग्रोपियस

जब मैं छोटा था तो मेरा परिवार नगर के एक ऐसे मकान मे रहता था जिसके प्रत्येक कमरे मे खुले हुए गैस (जेट) और पत्थरकोयले के चूल्हे थे। उस समय बिजली से चलने वाली ट्रामगाड़ियाँ नहीं थीं। मोटर, हवाईजहाज, रेडियो, फिल्म-ग्रामोफोन, एक्सरे, टेलीफोन किसी का पता नहीं था। उस समय का मानसिक परि-वेश कमोबेश स्थिर प्रकृति का था जो शाश्वत स्वप्नों की अभंजनीय सी लगने वाली धारणा के गिर्द चक्कर काटता रहता था। लोग अब भी कुछ पीढ़ियों पहले के उस समाज के सांस्कृतिकदाय के प्रति गम्भीरतापूर्वक सजग थे जो तब अखंडित था और उसमें कला और स्थापत्य, सभ्यता के मंथर विकास के साथ-साथ लोगों के दैनिक जीवन के अभिन्न और वैध अंग के रूप में बढ़ रहे थे।

वैज्ञानिक युग के आगमन और मशीनों के आविष्कार के साथ-साथ हमारे समाज का यह जमाजमाया रूप क्रमशः बिखरकर टुकड़े-टुकड़े होने लगा। उपकरणों ने आदमी को बौना कर दिया। औद्योगिक विकास की पिछली आधी शती में परिवर्तनों के जो दौर चले उन्होंने मानव-जीवन को उससे कहीं अधिक गहराई और अधिकता के साथ बदल दिया जितना ईसामसीह के जन्म से लेकर इतनी सारी शताब्दियाँ बदल सकी थीं। जैसे-जैसे वैज्ञानिक प्रगति की भारी चट्टान क्रूरतापूर्वक लुढ़कती गयी वैसे-वैसे उसने व्यक्ति को आश्चर्यविमूढ़ और उल्लासहीन बना दिया। व्यक्ति अपने को समायोजित कर सकने में असमर्थ महसूस करने लगा और उन परिवर्तनों के वात्याचक्र में खो सा गया। नैतिक नवोन्मेष द्वारा नेतृत्व करने का प्रयास करने की बजाय आधु-निक मानव ने एक प्रकार की 'गैलापपाल मनोवृत्ति' पैदा कर ली, गुण की बजाय परिणाम पर आश्रित होकर एक तरह की यांत्रिक धारणा बना ली, और नई आस्था के निर्माण की जगह वह अपने को किसी तरह फिट करने में लग गया।

विज्ञान के विशाल विकास ने हमारा संतुलन भग कर दिया है। जीवन की संगति—लय के लिए अपरिहार्य दूसरे तत्वों को विज्ञान ने अपनी छाया से महत्वहीन कर दिया है। इस संतुलन को फिर से स्थापित करना ही है। जिस चीज की आवश्यकता हमें बिल्कुल स्पष्ट रूप से है, वह सांस्कृतिक स्तर पर पुनर्नवीकरण है।

अपने आजकल के विश्वविद्यालयों में हमने 'कलाएँ और विज्ञान' नाम से बड़े-बड़े बिभाग बना डाले हैं। लेकिन जब हम उनके कार्यों का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं,

सब कुछ पर विज्ञान ने दखल जमा रखा है अर्थात् वहाँ सारी सूचनाएं हैं, सभी प्रकार की सुविधाएँ हैं और इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे व्यक्ति की आविष्कारशीलता विकसित हो सके। लेकिन कलाओं के बारे में क्या किया जाता है? कविता लिखने, संगीत रचने, चित्रसृष्टि और शिल्पनिर्माण की वास्तविक कला की जगह काव्य और संगीत रचनाओं के ऐतिहासिक अध्ययन, चित्रआदर्शन (एप्रिशियेशन) और नक्शों के रूप में बनने वाले स्थापत्य ने ले ली है। यह विज्ञान की शताब्दी है, कलाकार तो आज विस्मृत प्राणी है। एक ऐसा आदमी जिसका मजाक तक उड़ाया जाता है और जिसे समाज का अनावश्यक तथा विलासितापूर्ण सदस्य समझा जाता है। कला को एक ऐसी चीज समझा जाता है, जो शताब्दियों पूर्व ही पूर्ण रूप से निर्मित हो चुकी थी और अब तो म्यूजियमों में उन कृतियों का संग्रह किया जा रहा है, जहाँ से जरूरत पड़ने पर हम जितना चाहें निकाल सकें : चूँकि हमने यह मान रखा है कि हमारे आज के अतिभौतिकवादी युग के सभी प्रश्नों का उत्तर विज्ञान में ही निहित है, कला अभिशप्त होकर पड़ी सिसक रही है। सभ्य कहलाने वाला आज का कौन सा राष्ट्र ईमानदारी के साथ सर्जनात्मक कला को जीवन के आधारभूत अंग के रूप में बढ़ावा दे रहा है।

विघटन के मार्ग पर बढ़ते हुए इस समाज में विज्ञान और पारमाणविक प्रभाव के आधारभूत संतुलन के रूप में कलाओं को जीवन का आवश्यक अंग बनाने की जरूरत है। शिक्षण कार्यक्रम का अंग बनाये जाने पर, जिसकी शुरुआत 'बाउहाज' के रूप में हो चुकी है, कलायें संस्कृति के आधार के रूप में दृश्य रूप-विन्यास में एकात्मकता लायेंगी, जिसमें साधारण कुर्सी से लेकर उपासना मंदिर तक सभी वस्तुएँ सम्मिलित होंगी। हममें से प्रत्येक में कमोवेश मात्रा में कलात्मक गुण जन्म से ही रहते हैं, जिनमें संगति और गद्यात्मक संतुलन लाने की आवश्यकता है। यह आसान हो उठे, यदि हमारी शिक्षणसंस्थाएँ संतुलन की आवश्यकता पर पर्याप्त रूप से बल दें और शिशुकक्षाओं से लेकर शिक्षा के सभी स्तरों पर मस्तिष्क और हाथ के एक साथ प्रशिक्षण की आवश्यकता को पहचानें। यंत्रीकरण और शीघ्रता के इस युग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण शैक्षणिक समस्या सृजनात्मक आदतों को उद्‌बुद्ध करने की है, व्यावसायिक कौशल तो केवल अतिरिक्त उत्पादन के रूपों में होना चाहिये—रास्ते में मिल जाने वाले लाभ की तरह। विद्यार्थी का, विशेष रूप से क्षमताशील कलाकार या शिल्पी का मस्तिष्क तब और भी अधिक आविष्कारशील होता जायेगा, जब वह न केवल बौद्धिक बल्कि व्यावहारिक और ऐंद्रिक अनुभव से भी निर्देशित होगा, जब वह 'खोज', न कि 'अनुसंधान' के कार्यक्रम से संचालित होगा।

अपने समाज को जीवित रखने के लिए वैज्ञानिकों के तात्विक मूल्य को तो हमने अवश्य समझ लिया है, किंतु उस कलाकार के जीवनरक्षक महत्व को हम जरा भी नहीं पहचान पाये हैं, जिसे हम चाहें तो सृजनशील सज्जाकार या शिल्पी कह सकते हैं और जो हमारे उत्पादनों के दृश्यविन्यासों का नियंत्रण करता है। आज जैसी स्थिति है, उसके अनुसार हम वेठनवाली सभ्यता के संक्रामक रोग से ग्रसित हो गये हैं और हमारी सौंदर्यभावना इतनी दबघुट और रुचिहीन हो गयी है कि औद्योगिक उत्पादन या किसी मानव में से स्वयं उगने वाले सृजनात्मक रूप से परिकल्पित रूप-विन्यास की जगह हम अनुकरणमूलक अंगराग की सजावट को स्वीकार करने लगे हैं। यदि हम तेजी से भागनेवाली अपनी सभ्यता के साथ रहना चाहते हैं तो उद्योगों को उच्चतर गुणों के तात्विक मूल्यों का उपयोग अंगीभूत परिकल्पन द्वारा करना होगा और यह तब होगा, जब मशीनों का नियंत्रण केवल वैज्ञानिकों और इंजीनियरों तक ही सीमित न रहकर कलाकारों के भी हाथ में आयेगा, जो उनके वास्तविक सच्चे भाई हैं।

लेकिन बहुत से भ्रमों को दूर करना होगा। कलाओं और विज्ञानों के बीच आज उसी प्रकार परस्पर विरोध का भाव आभासित होता है जिस प्रकार विभिन्न राजनीतिक वादों के बीच विशाल राजनीतिक युद्ध, जिसके सहभागी हम सब भी हैं। आज का मानव अधिकारों पर केंद्रित हैं। मानव अधिकार.........व्यक्ति का सम्मान......... व्यक्ति, जिसे प्रकृति ने वैयक्तिक विलक्षणता दी है, पूर्ण समानता का मानवीकृत उत्पादन नहीं है। एक ओर तो असंस्कृत व्यक्तिवाद और दूसरी ओर बलपूर्वक किया गया फौजी समूहीकरण—इन दोनों के बीच आज एक उत्कृष्ट प्रकार के जनतंत्र का विकास हो रहा है। स्वेच्छापूर्ण समझौतों की एक प्रणाली, संतुलन और जांच से व्यक्ति के प्रत्ययों का विस्तार करते हैं और उसे 'यह या वह' की जगह 'यह और वह' कहना सिखाते हैं।

जब हम इस जगत के उत्पादनों की विशिष्टता का विश्लेषण करते हैं तो व्यक्ति-मन बनाम समूहमन के संघर्ष में इसी प्रकार के विरोधी तत्वों को क्रियाशील पाते हैं। मशीनों द्वारा यंत्रीकृत विशाल उत्पादन की वैज्ञानिक प्रक्रिया के विपरीत कलाकार के काम में जीवन की सामान्य कार्यप्रणाली का प्रतीकीकरण करने वाले रूपों की पूर्वग्रहरहित खोज रहती है। इसके लिए कलाकार को हमारी संपूर्ण जीवन-प्रक्रिया के बारे में आत्मनिर्भर और अदमित दृष्टि रखनी पड़ती है। सच्चे जनतंत्र के लिए कलाकार का काम सबसे अधिक आवश्यक है, क्योंकि पूर्णमानव का प्रारूप वही है। उसकी सहजानुभूति अतियंत्रीकरण का प्रतिवेधक है। यदि यंत्रीकरण अपने आप में उद्दिष्ट होता तो यह तीव्र संकट का कारण होता जिससे जीवन की पूर्णता

और विविधता समाप्त हो जाती और मनुष्य बौना होकर यंत्रमानव की भांति स्वयं-संचालित यंत्रमात्र बनकर रह जाता। किंतु अन्तिम रूप से यंत्रीकरण का केवल एक ही रूप हो सकता है, व्यक्ति के शारीरिक श्रम को कम करना जिससे और ऊँचे किस्म की क्रियाओं के लिए हाथ और मस्तिष्क मुक्त हो सके। हमारी समस्या कलाकार, वैज्ञानिक और व्यवसायी के बीच सही संतुलन और सहसंबंध स्थापित करने की है। क्योंकि ये मिलकर ही मानवमूल्यों से युक्त मानक-उत्पादनों का सृजन कर सकते हैं और हमारे भौतिक परिवेश की संगतिमय इकाई का रूप दे सकते हैं।

इतिहास के सभी महान युगों में मानक-रूपों का अस्तित्व ही सभ्य और सुसंघटित समाज की कसौटी रहा है। बहुत दुष्प्रयुक्त शब्द 'मानक' का वास्तविक अर्थ प्रकार-रूपों को सचेतन रूप से ग्रहण करना है। सामान्य उपयोग की वे सरलीकृत व्यावहारिक चीजें जिनमें उनके पूर्वरूपों के सर्वोत्तम का समंजन होता है—ऐसा समंजन जिसके पहले आकस्मिक, अविवेकपूर्ण, विकासहीन तथा अनावश्यक तत्वों का निराकरण हो चुका रहता है—मानक कहलाती हैं। सच्चा मानक-उत्पादन एक ऐसी लम्बी प्रक्रिया का फल है जिसमें बहुत से व्यक्तियों तथा प्रदानित यंत्रीकरण के सर्वोत्तम और सर्वाधिक मितव्ययितापूर्ण तकनीकी साधनों के साथ सर्वाधिक कौशल-कारीगरी का सम्मिश्रण है।

किंतु केवल मशीनों से दुहराये जातेरहने पर अपने आप मानक का सृजन निश्चय ही नहीं हो सकता। मशीन की यांत्रिकप्रक्रिया कलाकार की सृजनात्मक क्रियाओं द्वारा निरंतर सजीव की जाती रहनी चाहिए। तब संस्कृति के विकास में मानकीकरण बाधक नहीं बनेगा बल्कि इसके विपरीत वह इसकी एक निकटस्थ पूर्वआवश्यकता हो उठेगा। क्योंकि बौद्धिकीकरण जिसे बहुत से लोग आधुनिक सजावट का आधारभूत सिद्धान्त मानते हैं, वास्तव में केवल इसका शुद्धिकारक तत्व है। मानव-मनोभूमि की संतुष्टि भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति। और जब तक इसे ध्यान में रखा जाता है, यह भय कि मानकीकरण की निरंकुश निर्दयता द्वारा व्यक्तित्व कुचल दिया जायगा, अर्थहीन रहेगा।

इन समस्याओं के प्रतिरूप में एक प्रकार के परिवर्तन की शुरूआत पहले ही हो चुकी है, लेकिन तब भी एक ओर तो उत्पादक और उद्योगपति तथा दूसरी ओर सज्जाकार और कलाकार के बीच अब भी गहरी खाई बनी है। सज्जाकार या स्थपति अक्सर उद्योगीकरण के संघात और उसके आर्थिक तकनीकी अर्थों को समझ नहीं पाते। उद्योगपति अक्सर यह सोचकर उतावले हो उठते हैं कि रातभर में ही कोई ऐसी डिजाइन बना देना संभव है जो उसके उत्पादन को इतना चमका देगा कि वह तुरंत सर्वाधिक बिक्रीवाला मानक-उत्पादन बन जायगा। अब भी यह विचार अक्सर

उसके मन में बना रहता है कि डिजाइन या सजावट कोई ऊपर से थोपने की चीज है। वह यह नहीं समझ पाता कि यह एक ऐसी सहजात विशिष्टता है जो तभी उपलब्ध हो सकती है जब उत्पादनकार्य में लगे सभी व्यक्ति घनिष्ठ सहयोग के साथ प्रयत्न और भूल की श्रमसाध्य प्रक्रिया से गुजरें। इस बात के प्रभूत प्रमाण हैं कि किसी औद्योगिक उत्पादन की सांस्कृतिक-तकनीकी और आर्थिक क्षेत्रों में एक साथ सफलता पूर्णरूप से इस बात पर निर्भर है कि परिकल्पक (डिजाइनर), वैज्ञानिक; इंजीनियर, बाजारविश्लेषक, और विक्रेता ने संतुलित दल के रूप में कैसा कार्य किया है।

यदि सच्चे सहयोगी कार्य का उद्देश्य किसी उत्पादन के निर्माण में लगे सभी तत्वों के घनिष्ठतम समन्वय द्वारा जहाँ तक हो सके, सर्वोत्तम सेवा करना है तो अंतिम परिणाम के लिए दल में सभी सदस्यों के व्यावसायिक कार्य का महत्व बराबर है। परिणामस्वरूप प्रत्येक सदस्य का पद बराबरी का होना चाहिये, जिससे समूहगत कार्य में वह विशिष्ट तकनीक क्रियाशील हो सके, जिसका अर्थ होगा 'सहकार्य, न कि निर्देशन।' अंतःप्रेरणा के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता, न कि अधिकार का शासन। हरबर्ट रीड ने इसी प्रकार की रूपरेखा दी है। इस पद्धति का यह मतलब नहीं है कि अपने बराबरी के लोगोंमें से प्रथम के रूप में दल स्वयं अपना ऐसा कप्तान न चुन सके, जिसका कार्य होगा समन्वय की प्रक्रिया का नियंत्रण करना और उसका कार्यक्रम बनाना। मेरा विश्वास है, इस प्रकार के दलगत कार्य के और भी विकसित होने पर कलाकार-स्थपति सामुदायिक जीवन में फिर लौट आयेगा। यह भविष्य की स्थापत्यकला के लिए निर्णायक कदम होगा।

यदि हम अतीत के महान युगों की भवननिर्माण-पद्धतियों से तुलना करें तो आज जिस प्रकार परिकल्पन (डिजाइन) और निर्माणप्रक्रिया को बिलकुल अलगा दिया गया है, वह बिलकुल कृत्रिम और दुर्भाग्यपूर्ण मालूम होगा। उत्पादन के साधनों और तरीकों में हुए परिवर्तनों और भवनों के औद्योगीकरण के विस्तार ने बिलकुल नयी समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। भावी स्थपति इन समस्याओं का हल तभी कर सकता है, जब वह भवननिर्माण के दल में इंजीनियर, विज्ञानवेत्ता, ठेकेदार सभी को सम्मिलित करे। औद्योगीकरण भवननिर्माण के द्वार पर ही नहीं रुक गया, चूँकि भवननिर्माण कहीं बहुत अधिक जटिल कार्य है अतः उत्पादन के दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा इसमें औद्योगीकरण में बहुत देर लगती है।

विशिष्ट वर्ग के स्थपति की पुरानी धारणा जिसके अनुसार वह केवल धनी लोगों का ही कार्य करता था और उनका सज्जनसंरक्षक होता था, आज बहुत

सीमित रूप में ही व्यवहार्य है। कला की स्वयं उत्पादन प्रक्रिया का अनिवार्य अंग जबतक स्थपति अपने को नहीं बना लेता, तबतक उसका प्रभाव बिखरता ही रहेगा।

जनतांत्रिक धारणाएँ हमारे निरंतर बढ़ते हुए यांत्रिकीकरण तथा अतिसंघटन के आघातों को आसानी से तबतक नहीं सह सकतीं, जबतक कोई नयी दृष्टि, कोई नई कार्यपद्धति न पा ली जाय, जो समूहमानस द्वारा सबको बराबर करने वाले प्रभाव के विरुद्ध संघर्षों में व्यक्ति की रक्षा कर सके। समूह या दल में सहयोग करना और तब भी अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को खो जाने से बचाये रखना—नयी पीढ़ी के सामने यही सबसे अधिक आवश्यक और तुरत हल की मांग करने वाली समस्या है—न केवल स्थापत्य और परिकल्पन के क्षेत्र में, बल्कि समन्वययुक्त समाजरचना के हमारे सारे प्रयासों में भी।

चूंकि सफल जनतंत्र सहयोग करने की हमारी योग्यता की चूल पर ही टिका हुआ है, इसलिए अपने व्यवसाय से ही समन्वयी होने के कारण स्थपति को दलों के अंदर सहकार-सहयोग की नयी तकनीकों के विकास में मार्गदर्शन करना चाहिये। ऐसी तकनीकों का मूलतत्व होना चाहिये मालिक के अधिकारपूर्ण निर्देश के बदले स्वेच्छा से क्रियाशील होने की व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल देना। अपने सदस्यों के व्यक्तिगत प्रयासों को सतत आदान-प्रदान द्वारा सहकारयुक्त और सुश्रृंखलित करके दल अपने समन्वित कार्य के स्तर को महज बहुत से व्यक्तियों के कार्यों के जोड़ों की अपेक्षा कहीं बहुत ऊँचे उठा सकता है। मालिक-नौकर के सबंध की अपेक्षा इसमें अधिक लचीलापन, उभयगामिता होती है और इसमें तीव्रगामी परिवर्तनों के साथ समायोजन की शक्ति भी अधिक होती है। इस प्रकार यह अधिक कार्यक्षमताशील भी होता है। इस प्रणाली से दल के स्वेच्छया सामूहिक प्रयासों में व्यक्ति का महत्व और ऊपर उठता है।

इस प्रकार के पारस्परिक आदान-प्रदानों से स्थापत्य और परिकल्पन की सामान्य भाषा और इसकी व्यक्तिगत विभिन्नताएँ फिर से निर्मित होंगी, मानवता से युक्त एक ऐसा मानव विकसित होगा जो हमारे संपूर्ण समुदाय के उपयुक्त होगा। साथ ही अपने संशोधनों द्वारा यह व्यक्तियों की विभिन्न आकांक्षाओं को भी संतुष्ट कर सकेगा। यह एक ऐसी उपलब्धि होगी, पुराने समय में जिसका उदाहरण न्यू इंग्लैंड नगर की निर्वैयक्तिक संगति तथा सावयव विकास और इटली के किसी गाँव द्वारा मिलता है। संक्षेप में, स्थपतियों की आनेवाली पीढ़ी की प्रेरणा उन्हें सामान्य अभि-व्यक्ति की दिशा में ले जायगी न कि दर्पपूर्ण व्यक्तिवाद की ओर।

इसकी सफलता की कुंजी होगी—मानवीय तत्वों को प्रभावशील उपकरण के रूप में विकसित होने देने का निश्चय। जीवशास्त्रीय सिद्धांतों का मुख्य महत्व रहना ही

चाहिए। सभी परिकल्पन और रूपसज्जा का केन्द्र मानव ही होना चाहिए, तभी यह सच्चे रूप में प्रयोजनों की सिद्धि करने वाली होगी।

आधुनिक स्थापत्य तथा परिकल्पन के सच्चे उदाहरणों द्वारा सौंदर्यशास्त्र का एक नया रूप पहले से ही विकसित हो रहा है जिसके अनुसार नये स्थापत्य-सौंदर्य की परिभाषा पदार्थ और भावना के ऐसे सृजनात्मक सम्मिलन का परिणाम है जिसमें हमारी वैज्ञानिक उपलब्धियों और नए मानव की हमारी जानकारी, दोनों का समावेश है।

स्थापत्य पुनः हमारे जीवन का अनिवार्य अंग बन रहा है। जड़ स्थिर नहीं, गतिशील वस्तु के रूप में। यह कला अपनी जिंदगी जीती है, बदलती है और समझ में आने वाले रूपों द्वारा समझ से परे की चीजों की अभिव्यक्ति करती है। यह निश्चेष्ट पदार्थों को मनुष्य से जोड़कर उनमें जीवन का संचार करती है। इस प्रकार सोचने पर इसका सृजन प्रेम करने की क्रिया है।

आधुनिक नाटक का अन्वेषण

कुँवरजी अग्रवाल

नाटकलेखक, चिंतक-समीक्षक, प्रबुद्ध नाट्यकर्मी सभी के लिए इस दशक की हिन्दी में एक अति महत्त्वपूर्ण पुस्तक। नाट्य-संबंधी आधुनिक विचारों का एक जीवंत लघुकोश। इसमें क्रेग, स्तानिस्लाव्स्की, ब्रेक्ट, ग्रोटोवस्की और बार्बा जैसे पश्चिमी नाट्य के महान् उन्नायकों के विचार संकलित हैं, तो टी० एस० इलियट, आयोनेस्की, सार्त्र, ड्यूरेनमाह, मिलर जैसे महान् आधुनिक नाटककारों की सर्जन-प्रक्रिया का आत्मविश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। रंगमंच-माध्यम के अनुकूल नाटक-लेखन की सर्जनात्मक दिशाएँ तलाशने के संकेत हैं, तो अभिनय और दृश्य-निर्माण के आधुनिकीकरण जैसी समस्यायों का गंभीर विश्लेषण भी। हिन्दी की जड़ीभूत नाट्य-समीक्षा को झकझोरकर जगाने की संभावना से परिपूर्ण।

यह पुस्तक जितनी नई सूचनाएँ देती है उससे कहीं अधिक अपने पाठकों को स्वयं मौलिक चिंतन और सर्जनात्मक कार्य की प्रेरणा देती है।

इस कृति के लेखक साहित्य और कला के गंभीर अध्येता कुँवरजी अग्रवाल का मुख्य कार्यक्षेत्र नाट्य है। वे हिन्दी के अंगुलियों पर गिने जा सकने वाले ऐसे नाट्यविदों में हैं जो नाट्यचिंतन सिर्फ किताबों के सहारे नहीं बल्कि स्वयं निरंतर नाट्यसर्जना और दूसरों की नाट्य-प्रस्तुतियों के सक्रिय आस्वादन-विश्लेषण द्वारा करते हैं।

उनकी कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ ये हैं:

१. रंगमंच : एक माध्यम

२. काशी का रंगपरिवेश

३. आधुनिक नाट्य और नाटक

४. नाट्य युग

मूल्य : रु० ६०